संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १५

आचार्य गुणभद्रस्वामी विरचित

जिनदत्त-चरित्रम्

अनुवादक एवं सम्पादक

मुनि मार्दवसागर

ब्र० डॉ० राजेन्द्र जैन

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

जिनदत्त-चरित्रम्

कृतिकार	:	आचार्य गुणभद्रस्वामी
अनुवाद एवं सम्पादक	:	मुनि मार्दवसागर एवं ब्र० डॉ० राजेन्द्र जैन
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति	:	२५४३) ११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

अन्तर्मन्थन

दिगम्बर जैनों में साहित्य की कमी नहीं है किन्तु उसका प्रचार प्रसार नहीं है। दिगम्बर जैन आचार्यों/मुनियों/भट्टारकों/विद्वानों/ब्रह्मचारियों/महाकवियों ने सरस, सगुण, सलक्षण व सरीति महाकाव्यों का सृजन किया है। वरांगचरित, गद्यचिन्तामणि, चन्द्रप्रभ चरित्र, पुरुदेवचम्पू, धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलक चम्पू, महापुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डव पुराण मुख्य हैं, इनका अनुवाद-संपादन हो चुका है।

हितेन सहितः सः सहितः तस्य सहितस्य भावः साहित्यं भावे-यण् अर्थात् जिसमें हित निहित हो वह सहित है, सहित का भाव साहित्य है।

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिव माँहिं न तातैं, शिव मग लाग्यो चहिए॥

– छहढाला पं. दौलतराम

अन्धकारमय क्षेत्र, जहाँ आदित्य नहीं है।
अन्धा है वह राष्ट्र, जहाँ साहित्य नहीं है॥

जैन साहित्य में पुराण न्याय, नीति, दर्शन, चरित्र/काव्य, गणित, ज्योतिष, वास्तु-विज्ञान, भूगोल, खगोल, इतिहास आदि की सत्यता है। अन्य साहित्य में जो अहिंसादि गुण ढूँढे-ढूँढे मिलते हैं, वे यहाँ पद-पद में प्रचुर मात्रा में स्वतः दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे कि समन्तभद्राचार्य महाराज ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है–

बहुगुणसम्पदसकलं, परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम्।
नयभक्त्यवतंसकलं, तव देव! मतं समन्तभद्रं सकलम्॥१४३॥

अर्थ–हे वीर जिनदेव! अन्य एकान्तवादियों का शासन, कर्णप्रिय वचनों के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी अत्यधिक गुणरूप सम्पत्ति से विकल/रहित है परन्तु आपका शासन नैगमादि नयों से उत्पन्न स्याद् अस्ति आदि सप्तभङ्गरूप आभूषणों से मनोज्ञ है अथवा निश्चयनय आदि नयों की उपासनारूप कर्णाभरणों/ आभूषणों को देने वाला है, सब ओर से कल्याणकारक है और पूर्ण है।

यह प्रस्तुत जिनदत्त चरित्र आहारदान के महत्त्व को दर्शाता है। श्री श्रेष्ठि शिरोमणि जिनदत्त इस महाकाव्य के मूल चरित्र नायक हैं, जो वैश्यवर्ण कुलावतंस जैनधर्म के अनन्य श्रद्धालु होने से चारों वर्णों में उत्तम थे, अतः इनकी तीन शादियाँ क्षत्रिय वर्ण की कन्याओं से हुई। प्रथम विवाह वैश्य कुलोत्पन्न विमलमति कन्या से हुआ। इनमें मनुष्य के सभी गुण समाहित देखे जा सकते हैं। बाल्यकाल में शस्त्र-अस्त्र विद्या में निपुणता, धार्मिक-शास्त्रों का गहन ज्ञान विद्यार्थी काल के औचित्य को दर्शाता है। युवतियों के प्रति, आकर्षण व वासना का अभाव, ब्रह्मचर्य आश्रम की पवित्रता का प्रतीक है। परिवार के सदस्यों द्वारा उनको विषय वासना में फँसाने का प्रयास, संसार

की पद्धति को विज्ञापित करता है।

नित्यमंडित जिनालय के द्वार पर स्थित पुतलिया/चित्र को देखकर, जब जिनदत्त का मन कामासक्त हो जाता है, तब योग्य निमित्त के द्वारा वेदकर्म की उदीर्णा की स्थिति मालूम होती है। विवाह के पश्चात् शिर दर्द होने पर कुसंगति के कारण, जुआ व्यसन में पड़कर संपत्ति का नाश करना, यह पाप की स्थिति को बतलाता है। फिर पुण्योदय होने पर जुआ की आदत छूट जाने से गृहस्थाश्रम की उत्कृष्टता में धन कमाने के लिए विदेश यात्रा, जिन मंदिरों का निर्माण, दीन-अनाथों की सेवा, समुद्र में गिराने पर भी साहस, धैर्य से काम लेना, सिंहलद्वीप में वृद्धा का दुख दूर करते हुए, अपनी वीरता-धीरता-निडरता से राजकुमारी श्रीमती की व्याधि को दूर करना तथा अन्यमतावलम्बी से उस राजपुत्री को विवाहकर सम्यक्त्व व १२ व्रत-रूप श्रावकाचार का निरूपण कर, इन सबको ग्रहण करने की बात कहना एवं फिर मुनिमहाराज से विशेष उपदेश की प्रार्थना कर नियम दिलवाऊँगा, इनके परोपकार, गुरुभक्ति, धर्मपरायणता आदि गुणों में चार चांद लगाते हैं। परिवर्तित नाम गन्धर्वदत्त वामन (बौना) रूपधारी जिनदत्त, विनोद प्रियता के साक्षात रूप हैं, अपनी पत्नियों को हँसाने-बुलवाने से सबको आश्चर्य उत्पन्न करते हैं, हाथी के मदोन्मत्त होने पर किसी के वश में नहीं होने पर राजाज्ञा से क्षण मात्र में गज को कला कौशल से जीतकर विवशकर देते हैं, शर्त के अनुसार राजा राजपुत्री की शादी कर देता है।

परिवार के प्रेम से प्रेरित हो वह अपने घर जाकर वैभव के साथ, एक सद्गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है। वहाँ बसन्तपुर का चन्द्रशेखर राजा उनका सम्मान करता है। यह बागबगीचों, बावड़ियों, वन-उपवनों से शोभित जिनमंदिर बनवाता है, इससे इनकी जिनभक्ति स्पष्ट झलकती है, और जिससे इनका धर्म पुरुषार्थ परिपुष्ट होता है। अर्थपुरुषार्थ की वजह से ३ राजाओं के जमाई होकर राजाओं द्वारा सम्मानित अपरिमित वैभवशाली जिनदत्त, आजकल के धनाढ्य युवकों के समान निरन्तर इंद्रिय-विषयों के लोलुपी व भोगी नहीं थे अपितु योगियों के सम्पर्क से योगाभिमुखी थे। अतः इनका प्रभाव सभी परिजनों पर था। धन का उपयोग धर्म व लोकोपकार में करते थे।

कामपुरुषार्थ के फलस्वरूप चार रानियों के नौ पुत्र व तीन पुत्रियां थीं, जो गृहस्थाश्रम की सफलता को प्रकट करती थीं। ऋषि, मुनि, यति, अनगार रूप चतुर्विध संघ सहित चार ज्ञान के धारी समाधिगुप्त मुनिराज को, सेवकों द्वारा जब अपने श्रृंगार तिलक महोद्यान में आया हुआ सुनते हैं, तो आचार्य महाकवि गुणभद्रजी काव्य छटा बिखेरते हुए चरित्रनायक की मुनिभक्ति प्रदर्शित करते हैं, जब वह अशोक तरुस्थ योगिराज से अपने पूर्वभव पूछता है, तब मुनिराज प्रयोजनभूत इस भव से पूर्व के एक भव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे भव्य! इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अवन्तिदेश में उज्जयिनी (उज्जैनी) नगरी थी, उस नगरी के एक छत्राधिपति विक्रमधर्म नामक राजा विराजमान थे, जिनकी पद्मश्रीनामा पट्टरानी थी। वहीं धनदेव व यशोमती सेठ सेठानी रहते थे। तुम इनके शिवदेव नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। पूर्व घोर पाप के उदय से सब सम्पत्ति का नाश हो गया। बिजली गिरने से पिता की मौत होने पर माता करुणक्रन्दन करते हुए आर्त, रौद्रध्यान में लीन हो गई।

कालान्तर में पुत्र को पालती हुई रहने लगी, युवा होने पर किसी वैश्य कन्या से विवाह कर दिया। तुम व्यापार करने जाते समय, पीपल वृक्ष तले विराजे मुनि द्वारा प्रभावित हुए। तुमने उनकी पारणा की भावना भाई। योग समाप्त होने पर तुम्हारे घर उन मुनिराज का आहार हुआ। तुम्हारे घर जो चार कन्याएं आहार देने आई, उनका हलुआ तुमने आहार में यतिराज को दिया था, जिससे वे चारों ही तुमसे बड़ी प्रभावित हुईं तथा प्रतिदिन पात्रदान की भावना करने लगीं। सूक्ष्म/भद्र मिथ्यात्व अवस्था होने पर भी भारी पुण्य का समार्जन कर, एक विमल सेठ की व तीन राजाओं की पुत्रियाँ होकर ये तुम्हारी चारों पत्नियाँ हुई हैं।

इस प्रकार पूर्वभव के दुखद व सुखद वृतान्त को सुनकर वह जिनदत्त वैरागी हो गया। वे ऋषिराज से मुनिदीक्षा की याचना करते हैं। संघाधिपति श्रामण्य-धर्म की कठिनता जाहिर करते हुए श्रावकत्व में स्थिर रहने को कहते हैं, जिनदत्त की दृढ़ता को देखकर अन्ततः जैनेश्वरी/भगवती दीक्षा प्रदान करने की अनुमति दे देते हैं। दीक्षा के पहले जिनदत्त अपने पुत्रों को ऋषभादि क्षत्रिय राजाओं के आध्यात्मिक धर्म का उपदेश देते हैं, बड़ा पुत्र पिता व परिवार के लोगों के समझाने पर मुश्किल से पिता का राज्य पद स्वीकार करता है, फिर जिनदत्त अपने कुटुम्बियों से पूछकर, क्षमा मांगकर व क्षमा करके, अपने वैरागी मित्रों के साथ परमेश्वरी/जैनीदीक्षा स्वीकार करते हैं। वे अपने गुरु के पास अंग पूर्वों का अध्ययन करते हैं। जिनदत्त मुनिराज घोर तप करते हुए समाधिमरण प्राप्तकर, शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर से आठव५ाा स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए, चारों पत्नियाँ भी जिनदत्त की अनुगामिनी हो महान् आर्यिका व्रत देशव्रत/ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण कर लेती हैं और तपस्या करते हुए आठवाँ स्वर्ग में देव हुईं। वे सभी, स्वर्ग में एक दूसरों का समाचार जानकर जिनधर्म से प्रभावित हो वहाँ भी धर्म करने में दत्तचित्त हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ महाकवि गुणभद्राचार्यदेव ने जिनदत्त को आधार बनाकर मोक्ष पुरुषार्थ की साधना रूप वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम का काव्य शैली में वर्णन किया। पूरे नवसर्गात्मक महाकाव्य में चार पुरुषार्थ, चार आश्रम, चार आराधना और चारों वर्णों का आंशिक व पूर्ण वर्णन किया गया है, जो सुनते, पढ़ते ही बनता है। यह कथा वैश्यों के लिए आदर्शमयी है, कथा नायक वैश्य होकर भी जैन-ब्राह्मणरूप क्रियाशीलता व क्षत्रियोचित शूरवीरता के भंडार थे। आचार्य गुणभद्र के महाकवि होने से उनका यह काव्य महाकाव्य के गुणों से सहित है। महाकवि व महाकाव्य का लक्षण-

सुश्लिष्ट-पद-विन्यासं, प्रबन्धं रचयन्ति ये ।
श्रव्य-बन्धं प्रसन्नार्थं, ते महाकवयो मताः॥

अर्थात् जो श्लेषालंकार से युक्त पद विन्यास वाले श्रव्य बन्धयुक्त प्रसन्न/प्रसाद अर्थ वाले प्रबन्ध रूप महाकाव्य को रचते हैं, वे महाकवि हैं। जिनदत्तचरित्र में श्लेषालंकार युक्त उत्प्रेक्षामय पद विन्यास नदी व वेश्याओं की समानता बताते हुआ-अङ्गदेश के वर्णन में सर्ग १ पद्य ८, वहीं पद्य नं. १७ में खाई की विशालता को कहते हुए कवि क्या कल्पना करता कि समुद्र खाई के बहाने

से चोर के समान मानो वहां के रत्न हरने की इच्छा से आया हो, रत्नाकर बनने की चाह लिए हुए दूसरे सर्ग-गत पद्य नं० १२७ में सूर्योदय के समय रसों का परिपाक, शंकितालंकार, भाव संयोजना की दृष्टि से महाकवि व उसका महाकाव्य सफल है।

प्रस्तुत महाकाव्य का कथानक शृंखलाबद्ध एवं सुगठित है, क्रम नियोजन पूर्णतया पाया जाता है। कथावस्तु की पंखुड़ियाँ सहज में खुलती हुईं, अपना पराग व सौरभ विकीर्ण कर मुग्ध करती हैं। काव्य के प्रवाह को स्थिर, प्रभावोत्पादक एवं मनोरंजक बनाये रखने के लिए जिनदत्त के पूर्व भवों के वर्णन के अन्तर्गत मासोपवासी मुनिराज के लिए आहारदान का वर्णन विशेष है, प्रसंगानुसार सुभाषितों का प्रयोग अर्थ गौरव के साथ कथा में रोचकता की अभिवृद्धि करता है। इस महाकाव्य के प्रारम्भ में अर्हन्त, सिद्ध परमात्मा, सरस्वती, आगम व आचार्यादि गुरुओं को नमस्कार किया गया है। अतः कवि की देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अकाट्य भक्ति प्रदर्शित होकर नास्तिकता का परिहार होता है। महाकवि ने नगर, वनोद्यान, नदी, समुद्र, प्रातःकाल, संध्याकाल, जन्म, विवाह, विद्याधरों के साथ वीररसपूर्ण वचन, युद्ध, सामाजिक-धार्मिक उत्सव, वियोगज शृंगार, हास्य, करुण, भयानक रस, शान्तरस, हावभाव विलास वियोजन एवं सम्पत्ति-विपत्ति में व्यक्तियों के सुखों व दुःखों के उतार चढ़ाव का कलात्मक वर्णन किया गया है। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, पशु-पक्षियों का रोचक वर्णन है। पति-पत्नी वियोग व सम्मिलन का कथन बेजोड़ है। वनस्पति, बाग-बगीचा के विकास में कथा-नायक की रुचि पर्यावरण संरक्षण के प्रति दर्शायी गई है।

काव्य का विवेचन—प्रबन्धकाव्य दो रूपों में पाया जाता हैं—१. महाकाव्य २. कथाकाव्य। महाकाव्य में जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण होता है और सर्गबद्ध आकार में बृहद् होता है। दिगम्बराचार्य जिनसेन के अनुसार महाकाव्य वह है, जो इतिहास व पुराण प्रतिपादित चरित्र का रसात्मक चित्रण करता हो तथा धर्म, अर्थ व काम के फल को प्रदर्शित करता हो। आदिपुराण-१ १००।१९९। पं० रा० जगन्नाथ के पूर्व ही आदिपुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने काव्य की व्युत्पत्ति व परिभाषा की है—

कवेर्भावोऽथवा कर्म, काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थ-मग्राम्यं, सालङ्कार(गुणा)मनाकुलम्॥ —१.९४,९५,९६

कवि के भाव अथवा कर्म को काव्य कहते हैं, वह सर्वसम्मत अर्थ से सहित ग्राम्य दोष से दूर अलंकारों से अलंकृत, प्रासाद आदि गुणों से सुशोभित अर्थात् शब्द व अर्थ का योग्यरूप जो दोष रहित गुण सहित अलंकारों से रमणीय हो, वह काव्य है।

कथाकाव्य में—१. सकलकथा, २. खण्डकथा; ये दो मुख्य भेद हैं। सकलकथा काव्य में महाकाव्य की तरह जीवन के पूर्ण भाग का चित्रण होता है, इसका कथानक विस्तृत होता है और इसमें अवान्तर कथाओं की योजना भी होती है परन्तु महाकाव्यीय बन्धनों, सर्ग-बद्धता, छन्द-प्रयोग, भाषा-गुरुत्व आदि के अभाव में यह महाकाव्य से भिन्न विधा है। जैनों के अधिकांश चरित-काव्य इसी विधा के अन्तर्गत आते हैं, जैसे—समरादित्य चरित—प्रद्युम्नसूरिकृत आदि।

छन्दोबद्ध पद्यकाव्य रचना प्रबन्ध व मुक्तक के रूप में दो प्रकार की होती हैं–आचार्य जिनसेन के अनुसार ''पूर्वापरार्थ-घटनैः प्रबन्धः'' अर्थात् पूर्व व अपर सम्बन्ध निर्वाहपूर्वक कथात्मक रचना प्रबन्धकाव्य है। मुक्तकाव्य के पद्य स्वतः स्वतन्त्र व पूर्ण होते हैं, सुभाषित स्फुट कविताएँ, स्तोत्र इसके अन्तर्गत अभिप्रेत हैं।

खण्ड कथाकाव्य में जीवन के पक्ष का चित्रण होता है अथवा एक ही घटना को महत्त्व दिया जाता है। इसमें प्रायः अवान्तर कथाओं की संयोजना भी नहीं होती जैसे–जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय, कालीदास का मेघदूत आदि खण्ड काव्य हैं। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पृ० नं० २४, २५ महाकाव्य छन्दोबद्ध, सर्गान्त में अन्य छन्द का प्रयोग भी श्रीलक्ष्मी आदि शब्दों के साथ विशेष आकर्षक होता है। महाकाव्य का नामकरण, कवि, कथावस्तु व चरित्रनायक के नाम पर होता है। इसका महान् उद्देश्य भौतिक व आध्यात्मिक रूप धर्म, अर्थ, काम के फल को बताकर मोक्ष प्राप्त कराना, महापुराण से सम्बन्धित महानायक होना चाहिए। जैसे–

महापुराण-सम्बन्धि-महानायक-गोचरम्।
त्रिवर्ग-फल-सन्दर्भं महाकाव्य तदिष्यते॥ आदिपुराण, पहला सर्ग ९९

जैन पौराणिक महाकाव्यों की कथावस्तु जैनधर्म के तिरेसठ शलाका व १६९ महापुरुषों जैसे–ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर, भरत आदि १२ चक्रवर्ती, राम आदि ९ बलभद्र, लक्ष्मण व कृष्ण आदि ९ नारायण, रावण व जरासन्ध आदि ९ प्रतिनारायण तथा अन्य धार्मिक स्त्री-पुरुषों के जीवन चरित्र पर आधारित होती है। कहीं-कहीं किसी व्रत, तीर्थ, णमोकार आदि मन्त्रों की महिमा दर्शक चरित्र चित्रण होते हैं, जैन महाकाव्यों में कर्मफल की अनिवार्यता दर्शाने के लिए चरित्रनायकों एवं अन्य पात्रों के पूर्वभवों की कथाएँ आवश्यक अंगरूप में कही जाती हैं।

कई काव्यों में अनेक मत-मतान्तरों का खण्डन तथा जिनमत का मण्डन बड़े सयुक्तिक ढंग से किया जाता है। जिससे जैनधर्म की सत्य सनातनता का बोध होता है। धार्मिक काव्यों में, कथा के माध्यम से सद्धर्म का उपदेश देना मुख्य प्रयोजन होता है। अतः इनमें काव्यरस गौण और धर्मभाव मुख्य होता है। आत्मज्ञान, संसार असारता, विषयत्याग, वैराग्यभावना, व्यसन विमोचन, ब्रह्मचर्य पालन की महिमा, पाप परित्याग से पुण्यार्जन व मोक्ष, मुनियों व श्रावकों के आचार-विचार द्वारा मानवीय नैतिक व धार्मिक जीवन की समुन्नति हुई बताई हैं।

शास्त्रीय नियमों के अनुसार ''सर्ग-बन्धो महाकाव्यं'' महाकाव्य को सर्गबद्ध होना आवश्यक है। अधिकांश पौराणिक महाकाव्य सर्गबद्ध ही हैं किन्तु कुछ महाकाव्यों की कथा का विभाजन, उल्लास, पर्व, लम्भक, आश्वास, काण्डक, परिच्छेद, प्रकाश, सन्धि आदि के रूप में होता है। भारतीय काव्य-शास्त्री, महाकाव्य को कवि परम्परा सम्मत नियमों के अनुसार करने की कोशिश करते रहे हैं। महाकाव्य में निश्चित वर्ण्य विषय, मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, आत्मलाघव, अन्त में गुरु परम्परा की प्रशस्ति, कम से कम आठ सर्ग होना चाहिए। प्राचीन महाकाव्यों की भाषा-शैली प्रौढ़, गरिमा-महिमा पूर्ण हैं, कुछ में प्राकृत अपभ्रंश देशी शब्दों का

संमिश्रण होने से भाषा विषयक सौहार्द दिखता प्रतीत होता है। पौराणिक महाकाव्यों में संकुचित मर्यादाओं को तोड़ते हुए कहीं-कहीं क्षत्रिय कुलोत्पन्न धीरोदात्त नृपति को नायक न बनाकर, मध्यम श्रेणी अथवा राजाओं से अधिक पुण्य वैभवशाली अति क्षत्रिय वणिकों को कथानायक बनाया है और अन्त में वैराग्य द्वारा शान्तरस का संयोजन सुखप्रद है।

प्रस्तुत काव्य को महाकवि गुणभद्र स्वामी ने महाकाव्य नहीं कहा पर यह कृति महान् कवि के भाव को प्रकट करने वाली राजाओं से भी अधिक गौरवशाली, महिमावन्त, बलशाली, तीन भूपतियों के जमाता जिनदत्त कथानायक हैं, जो सर्वकला पारगामी, सत्य, सनातन, समीचीन-जिनधर्म के उपासक थे और जिन्होंने एक राजपुत्री को जैन बनाकर अपनी अर्धांगनी स्वीकार किया।

जैन समाज में व लोक में यह कथा प्रसिद्ध रही है, इस कथा पर प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि सभी भाषाओं में रचनाएँ मिलती हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में इस कथा का उद्भव प्राकृत भाषा में निबद्ध आवश्यक कथा एवं आवश्यक चूर्णि ग्रन्थों में बताया गया है। यह कथा वहाँ चक्षु इन्द्रिय के प्रसंग में कही गई हैं, क्योंकि जिनदत्त पाषाण की पुतली को देखकर ही संसार की ओर आकर्षित हुआ। प्राकृत भाषा में एक और रचना नेमिचन्द्र के शिष्य सुमतिगणि की भी मिलती हैं, संस्कृत भाषा में जिनदत्त चरित आचार्य गुणभद्र का मिलता है। यह एक उत्तम काव्य है और जिनदत्त के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालने वाली एक सुन्दर कृति है। इसके पश्चात् अपभ्रंश भाषा में 'जिणयत्त कहा' की रचना करने का श्रेय कविवर लाखू अथवा लक्ष्मण को है, जिन्होंने उसे संवत् १२५७ में समाप्त की थी। अपभ्रंश भाषा में रचित यह रचना जैन समाज में अत्यधिक प्रिय रही है, अतः ग्रन्थ भण्डारों में इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। इसमें ११ संधियाँ हैं और जिनदत्त के जीवन पर सुन्दर काव्य रचना की गई है। कवि रल्ह अथवा रामसिंह ने संवत् १३५४ में लाखू कवि द्वारा रचित 'जिनदत्त कहा' के आधार पर नवीन रचना का सृजन किया, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने काव्य के अन्त में बड़े आभार पूर्वक किया है। रल्ह कवि के पश्चात् भी १५वीं शताब्दी में दो विद्वानों ने जिनदत्त के जीवन पर अलग-अलग प्रतियाँ लिखीं। उनमें प्रथम महापंडित रइधू हैं, जो अपभ्रंश महान् विद्वान थे। इसी शताब्दी में गुणसुन्दरसूरि ने संस्कृत गद्य में संवत् १४५४ में 'जिनदत्त कथा' लिखी। इसके पश्चात् बीसवीं शताब्दी में पन्नालाल चौधरी ने 'जिनदत्त चरित वचनिका' एवं बख्तावरसिंह ने 'जिनदत्त चरित' भाषा छन्दबद्ध लिखा। इस प्रकार श्रेष्ठी जिनदत्त की कथा प्रायः प्रत्येक युग में लोकप्रिय रही है और जैन विद्वान् उनके जीवन पर एक न एक रचना लिखते आ रहे हैं। मुझे इस कथा को प्रथम पढ़ने का अवसर ब्र.राजेन्द्रजी द्वारा लायी गयीं, छपी व हस्तलिखित प्रतियों से अनुवादन कार्य करने के दौरान मिला। उनके अनुरोध व सहयोग से यह कार्य पूर्ण सफलता को प्राप्त हुआ। श्री भव्यसागरजी मुनिराज के साथ सागर मोराजी में रयणसार की वाचना के दौरान यह कार्य पूर्ण हुआ।

—'जिणदत्त चरित'—प्रस्तावना—कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० ४-६ से साभार

शुद्ध लेखन में श्रीयुत धर्मनिष्ठ बाल्यकाल से श्रावक, षट्कर्मपालक, सर्वगुण सम्पन्न श्री

प्रशान्त जैन पठा का अधिक परिश्रम रहा, भद्रप्रकृति श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी, ब्र० विनोदजी अधारताल का सहयोग प्रशंसनीय हैं। अन्त में यही भावना है कि सभी भव्यजन इस जिनदत्त चरित ग्रन्थ का स्वाध्याय कर अपने आपको चिरन्तन धर्म में नियोजित कर, जिनदत्त के समान लौकिक व अलौकिक पूर्णताओं से पूर्ण होवें। ''को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'' के अनुसार त्रुटियाँ होना संभव है, सभी विज्ञजन शुद्ध करके पढ़ें। अनेक हस्तलिखित प्रतियों से पाठ मिलाकर मूलपाठ का संशोधन किया गया है, यह महत्त्वपूर्ण साहित्य विस्मृत-सा रहा है, सभी प्रकाशक इसको बृहद्रूप में प्रचारित कर सकते हैं। हमारे कुछ पूर्वजों को ये चरित देखने को भी नहीं मिले, यह कथा महीपाल चरित से कुछ प्रसंगों में मेल खाती है, जिसका अनुवादन, संपादन चल रहा है। सुकुमाल चरित का कार्य हो चुका है, पद्मपुराण के आधार पर रचित हनुमान चरित भी पूर्ण प्रायः है, परमागमसार भी संस्कृत छाया सहित तैयार है। पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य की भावना के अनुरूप और भी अनेक कार्य होना है, यदि इसी प्रकार सहयोगियों का सहयोग मिलता रहा, तो अनेक साहित्यिक कार्य हो सकते हैं। इस कार्य के बीच में अनेक आवश्यक कार्य करने में आये जैसे सन् २०११ भोपाल वर्षायोग में तत्त्वविचारसार पुनः शुद्ध भाष्यरूप तथा भारतीय योग परम्परा में ज्ञानार्णव का प्रकाशन आदि तथा सन् २०१३ इन्दौर चातुर्मास के दौरान बड़ी नसियाँ में ध्यानाध्ययन पाहुड प्रति की प्राप्ति हुई, उसका अनुवादन का कार्य चातुर्मास के समय हुआ।

''भद्रं भूयादिति जिनशासनं वर्धतां।''

मुनि मार्दवसागर

प्राक्कथन

जैन वाङ्मय में ऐसे अनेक चरित्र तथा काव्य ग्रन्थ हैं, जिनका अद्यावधि प्रकाशन नहीं हुआ, कुछ प्रकाशन हुआ है, तो मूल सहित नहीं हुआ, कुछ केवल मूल सहित ही छपे हुये हैं, किन्तु सरलता से उपलब्ध नहीं होते अप्राप्त हैं। इन सबको देखकर मेरे मन में विचार आया कि हमें भी कुछ ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे ये सभी शास्त्र मूल सहित अनुवाद के साथ सम्पादित होकर प्रकाशित हों। इस भावना को मैंने मुनिश्री मार्दवसागरजी से व्यक्त किया, उन्होंने मुझे पूर्ण सहयोग प्रदान किया। उसी बात को जब मैंने शांतिनाथ भगवान के अतिशय क्षेत्र बहोरीबन्द में गुरुवर आचार्य शिरोमणि विद्यासागरजी महाराज के समक्ष रखी, तो उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद प्रदान किया। इसी कार्य की शृंखला में तत्त्व-विचारसार प्राकृत-भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद सम्पादन हुआ, पश्चात ध्यानसार, पार्श्वनाथ स्तोत्र संग्रह और अब यह गुणभद्राचार्य द्वारा रचित जिनदत्त काव्य ग्रन्थ का मूल सहित अन्वयार्थ, भावार्थ के साथ प्रकाशन हो रहा है।

ग्रन्थ के अनुवादन सम्पादन में प्रयुक्त सामग्री सबसे प्रथम मुझे उदयपुर प्रवास के समय विशुद्ध ग्रन्थ भण्डार से माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से मूलरूप में प्रकाशित जिनदत्त चरित्र की प्रति प्राप्त हुई, जिसको देखकर मुझे इस काव्य ग्रन्थ के अनुवाद करने का भाव जाग्रत हुआ, इसी के साथ आर्यिका श्री विजयमती माताजी के द्वारा अनुवादित प्रति भी प्राप्त हुई, जो मूल में बहुत अशुद्ध छपी है, अनुवाद भी कहीं-कहीं मूलानुगामी नहीं है पश्चात् मैं ब्र. सतीश के साथ कारंजा गया, वहाँ श्री समतासागरजी वा ऐलक निश्चयसागरजी का चातुर्मास चल रहा था, वहाँ के हस्तलिखित शास्त्र भण्डार से जिनदत्त चरित्र की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई, इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ९-९ पंक्तियाँ हैं, आजू-बाजू नीचे कुछ टिप्पण दिये गये हैं। इसका लेखनकाल श्रावण वदी पञ्चमी संवत् १८०९ है इसके लिपिकार मण्डलाचार्य श्री विद्यानन्दिजी के शिष्य पंडित रूपचन्दजी उनके शिष्य पंडित रूढ़मल्लजी हैं, उन्होंने यह प्रति सवाई जयपुर के चन्द्रप्रभ चैत्यालय में लिखी थी।

दूसरी हस्तलिखित प्रति गंजबसौदा के गाँधी चौक दिगम्बर जैन मंदिर के प्राचीन शास्त्र भण्डार से प्राप्त हुई, इसका प्रारम्भ का एक पृष्ठ नहीं है, इसके प्रत्येक पृष्ठ पर दस पंक्तियाँ काली स्याही से लिखी गई हैं। कुछ शुद्ध पाठों के चयन में इस प्रति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, इसका लेखनकाल संवत् १६१४ आषाढ़ सुदी पूर्णिमा रविवार है।

इस ग्रन्थ के अन्वयार्थ एवं भावार्थ लेखन में पण्डित श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ के द्वारा लिखित जिनदत्त चरित्र की प्रकाशित प्रति का भावानुवाद बहुत सहायक रहा है, इस हेतु मैं उनका बहुत आभारी हूँ, इसका प्रकाशन भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् से हुआ है। मेरे मझले भैया श्री लखमीचन्द जी का भी ऐसे कार्यों के लिए सदा सहयोग रहा, मैं उनका भी बहुत कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ के अन्वयार्थ लेखन में परम पूज्य मुनि श्री मार्दवसागरजी का पग-पग पर सहयोग रहा है। अतः इस ग्रन्थ के अनुवादक सम्पादक वे ही हैं, मैं तो उनका सहयोगी मात्र हूँ, मेरी नेत्र ज्योति मंद

होने से मुझे बोलकर लिखवाना पड़ता है, इस कार्य में धनीराम जैन बी.ई.ओ. एवं श्री विशालचन्द जैन शिक्षक, दमोह तथा तेजगढ़ के अतुल व मगनलाल जैन ने लेखन में सहयोग प्रदान किया है इसलिए मैं इन सभी महानुभावों का आभारी हूँ, इस ग्रन्थ का पुनः सुवाच्य सुलेख में व्यवस्थित लिखने का गुरुतर कार्य मेरे लाड़ले भतीजे श्री प्रशान्त जैन (एम.ए.) पठा खुर्द, सागर ने किया, इस शुभ कार्य करने के लिए मैं इन्हें यह शुभ आशीष देता हूँ कि वे आगामीकाल में एक श्रेष्ठ विद्वान् बनकर जिनवाणी की सतत् सेवा करते हुए कल्याणमार्ग में सदा बढ़ते रहें। इस ग्रन्थ के कम्पोजिंग का कार्य दीपेन्द्र जैन आकृति प्रिन्टर्स, बीना ने चातुर्मास सन् २०१० के दौरान किया इसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। चातुर्मास सन् २०११ के दौरान टीन शेड महावीर जैन मंदिर, भोपाल की समाज ने कम्पोजिंग के लिए ५००० का आर्थिक सहयोग प्रदान किया इसके लिए उन्हें मैं साधुवाद देता हूँ इसके अतिरिक्त जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया है मैं उन सभी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

संस्कृत भाषा के रसिकजन एवं हिन्दी भाषा को जानने वाले इस काव्य ग्रंथ का रसास्वादन सुगमता से कर सकें, इस हेतु यह मेरा किंचित् प्रयास है, इस चरित्र को पढ़कर सभी श्रावक वृन्द, मुनियों के लिए दिए गये आहारदान की महिमा को जानकर, आहारदान में प्रमाद छोड़कर उत्साहपूर्वक प्रवर्तन करेंगे एवं शीलव्रत का भी निष्ठापूर्वक पालन करेंगे। इसी पुनीत भावना के साथ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ। इस ग्रंथ के अनुवाद में भूल या प्रमाद से कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो विद्वज्जन मुझे मार्गदर्शन करें।

विनीत

ब्र० राजेन्द्रकुमार जैन

श्रीगुणभद्राचार्य

प्रतिभामूर्ति गुणभद्राचार्य संस्कृतभाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। ये योग्य गुरु के योग्यतम शिष्य हैं। सरसता और सरलता के साथ प्रसादगुण भी इनकी रचनाओं में समाहित है। गुणभद्र का समस्त जीवन साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। ये उत्कृष्ट ज्ञानी और महान् तपस्वी थे।

गुणभद्राचार्य का निवास स्थान दक्षिण आरकट जिले का 'तिरुमरुङकुण्डम' नगर माना जाता है। इनके गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में तथ्य अज्ञात हैं। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि ये सेनसंघ के आचार्य थे। इनके गुरु का नाम आचार्य जिनसेन द्वितीय और दादा गुरु का नाम वीरसेन है। गुणभद्र ने आचार्य दशरथ को भी अपना गुरु लिखा है। सम्भवतः ये दशरथ इनके विद्यागुरु रहे होंगे।

आचार्य जिनसेन प्रथम या द्वितीय के समान गुणभद्र की भी साधना-भूमि कर्नाटक और महाराष्ट्र की भूमि रही है। इन्हीं प्रान्तों में रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

स्थिति-काल

गुणभद्राचार्य जिनसेन द्वितीय के शिष्य थे तथा उनके अपूर्ण महापुराण (आदिपुराण) को इन्होंने पूर्ण किया था। अतः इनका समय आचार्य जिनसेन द्वितीय के कुछ वर्ष बाद ही होना चाहिए। उत्तरपुराण की प्रशस्ति में ४२ पद्य हैं, जिनमें से आरम्भ के २७ पद्य गुणभद्र द्वारा विरचित और अवशेष १५ पद्य उनके शिष्य लोकसेन द्वारा विरचित माने जाते हैं। गुणभद्र स्वयं उत्तरपुराण के रचना काल के सम्बन्ध में मौन हैं, पर ३२वें से ३६वें पद्य तक बताया है कि राष्ट्रकूट अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य बंकापुर राजधानी में रहकर समस्त वनवास देश का शासन करते थे। उस समय शक संवत् ८२० में श्रावण कृष्णा पञ्चमी गुरुवार के दिन यह उत्तरपुराण पूर्ण हुआ और जनता ने इसकी पूजा की। अतः गुणभद्र का समय शक संवत् ८२० ई० सन् ८९८ अर्थात् ई० सन् की नवम शती का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

रचनाएँ

(१) आदिपुराण (२) उत्तरपुराण (३) आत्मानुशासन (४) जिनदत्त-चरित्रम्।

जिनदत्तचरित्रम्

इस प्रबन्ध-काव्य में ९ सर्ग हैं। समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्द में लिखा गया है। सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन भी हुआ है। अंगदेशान्तर्गत बसन्तपुर नाम के नगर में सेठ जीवदेव और उनकी पत्नी जीवञ्जसा का पुत्र जिनदत्त है। अन्य जैन महाकाव्यों के समान कवि ने इस काव्य के आदि में भी पुत्र प्राप्ति की चिन्ता एवं पुत्र का महत्त्व प्रतिपादित किया है। जिनदत्त शैशव समाप्त कर जब पूर्ण युवक हुआ तो उसका मन संसार के विषयों से विरक्त रहने लगा। कवि ने जिनदत्त की इस विरक्ति

को बड़े कौशल के साथ अनुरक्ति के रूप में परिवर्तित किया है। कवि कहता है कि एक दिन जिनदत्त अपने मित्रों के साथ कोटिकूट चैत्यालय में दर्शनार्थ गया। वहाँ सीढ़ियाँ चढ़ते समय दरवाजे के पास एक स्त्री-मूर्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। यह मूर्ति अत्यन्त रमणीय थी। उसका अंगविन्यास अमृत और मधु से निर्मित हुआ था। इस अनिन्द्य सौन्दर्य का अवलोकन कर जिनदत्त मुग्ध हो गया और अपनी सुध-बुध खो बैठा। जब वह इस अवस्था में घर लौटा तो पिता जीवदेव ने चिन्तित होकर उस मूर्ति के शिल्पी को बुलाया और पूछा कि मूर्ति किस नारी की है ? शिल्पी ने बतलाया कि यह मूर्ति चम्पानगरी के विमल सेठ की पुत्री विमलमती की है। फलतः प्रेमाकर्षण द्वारा जिनदत्त का पाणिग्रहण विमलमती के साथ सम्पन्न हो गया।

दुर्गुण और व्यसन व्यक्ति में किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, इस तथ्यांश को कवि ने इस काव्य के तृतीय सर्ग में अभिव्यक्त किया है। जिनदत्त अपने मित्रों के कुसंसर्ग के कारण द्यूत खेलना सीख लेता है और शनैः शनैः सारा द्रव्य द्यूतदेव की भेंट हो जाता है। कवि नाटक के समान घटनाचक्र को दूसरी ओर मोड़ता है और जिनदत्त को धनार्जन के हेतु विदेश भेज देता है और वहाँ जिनदत्त बहुत-सा धन अर्जन करता है तथा राजा-महाराजाओं से सम्पर्क स्थापित कर श्रीमती नामक राजकुमारी के साथ विवाह सम्पन्न करता है। समुद्रपथ से वापस लौटते समय श्रीमती के सौन्दर्य से आकृष्ट हो समुद्रदत्त नाम का व्यापारी जिनदत्त को समुद्र में गिरा देता है। जिनदत्त एक काष्ठ की पट्टिका के सहारे समुद्र को पार करने लगा। आकाशमार्ग से जाते हुए विद्याधर उसके बल-पौरुष से प्रभावित हुए। अतः उन्होंने उसे अपने विमान में बैठा लिया और अपने अधिपति अशोकश्री की पुत्री शृंगारमती के साथ जिनदत्त का विवाह संस्कार सम्पन्न करा दिया। कुछ दिनों पश्चात् जिनदत्त अपनी पत्नी शृंगारमती के साथ चम्पापुर में आया और रात को एक वाटिका में निवास के हेतु ठहर गया। मध्यरात्रि के समय शृंगारमती को उसी वाटिका में सोते छोड़ वह कहीं चल दिया। शृंगारमती भी चम्पापुर के एक चैत्यालय में निवास करने लगी। यहाँ विमला और श्रीमती भी उसे मिल गयीं।

जिनदत्त वामन का रूप धारण कर नगर में अपनी गान-विद्या द्वारा लोगों का अनुरञ्जन करने लगा। राजदरबार में उसे गायक का पद प्राप्त हो गया। एक दिन किसी व्यक्ति ने राजा के यहाँ सूचना दी कि इस नगर के जिनालय में तीन परम सुन्दरियाँ निवास करती हैं, जो न कभी हँसती हैं और न कभी परपुरुष से बातचीत ही करती हैं। जिनदत्त ने राजा से प्रतिज्ञा की कि मैं इन सुन्दरियों को हँसा सकता हूँ। उसने वहाँ जाकर अपने वृत्तान्त द्वारा उन युवतियों को अनुरञ्जित कर हँसाया। जिनदत्त ने एक मदोन्मत्त गज को भी वश कर राजा को प्रसन्न किया और उसकी कन्या के साथ विवाह सम्पन्न किया, पश्चात् जिनदत्त अपने माता-पिता से मिला और मुनि द्वारा अपनी भवावलि अवगत कर उसने मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। कठोर तपश्चरण कर उसने आठवाँ स्वर्ग प्राप्त क्रिया।

कवि ने इस काव्य में सुन्दर कवित्व का भी नियोजन किया है। नदी और वेश्याओं की समता करते हुए श्लेष और उत्प्रेक्षा द्वारा एक साथ चमत्कार निबद्ध किया है–

सविभ्रमाः सपद्माश्च सर्वसेव्य-पयोधराः।
कुटिला यत्र राजन्ते नद्यः पण्याङ्गना इव॥

कवि वसन्तपुर की खातिकाओं के सौन्दर्य का उत्प्रेक्षा द्वारा प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि खातिका के व्याज से समुद्र ही यहाँ प्रविष्ट हो गया है। कवि ने समुद्र के समस्त गुणों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है–

महीप्रवेशमाविश्य चौरेणेव पयोधिना।
खातिकाव्याजतो बब्रे यद्रत्न-हरणेच्छया॥

कवि कल्पना का कितना धनी है, यह निम्नांकित पद्य से सहज में जाना जा सकेगा। रात्रि समाप्त हो गयी है, सूर्य का उदय होने जा रहा है। यह सूर्य पूर्व दिशा के कुमकुम भूषण के समान, रात्रिरूपी अंगना के विस्मृत लोहित कमल के समान, कामदेवनृपति के रक्त आतप पत्र के समान, अन्धकारनाशक चक्र के समान और आकाशरूपी स्त्री के मांगल्यकलश के समान परिलक्षित हो रहा है–

प्राची कुंकुममण्डनं किमथवा रात्र्यङ्गनाविस्मृतं।
रक्ताम्भोजमथो मनोजनृपते रक्तातपत्रं किमु।
चक्रं ध्वान्तविभेदकं द्युवनितामांगल्यकुम्भः किमु।
इत्थं शङ्कितमम्बरे स्फुटमभूद्भानोस्तदा मण्डलम्॥

रस-परिपाक और भाव-योजना की दृष्टि से भी यह काव्य सफल है।

❑ ❑ ❑

महाकवि श्रीमद् गुणभद्राचार्य-विरचितम्

जिनदत्त-चरित्रम्

प्रथमः सर्गः

मङ्गलाचरण (अनुष्टुप् छन्द)

महामोह - तमश्छन्न- भुवनाम्भोज - भानवः[1] ।
सन्तु सिद्ध्यङ्गनासङ्ग-सुखिनः संपदे जिनाः ॥१॥

अन्वयार्थ–(महामोहतमश्छन्न-भुवनाम्भोज-भानवः) महामोहरूपी अंधकार से परिव्याप्त संसारी-जीवरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप (सिद्ध्यङ्गनासङ्ग-सुखिनः) सिद्धिरूपी अंगना/स्त्री के संयोग से सुखी रहने वाले (जिनाः) जिनेन्द्र भगवान अरहन्त व सिद्ध परमात्मा, (संपदे) अविनाशी ज्ञान संपदा के लिए (सन्तु) होवें ।

यदायत्ता जगद्वस्तु-व्यवस्थेयं नमामि ताम् ।
जिनेन्द्रवदनाम्भोज-राजहंसीं सरस्वतीम् ॥२॥

अन्वयार्थ–(यदायत्ता) जिनके अधीन (इयं) यह (जगद्वस्तु-व्यवस्था) संसार की वस्तुओं की व्यवस्था है ऐसी (जिनेन्द्र-वंदनाम्भोज-राजहंसीं) जिनेन्द्र भगवान के मुखरूपी कमल की राजहंसी स्वरूप (ताम्) उन (सरस्वतीं) सरस्वती को (नमामि) मैं ग्रन्थकार गुणभद्राचार्य नमस्कार करता हूँ।

अतिगाढ़ मोहरूप घने अंधकार से घिरे हुए, तीनों लोकों के प्राणीरूप कमलों के विकास में कारणभूत सिद्धिरूपी स्त्री के संयोग से सुखी अरहंत-सिद्धपरमात्मा अविनश्वर मोक्ष सम्पत्ति के लिए होवें ॥१॥

[जैन सरस्वती जिनवाणी को नमन]

हे सरस्वती देवी ! यदि तू न होती तो इस संसाररूपी कारागार में अवरुद्ध हुए दीन दुखी प्राणियों का जिनेन्द्र भगवान् कैसे उद्धार करते ? उन्हें किस तरह सुख का मार्ग बतलाकर मोक्ष नगर पहुँचाते ? और यों ही क्या वे हमारे उपकारी ही होते ? जो कुछ भी उनके प्रति हमारी भक्ति व श्रद्धा है, वह सब तेरे ही द्वारा करायी गई है; तू ही इसमें प्रधान कारण है । संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान तेरे ही कारण से होता है इसलिए; हे संसार के प्राणियों की एकमात्र रक्षयित्री, जगद्धात्री ! जिनेन्द्र भगवान् के वदनरूपी कमल पर अतिशय शोभित होने वाली दिव्यध्वनिरूपी

सर्व-शास्त्रं अनुष्टुप् छन्दसि वर्तते । तस्य लक्षणं–
श्लोके षष्टं गुरुः ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमं ।
द्वि-चतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घ-मन्ययोः ॥
अर्थात्–श्लोक यानि अनुष्टुप् छन्द में छटवाँ अक्षर गुरु, सभी पदों में पाँचवाँ लघु और दूसरे चौथे पादों में सातवाँ ह्रस्व तथा अन्य/प्रथम तीसरे चरण का सातवाँ दीर्घ होता है । इसके अनेक भेद हैं, मुख्यरूप में आठ वर्ण होते हैं, मात्राएँ भिन्न-भिन्न होती हैं ।

---

१. महामोहान्धकाराच्छादितत्रैलोक्यकमलसूर्याः ।

मिथ्याग्रहाहिना[१] दष्टं सद्धर्म्मामृत - पानतः ।
आश्वासयन्ति[२] विश्वं[३] ये तान् स्तुवे यति-नायकान् ॥३॥

अन्वयार्थ–(मिथ्याग्रहाहिना) मिथ्या आग्रहरूपी सर्प से (दष्टं) डसे हुए (विश्वं) विश्व को (ये) जो (सद्धर्म्मामृतपानतः) समीचीन धर्मरूपी अमृत के पान से (आश्वासयन्ति) जीवित करते हैं ऐसे (तान्) उन (यतिनायकान्) मुनियों के स्वामी आचार्यों की (स्तुवे) मैं स्तुति करता हूँ।

मालिन्योद्योतयोर्हेतू असत्सन्तौ[४] स्वभावतः ।
गुणानां न तयो र्निन्दास्तुती तेन तनोम्यहम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(असत्सन्तौ स्वभावतः) दुर्जन और सज्जन स्वभाव से (गुणानां) गुणों की (मालिन्योद्योतयोः) मलिनता और निर्मलता के (हेतू) कारण हैं (तेन) उससे (तयोः) उन सज्जन और दुर्जन के विषय में (अहम्) मैं (निन्दा-स्तुती) निंदा और स्तुति को (न तनोमि) नहीं फैलाता, विस्तार नहीं करता हूँ ।

मनो मम चतुर्वर्ग - मार्गमुक्ता - फलोज्ज्वलाम् ।
जिनदत्त - कथाहार-लतिकां कर्तुमीहते[५] ॥५॥

अन्वयार्थ–(चतुर्वर्गमार्गमुक्ताफलोज्ज्वलां) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के मार्गरूप मुक्ताफल/मोतियों के समान अत्यंत उज्ज्वल (जिनदत्त-कथा-हार-लतिकां) जिनदत्त की

राजहंसी पूज्य माँ ! तेरे लिये हमारा बार-बार नमस्कार है ॥२॥ [गुरुओं का स्तवन]

मुनियों के शिरताज, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के निर्दोष पालक, सदसद्विवेकी गुरुदेव आपके लिए भी हमारा भक्ति भरा नमस्कार है यदि आप जिनेन्द्र भगवान के उपदेशों से अपनी आत्मा को उन्नत कर मोहनीय कर्म के साथ युद्ध न करते और उसकी ही आज्ञा का पालन करते रहते तो ऐसा कभी भी अवसर प्राप्त न होता कि हम भी उस मोहनीय के विरुद्ध कुछ भी आँख उठाकर देख सकते । यह सब आप ही का प्रसाद है कि मोहनीय कर्म द्वारा भेजे गये मिथ्यात्वरूपी सर्प से डसे गये भी संसार के भव्यजीव आपके सद् धर्मोपदेशरूपी अमृत से अपने अभीष्ट (स्व स्वरूप) की सिद्धि कर रहे हैं अन्यथा अनंत सुख स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति इस संसार के जीवों को दुर्लभ ही नहीं असंभव ही हो जाती, वे इसे कभी प्राप्त न कर सकते ॥३॥

कवि लोग प्रायः अपने-अपने रचित ग्रंथों के आदि में दुर्जनों की निंदा और सज्जनों की प्रशंसा किया करते हैं एवं उनसे अपने काव्य के दोषों की मार्जना का विचार भी प्रकट करते हैं परंतु उनके उस लम्बे-चौड़े प्रशंसा व निंदा के प्रस्ताव से सज्जन वा दुर्जन कोई भी सहमत नहीं होते । वे लोग, जो उनके मन में आती है अपने स्वभावानुसार दोषोद्घाटन, गुण प्रकाशन आदि किये बिना नहीं रहते । इसलिए मैं (गुणभद्रस्वामी) अपने इस ग्रंथ में व्यर्थ ही सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निंदा का लोकानुगत गीत गाकर समय और शक्ति नष्ट नहीं करना चाहता ॥४॥ [जिनदत्त की कथा कहने की प्रतिज्ञा]

यह जिनदत्त सेठ की कथा मनुष्य के जीवन के कर्तव्य स्वरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों

१. सर्पेण । २. जीवयन्ति । ३. जगत् । ४. दुर्जनसज्जनौ । ५. इच्छति ।

कथारूप हार लता को (मम) मेरा (मनः) मन (कर्तुं) करने/रचने के लिए (ईहते) चाहता है ।

अथास्ति भरतक्षेत्रे जम्बुद्वीपस्य दक्षिणे ।
श्रीमानंगाभिधो देशो देवावास[1] इवापरः ॥६॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (जम्बुद्वीपस्य) जम्बुद्वीप के (दक्षिणे) दक्षिणवर्ती (भरतक्षेत्रे) भरतक्षेत्र में (श्रीमान्) शोभा व लक्ष्मी से सम्पन्न (अङ्गाभिधः) अङ्ग नाम का (देशः) देश है (अपरा) जो दूसरे (देवावासः) देवों के आवास/स्वर्गलोक के (इव) समान (अस्ति) है ।

क्रीडामत्तामरा यत्र कोपयन्ति स्वकामिनीः ।
उद्यानेषु विलासाढ्य-वनपालि - विलोकिनः ॥७॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ इस देश के (उद्यानेषु) उद्यानों में (विलासाढ्य-वनपालि-विलोकिनः) विलास से सहित वनपालियों के द्वारा देखे गये (क्रीडामत्तामराः) रति आदि क्रीड़ाओं में उन्मत्त हुए देवगण (स्वकामिनीः) अपनी स्त्रियों को (कोपयन्ति) कुपित करते हैं अर्थात् यहाँ के बगीचों में सतत वन बिहार के लिए राजा महाराजा देवगण आदि आते रहते हैं ।

सविभ्रमाः[2] सपद्माश्च सर्व - सेव्य - पयोधराः ।
कुटिला यत्र राजन्ते नद्यः पण्याङ्गना इव ॥८॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ इस देश में (नद्यः) नदियाँ (सविभ्रमाः) भँवरों से सहित वेश्या पक्ष में हाव भाव कटाक्षों से सहित, (च) और (सपद्माः) कमलों से सहित वेश्या पक्ष में सौंदर्य से युक्त (सर्व-सेव्य-पयोधराः) सबके सेवन करने योग्य जल को धारण करने वाली वेश्या पक्ष में क्रीत स्त्री होने से सर्वसाधारण जन के द्वारा उपभोग्य स्तनों को धारण करने वाली (कुटिला) टेढ़ी-मेढ़ी बहने वाली वेश्या पक्ष में मायाचारिणी (पण्याङ्गना इव) वेश्या के समान (राजन्ते) सुशोभित होती हैं ।

पुरुषार्थों को प्रकट करने वाली है । जो लोग अपने जीवन को सदाचारी, पवित्र, इहलोक-परलोक में सुख प्रदान करने वाला बनाना चाहते हैं, उनके लिये अतुलनीय यह सत्य दृष्टांत है, इसलिए हमारी इच्छा हुई है कि ऐसे उत्तम पुरुष का जीवन लोगों को बतलाया जाये, अतः उसे हम यहाँ लिखते हैं ॥५॥

[अङ्गदेश का वर्णन]

अथानन्तर जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भरतक्षेत्र है, उस क्षेत्र में एक अङ्ग नाम का देश है, वह अपनी शोभा से दूसरे स्वर्गलोक के समान जान पड़ता है ॥६॥

इस देश में अति रमणीय उद्यान हैं । यहाँ मनुष्य रति आदि क्रीड़ाओं में उन्मत्त हुए अपनी कामनियों को कुपित करते हैं । वन-पालक इन विलासियों को निरंतर देखते हैं अर्थात् यहाँ के बगीचों में विहार करने के लिए लोग आते रहते हैं ॥७॥ इस देश में गंगा आदि नदियों का खूब जोर-शोर है । कमलों के समूह के समूह उनमें खिले हुए दिखलाई पड़ते हैं, भंवर कुँए सरीखे गहरे हो-होकर लोगों के मन में डर और कौतूहल पैदा करते हैं । उनका जल स्वच्छ और मधुर है । यहाँ की

---

१. स्वर्ग इव । २. नद्यस्तु हंसादिपक्षिसहिताः जलभ्रमणसहिताश्च वेश्यापक्षे सकटाक्षाः नद्यस्तु सकमलाः वेश्यापक्षे सलक्ष्म्यः। नद्यस्तु सर्वजनभोग्यजलधारिण्यः वेश्यापक्षे सर्वजनसेव्यकुचाः पण्याङ्गनात्वात् ।

पन्थानं पथिका कामं नाक्रमन्ति समुत्सुकाः ।
अपि यद्गोपिकाकान्त-रूपासक्ताः पदे - पदे ॥९॥

अन्वयार्थ–(अपि यत्) और जो यहाँ (पथिकाः) पथिक-जन (गोपिका-कान्तरूपासक्ताः) गोपिकाओं के सुन्दररूप में आसक्त (पदे-पदे) स्थान-स्थान पर (समुत्सुकाः) उत्कंठित होते हुए (कामं) अपनी इच्छानुसार शीघ्र (पन्थानं) मार्ग को (न आक्रमन्ति) तय नहीं कर पाते हैं ।

भान्ति यत्र भुवो ग्राम्याः[1] सर्वतः खल-संकुलाः ।
समृद्धिभिस्तथाप्युच्चैः सज्जनानन्द - हेतवः ॥१०॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ इस देश में (ग्राम्याः) गाँव संबंधी (भुवः) पृथ्वियाँ, (सर्वतः) सब ओर से (खल-संकुला) खलिहानों से व्याप्त होती हुईं (भान्ति) सुशोभित हैं (तथापि) तो भी (उच्चैः) उत्कृष्ट- रूप से (समृद्धिभिः) समृद्धि के द्वारा (सज्जनानन्द-हेतवः) सज्जनों के आनंद की कारणभूत हैं ।

निगमानां न चान्योन्यं यस्मिन् सीमावगम्यते ।
निष्पन्नैः सर्वतः सर्व-सस्यजातैर्निरन्तरैः ॥११॥

अन्वयार्थ–(च यस्मिन्) और जिसमे (सर्वतः) सब ओर से (सर्व-सस्यजातैः) विविध प्रकार की धान्यों से उत्पन्न (निरन्तरैः) सदा (निष्पन्नैः) भरे हुए (निगमानां) नगरों की (सीमा न अवगम्यते) सीमा ज्ञात नहीं होती है अर्थात् यहाँ के गाँव परस्पर में अतिनिकट हैं और विविध धान्यों से सदा भरे रहते हैं, अतः इनकी सीमा कहाँ तक है ? यह ज्ञात नहीं हो पाता ।

सच्छायाः प्रोन्नता यत्र मार्गस्थाश्च विजातिभिः[2] ।
सेव्यन्ते पादपा युक्त-मेतन्ननु कुजन्मनाम् ॥१२॥

नदियाँ टेड़ी-मेड़ी बहती हुईं वेश्याओं के समान सुन्दर प्रतीत होती हैं ॥८॥

यहाँ की स्त्रियाँ बहुत सुंदर हैं, उनके उस सौंदर्य का वर्णन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है । उच्च घरानों की नारियों की तो बात ही क्या है ? सामान्य शुद्ध ग्वालों की कन्याएँ जो धूप की उष्णता में, जाड़े की सरसराहट में सर्वदा कुम्हलाई रहती हैं, उनके अप्रतिमरूप को देखकर ही पथिक लोग आकर्षित होते हैं जिससे उन्हें मार्ग तय करने में विलंब होता है ॥९॥

इस अङ्ग देश के अनेकों ग्राम हैं । इनकी शोभा भी अनोखी है । चारों ओर हरियाली, धान्य से भरे खलियान हैं । इनकी समृद्धि सज्जनों के आनंद की हेतु हैं । अभिप्राय यह है कि ग्रामीण जन गाँवों में गोधनादि से समृद्धिप्राप्त कर सज्जनों के आनंद के साधन हैं । सरलता से उच्च आशय धारण करते हैं ॥१०॥

यहाँ के नगर एवं गाँव एक-दूसरे के अति सन्निकट हैं । सभी हरे-भरे और फले - फूले हैं । किस की सीमा कहाँ से कहाँ तक है यह प्रतीत ही नहीं होता है, सब जगह सदा विविध धान्य उत्पन्न होते रहते हैं, किसी को किसी प्रकार का अभाव नहीं है ॥११॥

---

१. ग्रामसम्बन्धिन्यो भुवः २. कुजन्मानो प्राणिनः विजातिभिरेव सेव्यन्ते कुजन्मानस्तरवस्ते नानापक्षिभिः सेव्यन्त एव । कुः पृथ्वी वयः पक्षिणः ।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (सच्छायाः) सघन छाया वाले (प्रोन्नताः) बहुत ऊँचे (मार्गस्थाः च) और मार्ग में स्थित (पादपाः) वृक्ष (कुजन्मनाम्) खोटे जन्म वाले व पृथ्वी पर जन्म लेने वाले वृक्षों का (विजातिभिः) नाना जाति वाले पक्षी व मनुष्यों द्वारा (सेव्यन्ते) सेवन किये जाता है (एतत्) यह (युक्तम्) ठीक ही है।

खन्याकर-समुत्थानं दधाना बहुधा धनम्।
जाता वसुमती[1] यत्र यथार्थेयं समन्ततः ॥१३॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (खन्याकर-समुत्थानं) सोना-चाँदी, हीरा खोदकर निकाले जाने वाली खानों की समुन्नति को (समन्ततः) सब ओर से (बहुधा) विविध प्रकार के (धनम्) धन को (दधाना) धारण करती हुई (इयं) यह वसुमति/पृथ्वी (यथार्था) वास्तव में (वसुमती) धन को धारण करने वाली (जाता) हुई थी।

राजते जनता यत्र जिनधर्म्मरता सदा।
दारिद्र्य - दुर्नयातङ्क-भीतीतिभि-रसंगता ॥१४॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (सदा) हमेशा (दारिद्र्य-दुर्नयातङ्क-भीतीतिभिः असंगता) दरिद्रता, अनीति, आतंक, भीति और ईति से रहित (जिन-धर्म्मरता) जिनधर्म में लीन (जनता) मनुष्यों का समुदाय (राजते) सुशोभित है।

कल्याण-भूमयो यत्र जिनानां विहितोत्सवाः।
[2]भक्त्यागतामरैर्भान्ति पापापोहन - पण्डिताः[3] ॥१५॥

यहाँ के मार्गों में अनेक जाति के सघन, छायादार, विशाल और उन्नत वृक्ष हैं। सभी पथिकों द्वारा उनका उपभोग किया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वृक्षों के पाप कर्म का यह कुफल है क्योंकि उत्तम वस्तु सर्व सेव्य नहीं होती ॥१२॥ यहाँ खानों की भी कमी नहीं है। हीरा, माणिक, पन्ना आदि की अनेकों खानें हैं इनसे प्रतीत होता है कि पृथ्वी का सार्थक नाम वसुमति (वसुन्धरा या वसुधा) है। 'वसु' का अर्थ धन होता है, जो इससे सहित हो वह वसुमती है, इसे जो धारण करे वह वसुधा है। इस देश में सोने-चाँदी, हीरा आदि की खानों को देखकर सहज ही पृथ्वी का 'वसुमति' नाम सार्थक हो जाता है ॥१३॥ धर्म, सुख का कारण है। जहाँ जिनधर्म और धर्मात्माओं का निवास है, वहाँ आधि-व्याधि, शोक-संताप, **ईति**–अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों की वृद्धि, टिड्डियों की वृद्धि, तोतों की वृद्धि, स्वचक्र, परचक्र का उपद्रव ये सात ईतियाँ, **भय**–इहलोक, परलोक, अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ये सात भय आ नहीं सकते। प्रजा निरन्तर अपने धर्म कार्यों में रत है, इसलिए अन्याय और तज्ञन्य क्लेशों का भी यहाँ अभाव है ॥१४॥

इस देश की पावन भूमियों में तीर्थङ्करादि के कल्याणक–गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व मोक्ष निरन्तर सम्पादित किये जाते हैं। जिनालयों में हमेशा नाना प्रकार के उत्सव होते रहते हैं। पूजा/ विधानादि किये जाते हैं। यहाँ न केवल मनुष्य ही आते हैं अपितु पाप कर्म के नाश करने हेतु देव लोग भी आते हैं।१५॥

१.वसुर्धनं विद्यते यस्यां सा वसुमती तत्र धनमासीदेव यतः यथार्था वसुमती जाता। २. भक्त्यागतदेवैः। ३. पापनाशनचतुराः।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (विहितोत्सवाः) किये गये हैं उत्सव जिनमें ऐसी (जिनानां) जिनेन्द्र तीर्थङ्करों की (पापापोहन-पण्डिताः) पाप के नाश करने में चतुर (कल्याण-भूमयः) कल्याणक भूमियाँ (भक्त्या आगतामरैः) भक्तिपूर्वक आये हुए देवों से (भान्ति) सुशोभित होती हैं।

मध्येऽस्ति तस्य देशस्य वसन्तादिपुरं[1] पुरम्।
निर्भर्त्सितामराधीश- नगरं निज - शोभया ॥१६॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस (देशस्य) अङ्ग देश के (मध्ये) बीच में (निज-शोभया) अपनी शोभा से (निर्भर्त्सितामराधीश-नगरं) तिरस्कृत किया है देवों के स्वामी इन्द्र की नगरी अलकापुरी को जिसने ऐसा (वसन्तादिपुरम्) वसंतपुर नाम का (पुरं अस्ति) नगर है।

महीप्रवेशमाविश्य चौरेणेव पयोधिना।
खातिकाव्याजतो बब्रे यद्रत्नहरणेच्छया ॥१७॥

अन्वयार्थ–(पयोधिना) समुद्र के द्वारा (खातिकाव्याजतः) खाई के बहाने (यद्रत्न-हरणेच्छया) जो रत्नों के हरने/चुराने की इच्छा से (चौरेण इव) चोर की तरह (आविश्य) प्रवेशकर (महीप्रवेशं) पृथ्वी के प्रवेश को (बब्रे) कहता है।

यत्सद्म-दीर्घिकापद्मैः विकाशो नाप्यते स्फुटम्।
प्राकार - कोटि - संरुद्ध-दिवाकर - करत्वतः ॥१८॥

अन्वयार्थ–(प्राकार-कोटि-संरुद्ध-दिवाकर-करत्वतः) परकोटा के अग्रभाग से रुकी हुई सूर्य की किरणों से (यत्) जो (सद्म-दीर्घिका-पद्मैः) मकानों की बावड़ियों के कमलों द्वारा (विकाशः) विकास (स्फुटम्) स्पष्टरूप से (न आप्यते) प्राप्त नहीं किया जाता है।

यत्कामिनी-कपोलानां कान्तिं हर्तुमिवेन्दुना[3]।
क्षालनाय कलङ्कस्य भ्राम्यते[4] सौध-सन्निधौ[5] ॥१९॥

इस अङ्ग देश के मध्य में वसन्तपुर नाम का अति रमणीक नगर है। यह अपनी शोभा से अमरपुरी को भी तिरस्कृत करता है ॥१६॥

इसके चारों ओर बहुत ही गहरी एक खाई थी और उसको देखकर लोग कभी-कभी यह अनुमान लगाया करते थे कि इस नगर में रत्न अधिक हैं इसलिए उनको चुराने के लिए खाई का रूप धारण कर समुद्र पृथ्वी में घुसकर अपनी अभीष्ट सिद्धि करना चाहता है ॥१७॥

कोट की अत्यन्त ऊँचाई होने से रवि रश्मियाँ पूर्णरूप से नहीं आ पाती थीं। इसलिए बावड़ियों के कमल पूर्ण विकसित नहीं हो पाते थे। वस्तुतः यहाँ इस नगर की सुरक्षा के लिए बने हुए कोट की अधिक ऊँचाई को प्रदर्शित किया है ॥१८॥

यहाँ धनिकों के महल और अट्टालिकायें बड़ी-बड़ी ऊँची थीं। उनकी ऊँचाई से चंद्रमंडल थोड़ी दूर रह जाता था और वह चन्द्रमा उससे वहाँ की रमणीय रमणियों के मनोहर कपोलों की कान्ति को हरण कर अपने कान्तिविहीन कलंक को मार्जन करने की इच्छा वाला मालूम होता था ॥१९॥

---

१. वसन्तपुरम्। २. स्वर्गतिरस्कारकं। ३. चन्द्रमसा। ४. भ्रमणं क्रियते। ५. हर्म्याणां समीपे।

अन्वयार्थ–(इन्दुना) चंद्रमा के द्वारा (यत्) जो जिस किसी तरह से (इव) मानो (कलंकस्य) कलंक के (क्षालनाय) धोने के लिए (सौधसन्निधौ) चूने से बने भवनों के निकट (कामिनी-कपोलनां) कामिनियों के गालों की (कान्तिं हर्तुं) कान्ति को चुराने के लिए (भ्राम्यते) भ्रमण किया जाता है ।

सुदर्शनकृतानन्दाः[१] सत्यासक्ताः[२] समाः सदा ।
प्रद्युम्नमोदिनो[३] यत्र समाना विष्णुना जनाः ॥२०॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (सुदर्शन-कृतानन्दाः) जन पक्ष में श्रेष्ठ दर्शन से आनंद करने वाले, कृष्ण जी के पक्ष में सुदर्शन-चक्र से आनंद करने वाले (सदा) निरंतर (सत्यासक्ताः) जन पक्ष में सत्य में आसक्त, कृष्ण जी के पक्ष में सत्यभामा में आसक्त (समाः) जन पक्ष में सत्य के साथ व्यवहार करने वाले न्याय सहित कृष्ण जी के पक्ष में सत्यभामा के साथ रहने वाले (प्रद्युम्नमोदिनः) जन पक्ष में कामभोगों में आनंद मानने वाले कृष्ण जी के पक्ष में प्रद्युम्न नामक पुत्र को देखकर प्रसन्न रहने वाले (विष्णुना समानाः जनाः) विष्णु के समान मनुष्य थे ।

[४]यन्नारी-नयनापाङ्ग-रङ्गेऽनङ्गेन वल्गता ।
वासो निःसंशयं चक्रे शान्तानामपि मानसे ॥२१॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (नारी-नयनापाङ्गः) नारियों के नयनों के कटाक्ष हैं, उसने (अङ्गे) शरीर में (अनङ्गेन) कामदेव के द्वारा (वल्गता) उन्मत्तता ने (शान्तानाम्) शांतचित्त वालों के (अपि) भी (मानसे) मन में (निःसंशयं) संशय रहित (वासः) निवास (चक्रे) किया था ।

चित्रं विचित्र - कूटापि जिनसद्म - परम्परा ।
मानोन्नता निहन्त्याशु यस्मिन् पापानि पश्यताम् ॥२२॥

सातिशय पुण्यशालिनी इस नगरी में सर्व भव्य-जन महान् पुण्यवान् हैं । देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति के प्रकर्ष को सूचित करने वाली यहाँ की जनता का रूप लावण्य है । इनके देखने मात्र से आनन्द उत्पन्न होता है अर्थात् सभी मनोहर हैं, सुंदर हैं, दर्शनीय हैं । ये सतत् सत्यभाषी हैं, मधुरालापी, सदाचारी, सरल और मन्दकषायी हैं । कामदेव को भी तृप्त करने वाले ये जन, विष्णु के समान भोगानुभव करते हैं अर्थात् धर्म-पुरुषार्थ पूर्वक काम-पुरुषार्थ का सेवन करते हैं ॥२०॥

यहाँ प्रमदाजन की रूपराशि-कान्ति अद्वितीय है । इनके नयन कटाक्ष, कामदेव को कभी उन्मत्त करने वाले हैं । साधारणजन की क्या बात, शांतचित्त साधुजन के मन को भी चंचल करने में समर्थ हैं ॥२१॥

इस नगरी के जिनालयों की छटा अनूठी ही है । चित्र-विचित्र कलाओं से अनेकों कूटशिखर बनाये गये हैं । विशाल और उन्नत जिनालयों के दर्शन करने से ऐसा प्रतीत होता है मानों ये ऊँचाई से शीघ्र ही दर्शकों के पाप पुञ्ज को नष्ट करने वाले हैं अर्थात् देखते ही दर्शकों के मानसिक कालुष्य को नष्टकर परम शांति प्रदान करते हैं ॥२२॥

---

१. कृष्णपक्षे सुदर्शनचक्रम् जनपक्षे श्रेष्ठदर्शनम् । २. कृष्णस्तु सत्यभामासक्तः नामैकदेशेन सर्वनाम्नोऽपि ग्रहणम्, जनास्तु सत्यभाषणासक्तः । ३. कृष्णस्तु प्रद्युम्नाख्यसुतमोदी जनाश्च काममोदिनः । ४. नारीणां कटाक्षच्छटया शान्तानामपि मनांसि चलितानीति भावः ।

अन्वयार्थ–(चित्रं) आश्चर्य है कि (यस्मिन्) जिस नगरी में (मानोन्नता) प्रमाण में विशाल और ऊँचे (विचित्रकूटा अपि) विचित्र/अनेक कूटों/शिखरों वाले (जिनसद्मपरम्परा) जिनालयों की पंक्तियाँ, (पश्यताम्) देखने वालों के (पापानि) पापों को (आशु) शीघ्र (निहन्ति) नष्ट करती हैं।

जालावलम्बि-शीतांशु-करस्पर्शः सुखावहः।
प्रत्येक्षेऽपि प्रिय-स्त्रीभी रतान्ते यत्र सेव्यते ॥२३॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (जालावलम्बि-शीतांशु-करस्पर्शः) झरोखों के आश्रय से चंद्रमा की किरणों का स्पर्श (सुखावहः) सुखदायी (प्रत्यक्षे अपि) प्रत्यक्ष में भी (प्रिय-स्त्रीभिः) प्रिय स्त्रियों के द्वारा (रतान्ते) रति क्रीड़ा के अंत में (सेव्यते) सेवन किया जाता है।

यान्तीनां यत्र सङ्केत-निकेतं निशि योषिताम्।
निजाभरणभाभार-प्रसरो विघ्नकारकः ॥२४॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (निशि) रात्रि में (सङ्केत-निकेतं) सङ्केत गृह को (यान्तीनां) आने-जाने वाली (योषिताम्) स्त्रियों के (निजाभरण-भाभार-प्रसरः) अपने आभूषणों की प्रभा के भार का फैलाव (विघ्नकारकः) विघ्नों को करने वाला है।

नित्यं सत्त्याग-सम्पन्ना जना यत्र विमत्सराः।
एकान्त-सञ्चितद्रव्यं लज्ञयन्ति धनाधिपम्[1] ॥२५॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (सत्त्याग-सम्पन्नाः) समीचीन त्याग से सहित वैभव सम्पन्न (जनाः) मनुष्य (नित्यं) सदा (एकांत-सञ्जितद्रव्यं) न्यायपूर्वक संचित धन को (विमत्सराः) मात्सर्य भाव से

यहाँ यत्र-तत्र क्रीड़ा गृह बने हुए हैं। उनमें अनेकों झरोखे हैं, उनसे चन्द्रमा की किरणें रात्रि में प्रविष्ट हो कामियों का स्पर्श कर उन्हें उत्तेजित कर शांति प्रदान करती हैं। अपनी-अपनी प्रियाओं के साथ रति सुखानुभव कर श्रमित, जन अन्त में चंद्रमा की सुखद शीतल किरणों का सेवन कर श्रम को दूर करते हैं। सुखोत्पादक चन्द्र-ज्योत्सना एवं शीतल-वायु, मिथुनों की श्रांति एवं क्लान्ति को दूर कर देती है ॥२३॥

इस नगरी का विलास वैभव अपूर्व है। यत्र-तत्र संकेत गृह बने हुए हैं। रात्रि में पण्यस्त्रियाँ/वेश्याएँ अथवा अन्य भोग स्त्रियाँ इन सांकेतिक निकेतनों में नाना आभरणों से सज्जित अलंकारों की प्रभा से भरित जाती-आती हैं। इनके निरंकुश संचार में आभरणों की प्रभा के भार का फैलाव विघ्नकारक प्रतीत होता है ॥२४॥

इस नगरी के नागरिक धर्म भावना और त्याग भाव से संयुक्त हैं। परस्पर मात्सर्य भाव से रहित हैं। न्याय-नीतिपूर्वक धनोपार्जन करते हैं, अतुल वैभव से कुबेर को भी तिरस्कृत करते हैं अर्थात् इनकी निरुत्सुक, त्यागमयी विभूति के समक्ष स्वयं धनद/कुबेर लज्ञानुभव करता है। संसार में कुबेर सर्वोत्तम धनिक माना जाता है, किन्तु इस वसन्तपुर के वैभव के समक्ष उसका भी मान गलित प्रतीत होता है ॥२५॥

---

१. कुवेरम्।

रहित (धनाधिपम्) धन के स्वामी कुबेर को (लज्ञयन्ति) शर्मिंदा करते हैं अर्थात् यहाँ के मनुष्य कुबेर से भी अधिक वैभवशाली हैं ।

पद्मरागप्रभाजाल-लिप्ताङ्गी मणि - कुट्टिमे ।
शङ्कते कामिनी यत्र कर्त्तुं कुंकुम - मण्डनम् ।।२६।।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (पद्म-राग-प्रभाजाल-लिप्ताङ्गी) पद्मरागमणि की प्रभा के समूह से लिपटी शरीर वाली (मणिकुट्टिमे) मणियों की पुतलिकाओं में (कामिनी) कामिनी स्त्री (कुंकुम-मण्डनम्) केशर के तिलक को (कर्त्तुं) करने के लिए (शङ्कते) शंका करती थी ।

भुजङ्ग-सङ्गतो यस्य न समश्चन्द्रशेखरः ।
बभूव भूपतिस्तत्र नाम्ना श्रीचन्द्रशेखरः ।।२७।।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (भुजंगसङ्गतः) सर्प से सहित (चन्द्रशेखरः) मस्तक में है चन्द्रमा जिसके ऐसे शिवजी (यस्य) जिसके (समः न) समान नहीं थे (तत्) वह (नाम्ना) नाम से (श्रीचंद्रशेखरः) लक्ष्मी से सम्पन्न चंद्रशेखर नाम का (भूपतिः) राजा (बभूव) हुआ ।

नूनं निवेशिता कान्तिस्तत्तनौ[1] विधिना पुरा ।
मध्यादिन्दोः कथं तत्र कलङ्क-किणतान्यथा ।।२८।।

अन्वयार्थ–(पुरा) पहले (विधिना) ब्रह्मा द्वारा (इन्दोः) चन्द्रमा के (मध्यात्) बीच से (कान्तिः) कान्ति/प्रभा (तत्तनौ) उस राजा के शरीर में (निवेशिता) डाली गई (नूनं) निश्चय से (अन्यथा) यदि ऐसा नहीं होता तो (तत्र) वहाँ चन्द्रमा में (कलङ्कक्रिणता) कलंक का चिन्ह (कथं) कैसे होता ?

बभूव भुवने यस्य कीर्तिः कुन्देन्दुनिर्म्मला ।
दिगङ्गना यया रेजुः सहारलतिका इव ।।२९।।

[वसंतपुर के चन्द्रशेखर राजा का वर्णन]

जहाँ पद्मरागमणि की कान्ति से द्योतित अङ्ग वालीं मणिमय कृत्रिम पुत्तलिकाएँ बनीं हैं, जिनको देखते ही कामीजन शंकाकुल हो जाते हैं, उन्हें यथार्थ कामिनी समझते हैं; सोचते हैं ये साक्षात् रमणियाँ कुंकमार्चन कर अपने मुख की शोभा बढ़ा रही हैं ।।२६।। चन्द्रशेखर-महादेव को कहा जाता है । उस नगरी में इसे भ्रमित करने वाला चन्द्रशेखर नाम का राजा हुआ । यह वस्तुतः शिवजी की भी अवहेलना करने वाला यथा नाम तथा गुण संपन्न हुआ ।।२७।।

राजा के शरीर की कान्ति नामकर्मरूप विधाता ने अद्वितीय बनायी थी, यही नहीं प्रत्येक आङ्गोपाङ्ग की रचना करने में मानो चंद्रमा की समस्त कलाओं का निचोड़ लेकर प्रयोग किया था; अन्यथा चंद्रमा के मध्य स्थित कलङ्क यहाँ भी आ जाता ? किंतु उस कलङ्क से चंद्रशेखर नृपति सर्वथा रहित था । अभिप्राय यह है कि चंद्रमा तो कलंक सहित होता है परन्तु राजा चंद्रशेखर निष्कलंक सौंदर्य सम्पन्न था ।।२८।।

उस राजा की कीर्ति, श्वेत कुन्दपुष्प की सुवासना एवं पूर्ण शुभ्र चंद्रमा की चाँदनी के समान

१. नृपशरीरे ।

अन्वयार्थ–(भुवने) संसार में (यस्य) जिस राजा की (कीर्तिः) यशस्कीर्ति (कुन्देन्दुनिर्म्मला) कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान निर्मल थी (यया) जिससे (दिगङ्गना) दिशारूपी स्त्री (सहार-लतिका इव) हार सहित लता के समान (रेजुः) सुशोभित हुई।

विच्छिन्नमण्डलाभोगा विकला क्षणनाशिनी।
यस्यारिसंहतिर्जाता मूर्त्तिरिन्दोरिवादिमा ॥३०॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस राजा का (अरिसंहतिः) शत्रुओं का समूह (विच्छिन्नमण्डलाभोगा) नष्ट हो गया है मंडल का विस्तार जिसका ऐसे (विकला) अपूर्ण-सी (क्षणनाशिनी) क्षणभर में नष्ट हो जाने वाली (आदिमा) आदि में उत्पन्न होने वाली (इन्दोः) चंद्रमा की (मूतिः) मूर्ति/प्रतिबिंब के (इव) समान (जाता) हो गया।

तीव्र - प्रताप - सम्पन्नो यो जगत्तापनाशनः।
अविग्रहोऽपि सर्वाङ्ग-सौन्दर्य - जितमन्मथः[1] ॥३१॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (तीव्र-प्रताप-सम्पन्नः) तीव्र प्रकृष्ट संताप से सहित होता हुआ भी (जगत्तापनाशनः) जगत के संताप को नष्ट करने वाला था (अविग्रहः अपि) शरीर रहित होकर भी (सर्वाङ्ग-सौन्दर्य-जितमन्मथः) सम्पूर्ण शारीरिक सौन्दर्य से कामदेव को जीतने वाला था।

कामार्थयोस्तथा भूपो यः कदापि न मोदते।
जिनोदिते यथा धर्म-मार्गे नित्यमतन्द्रितः[2] ॥३२॥

निर्मल दिग्दिगन्त में व्याप्त थी। संसार में मात्र व्याप्त ही नहीं थी अपितु दिशारूपी बंधुओं ने उसे अपने गले का सुंदर हार बनाकर गले में धारण कर लिया था। जिससे वह सुशोभित हो रही थी अर्थात् कण्ठहार के समान राजा का यश दिशाओं ने धारण किया था ॥२९॥

इस राजा का शत्रु समूह सर्वथा विच्छिन्न था, कहीं भी कोई समूह बनाकर राजा के प्रति निन्दा आदि व्यवहार नहीं करते थे। शत्रु सेना स्वयं दूज के चाँद के समान विकल छिन्न-भिन्न हो जाती अर्थात् राजा के बल पौरुष के समक्ष शत्रुगण हतप्रभ हो गये थे ॥३०॥

यद्यपि चंद्रशेखर नृपति का प्रताप अद्वितीय था किन्तु उस में संताप नहीं था अर्थात् आतंक रहित प्रभुत्व होने से संपूर्ण प्रजा का संताप नष्ट करने वाला था। इस श्लोक में दो अर्थ वाले शब्दों के माध्यम से विरोध जैसा मालूम पड़ता है, अतः विरोधाभास अलंकार है किन्तु दूसरा अर्थ विचार करने पर विरोध दूर हो जाता है। वह इस प्रकार है कि जो प्रकृष्ट ताप से सहित है, वह जगत के ताप को कैसे नष्ट कर सकता है? यहाँ तीव्र-प्रताप-सम्पन्नः शब्द का दूसरा अर्थ महा तेजस्वी करने पर वह राजा महाप्रतापी था, अतः जगत के क्लेश को शान्त करने में समर्थ था इसी तरह से जो स्वयं शरीर से रहित है, वह सर्वाङ्ग सौन्दर्य से कामदेव को कैसे जीत सकता है? यहाँ भी अविग्रह शब्द का दूसरा अर्थ कलह रहित करने पर विरोध का परिहार हो जाता है, वह राजा शत्रु विहीन होने से कलह रहित होकर भी शारीरिकरूप से कामदेव को जीतने वाला था ॥३१॥

---

१. अत्र विरोधाभासालङ्कारः। २. तन्द्रारहितः।

अन्वयार्थ–(यः) जो (भूपः) राजा (कामार्थयोः) काम और अर्थ दोनों पुरुषार्थों में (तथा) उस तरह (कदापि) कभी भी (न मोदते) हर्षित नहीं होता था (यथा) जैसे (जिनोदिते) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित (धर्ममार्गे) धर्ममार्ग में (नित्यं) सदा (अतन्द्रितः) आलस रहित प्रसन्न रहता था।

राजविद्याश्चतस्त्रोऽपि भासयामास शेमुषी[1] ।
विभेव भास्वतो[2] यस्य ककुभः[3] सहसंभवाः ॥३३॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस राजा की (शेमुषी) बुद्धि (चतस्रः अपि) चारों प्रकार की (राजविद्याः) राजा सम्बन्धी विद्याओं से (ककुभः सहसंभवः) दिशाओं के साथ में होने वाली (भास्वतः) सूर्य की (विभा इव) कान्ति के समान (भासयामास) प्रकाशित हो रही थी ।

[4]प्रिप्रिये प्रणतानन्त-सामन्तैः स तथा न हि ।
यथा स्वयं जगद्वन्द्य-मुनीन्द्र-पद-वन्दनैः ॥३४॥

अन्वयार्थ–(प्रणतानन्त-सामन्तैः) अनेक बार प्रणाम करने वाले सामन्तों से (सः) वह राजा (तथा) उस तरह (न हि प्रिप्रिये) प्रसन्न नहीं हुआ था (यथा) जैसे (स्वयं) खुद (जगद्वन्द्य-मुनीन्द्र-पदवन्दनैः) जगत के द्वारा वन्दना करने योग्य मुनियों के चरणों की वन्दना से होता था ।

ईर्ष्या स्वभावतः स्त्रीणा-मिति मिथ्या कृतं श्रिया ।
मेदिनी-सुखसक्तेऽपि यत्तत्र रसिका स्वयम् ॥३५॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (स्त्रीणां) स्त्रियों के (स्वभावतः) स्वाभाविकरूप से (ईर्ष्या) ईर्ष्या भाव होता है (इति) इस प्रकार की लोकोक्ति को (श्रिया) लक्ष्मी ने (मिथ्याकृतं) असत्य किया था (यत्) जो (मेदिनी-सुखसक्ते अपि) पृथ्वी संबंधी सुख में आसक्त होने पर भी (स्वयं रसिकाः) अपने आप में विद्या का अनुरागी भी था अर्थात् वह राजा वैभवशाली होकर भी विद्या रसिक था ।

इस भूपति के काम और अर्थ दोनों पुरुषार्थ होड़ लगाये बढ़ रहे थे। किंतु राजा इनमें मुग्ध न होकर जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित यथार्थ जिनधर्मरूप पुरुषार्थ की सिद्धि में ही सतत तत्पर रहता था। प्रमाद रहित जिनधर्म के मार्ग में आरूढ़ रहता हुआ नाना प्रकार से धर्म मार्ग का द्योतन करता था ॥३२॥ चारों राज विद्याएँ १. प्रान्वीक्षिकी (विज्ञान), २. वेदत्रयी, ३. वार्ता (अर्थशास्त्र), ४. दण्डनीति (राजनीति) पूर्णतः प्रकाशित हो रही थीं । वह अपनी राजकीय विद्याओं का भी पूर्ण जानकार था इसकी बुद्धि जिस प्रकार सूर्य अपने उदय से दिशाओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समस्त विद्याओं को प्रकाशित करती थी ॥३३॥

राजा में नम्रता भी खूब थी । इसे अपने चरणों में नमते हुए सामंतों को देखकर उतनी खुशी न होती थी जितनी कि जगत् के एक हितु संत साधुओं के चरणों में स्वयं नमते हुए होती थी ॥३४॥

संसार में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि स्त्रियों में स्वभाव से ईर्ष्या होती है अर्थात् एक दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकतीं किंतु इसकी राजलक्ष्मी ने इस चर्चा को मिथ्या/असत्य कर दिया था, क्योंकि इस राजा के लक्ष्मी और सरस्वती एक साथ निवास करती थी ॥३५॥

---

१. बुद्धिः । २. रवेः । ३. दिशः । ४. प्रसन्नोऽभवत् ।

स्वरूप - सम्पदा जिग्ये यया मदनसुन्दरी।
समभूद्वल्लभा तस्य नाम्ना मदनसुन्दरी ॥३६॥

अन्वयार्थ–(यया) जिसने (स्वरूप-सम्पदा) अपनी रूप राशी से (मदनसुन्दरी) कामदेव की पत्नी रति को भी (जिग्ये) जीत लिया था (तस्य) उस राजा की (मदन-सुन्दरी-नाम्ना) मदनसुंदरी नाम से प्रसिद्ध (वल्लभा) प्रिय पत्नी (समभूत्) हुई थी।

यस्याः सौन्दर्यमालोक्य विस्मिताः सुरयोषितः।
नूनमद्यापि नो जाताः सनिमेष-विलोचनाः ॥३७॥

अन्वयार्थ–(यस्याः) जिसके (सौन्दर्यं आलोक्य) सौन्दर्य को देखकर (सुरयोषितः) देवाङ्गनाएँ (विस्मिताः) विस्मित थीं (नूनम्) नियम से (अद्यापि) आज भी (सनिमेष-विलोचनाः) उन्मेष सहित लोचन वाली (नो जाताः) नहीं हुईं अर्थात् आज भी देवाङ्गनाओं की पलकें नहीं झपकतीं।

सर्वाङ्ग - रमणीयाङ्ग्या व्यधानं विभूषणैः।
कोमलाङ्ग्याः कृतं कान्तेर्यस्याः सारङ्गचक्षुषः[1] ॥३८॥

अन्वयार्थ–(सर्वाङ्ग-रमणीयाङ्ग्याः) सर्वाङ्ग सुंदर शरीर वाली (कोमलाङ्ग्याः) कोमल अंगों वाली (सारङ्ग-चक्षुषः) मृगनयनी (यस्याः) जिसकी (कांतेः) कान्ति का (विभूषणैः) विविध आभूषणों के द्वारा (व्यवधानं कृतं) व्यवधान किया गया था अर्थात् वह स्वतः इतनी सुंदर थी कि आभूषणों के द्वारा उसकी कान्ति में वृद्धि न होकर आभूषणों ने व्यवधान ही उत्पन्न किया था।

लीला - कमलमुल्लंघ्य यस्या मुखसरोरुहे।
निपपात महामोदा-दिन्दिन्दिर - परम्परा[2] ॥३९॥

इस राजा की प्रिय पत्नी मदनसुंदरी थी। यह राजा को अत्यंत प्रिय थी। इसने अपनी रूप राशि से कामदेव की पत्नी रति–मदनसुंदरी को भी जीत लिया था अर्थात् मदनसुंदरी यथा नाम तथा गुण थी ॥३६॥

इसके उपमातीत सौंदर्य को देखकर कल्पना चतुर कविगण तो यहाँ तक अनुमान लगाते थे कि देवाङ्गनाएँ जो निमेष रहित अपलक नेत्रवाली हैं वे इसी के रूप को देखकर आश्चर्य से आँखें फाड़े ही रह गईं ॥३७॥

उसका प्रत्येक अङ्ग स्वभाव से ही सुंदर था, आभूषणों के द्वारा उसका सौंदर्य नहीं बढ़ता था अपितु आभूषण उसकी शोभा में व्यवधान स्वरूप ही थे। ऐसी सुन्दरता पञ्च परमेष्ठी की भक्ति से प्राप्त होती है ॥३८॥

उस रानी के मुखरूपी कमल पर क्रीड़ा कमल को छोड़कर अत्यंत हर्ष से भौरों की पंक्ति पड़ रही थी अर्थात् उसका मुख कमल पुष्प की सुगंधी के समान सुवासित था जिससे उसके मुखरूपी कमल पर भौरों की पंक्तियाँ मंडराती थीं ॥३९॥

---

१. मृगलोचनायाः। २. भ्रमरश्रेणिः।

अन्वयार्थ–(यस्याः) जिस रानी के (मुख-सरोरुहे) मुखरूपी कमल पर (लीला-कमलं) क्रीड़ा कमल को (उल्लंघ्य) छोड़कर (महामोदात्-इन्दिन्दिर-परम्परा) अत्यंत हर्ष से भौरों की पंक्ति (निपपात) पड़ रही थी।

यस्या मुखेन्दुना साम्यं मन्ये प्रापयितुं शशी।
क्रियते [1]कीर्यतेऽद्यापि धात्रा[2] धौतान्यपक्षयोः ॥४०॥

अन्वयार्थ–(मन्ये) मैं मानता हूँ कि (यस्याः) जिस रानी के (मुखेन्दुना) मुखरूपी चंद्रमा से (साम्यं) समानता को (प्रापयितुं) प्राप्त करने के लिए (धात्रा) ब्रह्मा के द्वारा (अद्यापि) आज भी (शशी) चंद्रमा का (धौतान्यपक्षयोः) शुक्लपक्ष/कृष्णपक्ष में (कीर्यते) परिवर्तन/गमन (क्रियते) कराया जाता है।

दधाना नवलावण्यं प्रवालाधरपल्लवा।
शृङ्गारवारिधेर्वेला विधिना [3]विहितेव या ॥४१॥

अन्वयार्थ–(या) जो (नव-लावण्यं) नवीन लावण्य को (दधाना) धारण करने वाली (प्रवालाधर-पल्लवा) मूंगा के समान ओंठरूपी पत्तों वाली उसे (विधिना) विधाता ने (शृंगार-वारिधेः-वेला) शृंगाररूपी समुद्र की लहर के (इव) समान (विहिता) बनाया था।

यया मुक्ताभिरामान्त-निर्म्मला गुणसङ्गता।
हृदि हारलतेवोच्चैः सद्दृष्टिर्निदधे परा[4] ॥४२॥

अन्वयार्थ–(यया) जिस रानी ने (मुक्ताभिरामान्तर्निर्म्मला) मालापक्ष में मोतियों से सुन्दर भीतर में स्वच्छता वाली रानीपक्ष में मुक्त जीवों के ध्यान की लीनता से निर्मल हृदय वाली (गुण-संङ्गता) मालापक्ष में उत्तम धागे से सहित, रानीपक्ष में दया, दाक्षिण्य/उदारता आदि गुणों से युक्त (हृदि) हृदय में (उच्चैः) ऊपर कंठ में (हारलता इव) हाररूपी लता के समान (परा सद्दृष्टिः) उत्कृष्ट निर्मल सम्यग्दर्शन व सुन्दर नेत्रों को (निदधे) धारण किया था।

नयनाली न रेमाते[5] तां विहाय महीभृतः।
स्वभाव-सुकुमाराङ्गीं [6]माकन्दस्येव मञ्जरीम् ॥४३॥

उसका मुख, चन्द्र-कान्ति से बढ़कर था। चंद्रमा अपने भ्रमण से शुक्ल और कृष्ण पक्ष करता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस महादेवी के मुख की समानता को पाने के प्रयास में ही वह इस प्रकार घूमता रहता है ॥४०॥

नवीन लावण्य को धारण करने वाली उसके दोनों अधर (ओठ) मूंगे के समान रक्त वर्ण थे। इसका रूप-लावण्य सुन्दरता के अन्तिम छोर को प्राप्त अर्थात् अनुपम था ॥४१॥

इसके हृदय में जिस प्रकार निर्मल बहुमूल्य मोतियों का गुंफित हार शोभित होता था उसी प्रकार इसके चित्त में मुक्त स्वरूप में स्थित आत्माओं के ध्यान से निर्मल गुणों से विशिष्ट सम्यग्दर्शन व सुन्दर नेत्रों से भी शोभित होती थी ॥४२॥

राजा के नयनरूपी भ्रमर, स्वभाव से कोमलाङ्गी, सुकुमारी को प्राप्त कर अन्यत्र जाना नहीं

---

१. विक्षिप्यते। २. विधिना। ३. कृता। ४. उत्कृष्टा। ५. रमेतेस्म। ६. आम्रस्य।

अन्वयार्थ–(माकन्दस्य मञ्जरीम्) आम की मन्जरी के (इव) समान (महीभृतः) राजा की (नयनाली) नयनरूपी भौंरों की पंक्ति (स्वभावसुकुमाराङ्गी) स्वभाव से सुंदर/कोमल अङ्गों वाली (तां) उस रानी को (विहाय) छोड़कर अन्यत्र (न रेमाते) नहीं रमती थी।

अथ तत्रैव सद्धर्म-नीर-निर्धौत-पातकः।
जीवदेव इति श्रेष्ठी बभूव वणिजां पतिः ॥४४॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (तत्र) वहाँ (एव) ही (सद्धर्म-नीर-निर्धौत-पातकः) समीचीन धर्मरूपी जल से धो लिया है पाप को जिसने ऐसा (जीवदेव इति) जीवदेव इस नाम का (वणिजां पतिः) वैश्यों का स्वामी (श्रेष्ठी) सेठ (बभूव) हुआ था।

नार्थानां बहुभेदानां सङ्ख्यानं यस्य वेश्मनि।
विज्ञातं वाग्विलासे वा[1] संप्रकाशे महाकवेः ॥४५॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके (वेश्मनि) घर में (बहुभेदानां) बहुत प्रकार के (अर्थानां) पदार्थों की (सङ्ख्यानं) संख्या (न) नहीं थी अर्थात् उसका घर अनेक प्रकार के पदार्थों से परिपूर्ण था (वाग्विलासे) वचनमय विलास के (संप्रकाशे) प्रकट होने पर (महाकविः वा) महाकवि के समान (विज्ञातं) जान पड़ता था।

पूजया जिननाथाना-मतिथीनां च सेवया।
दीनादिकृपया चापि यत्समोऽजनि नापरः ॥४६॥

अन्वयार्थ–(जिन-नाथानाम्) जिनेन्द्र भगवान की (पूजया) पूजा से (च) और (अतिथीनां) अतिथियों की (सेवया) सेवा से (चापि) और (दीनादि-कृपया) दीन दुखियों की दया सहायता से (यत् समः) जिसके समान (अपरः) दूसरा (न अजनि) उत्पन्न नहीं हुआ था।

असत्यवचनं लेभे जिह्वाग्रे यस्य नास्पदम्।
मानसे वा महासत्यं दुराचार- विजृम्भिणाम् ॥ ४७॥

चाहते थे और आम्र मञ्जरी के समान रानी की रूप राशि के पान करने में मत्त (भौंरा) की भाँति राजा की दृष्टि इसी की ओर लगी रहती थी ॥४३॥

[वसंतपुर के जीवदेव सेठ का वर्णन]

इसी नगरी में जीवदेव नामक श्रेष्ठी था यह वणिकपति अर्थात् व्यापारियों में सर्वोत्तम धनाढ्य था। सद्धर्मरूपी निर्मल जल से इसने अपने पाप पङ्क का प्रक्षालन किया था अर्थात् अत्यन्त धर्मात्मा था। निरन्तर धर्म ध्यान में लीन रहता था ॥४४॥ इसके शुभोदय से असंख्य पदार्थों से इसका गृह शोभित था। बोलने की कला के कौशल में महाकवि के समान जान पड़ता था ॥४५॥

वह सेठ प्रतिदिन भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा और अतिथियों की सेवा करता था। दीन दरिद्री व दुःखी लोगों को दया भाव से मुँह माँगा दान देता था, इसलिए इसकी बराबरी इस गुण में कोई भी उस नगर का धनाढ्य नहीं कर सकता था ॥४६॥

१. अत्र वा इति शब्द इवार्थे।

अन्वयार्थ–(यस्य) जिस सेठ की (जिह्वाग्रे) जीभ के अग्र भाग पर (असत्यवचनं) असत्य वचन (आस्पदम्) स्थान को (न लेभे) प्राप्त नहीं हुआ था (दुराचार-विजृम्भिणाम्) दुराचार को फैलाने वाले के विषय में जिसके (मानसे) मन में (महासत्यं) महान्-सत्य ही (लेभे) प्राप्त था।

निरन्तर - सदाचार- नीरधाराभिषेकतः।
ववृधे विदुषा येन शश्वत्सज्जनता-लता ॥४८॥

अन्वयार्थ–(निरन्तर-सदाचार-नीरधाराभिषेकतः) हमेशा सदाचरणरूपी जल की धारारूप अभिषेक से (येन विदुषा) जिस विद्वान् सेठ ने (शश्वत्) सदा (सज्ञनता-लता) सज्ञनतारूपी लता को (ववृधे) बढ़ाया था।

सद्मानि येन जैनानि कारितानि विरेजिरे।
सुधा-सितानि तुङ्गानि मूर्तिमन्ति यशांसि वा ॥४९॥

अन्वयार्थ–(येन) जिस सेठ ने (सुधा-सितानि) चूना से सफेद (तुङ्गानि) ऊँचे (जैनानि सद्मानि) जिनेन्द्र भगवान सम्बन्धी मंदिर (कारितानि) बनवाये थे, इससे वह (मूर्तिमंति) मूर्तिमान (यशांसि वा) यश के समान (विरेजिरे) सुशोभित हुआ था।

भोगभौमं स्वभोगेन धनदं धनसम्पदा।
यो जिगाय महाभागो [1]याचकामर-भूरुहः ॥५०॥

अन्वयार्थ–(याचका-मर-भूरुहः) याचक-जनों के लिए कल्पवृक्ष के समान इच्छित वस्तु देने वाले (यः महाभागः) जिस महाभाग्यशाली ने (स्वभोगेन) अपने भोगोपभोग के द्वारा (भोग-भौमं) भोगभूमि को और (धनसम्पदा) धन संपदा से (धनदं) कुबेर को (जिगाय) जीता था।

जीवञ्जसेति विख्याता [2]तस्यासीत्सहचारिणी।
यथा ज्योत्स्ना शशाङ्कस्य दया संयमिनो यथा ॥५१॥

यह सदैव सत्य भाषण करता था, मिथ्या भाषण कभी सेठ की जिह्वा का स्पर्श ही नहीं कर सका। दुराचारी के साथ भी अनुचित व्यवहार नहीं करता था, मन सदैव शुभ परिणामों से पवित्र रहता था ॥४७॥ उस विद्वान् सेठ ने निरन्तर सदाचाररूपी सलिल की धारा से अभिसिंचित सज्ञनतारूपी लता का विस्तार किया था अर्थात् सेठजी सदाचारी व सज्ञन थे ॥४८॥ इस श्रेष्ठी ने विशाल उत्तुंग अनेक जिनालयों का निर्माण कराया, ये जिनभवन अत्यंत शोभा युक्त थे, शुभ्र वर्ण के थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों इस (सेठ का) पुण्य से वर्द्धित यश ही मूर्तिमानरूप धारण कर अटल खड़ा है, व्याप रहा है ॥४९॥

इसने अपने भोगों से भोगभूमि को, धन सम्पदा से कुबेर को और याचकों को इच्छित दान देने से कल्पवृक्षों को जीत लिया था अर्थात् वह सेठ भोगवान्, सम्पत्तिशाली, महादानी था ॥५०॥

[जीवञ्जसा सेठानी का वर्णन]

इस सेठ के जीवञ्जसा नाम की परम सुंदरी पत्नी थी, यह चन्द्रमा की चाँदनी के समान सुंदर

---

१. याचकेभ्यः कल्पतरुः। २. प्रिया।

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (शशाङ्कस्य) चंद्रमा की (ज्योत्स्ना) चाँदनी (यथा) और जैसे (संयमिनः) संयमी मुनि के (दया) दया होती है वैसे ही (तस्य) उस सेठ की (जीवञ्जसा इति) जीवञ्जसा इस नाम से (विख्याता) प्रसिद्ध (सहचारिणी) जीवनसंगनी/प्रिय पत्नी (आसीत्) थी।

विशुद्धोभयपक्षा या राजहंसीव मानसम् ।
मुमोच तस्य न स्वच्छं गम्भीरञ्च कदाचन ॥५२॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस सेठ की (विशुद्धोभयपक्षा) माता-पिता दोनों पक्षों से शुद्ध (मानसम्) मनरूपी मान-सरोवर को (राजहंसी इव) राजहंसी के समान और उसने (कदाचन) कभी भी (स्वच्छं गम्भीरञ्च) स्वच्छता और गम्भीरता को (न-मुमोच) नहीं छोड़ा था ।

खनिरौचित्यरत्नानां विनय - द्रुम - मञ्जरी[1] ।
सतीव्रत-पताकेव पश्यतां मोहनौषधिः[2] ॥५३॥

अन्वयार्थ–(औचित्यरत्नानां खनिः) वह सद्गृहणियों के उचित गुणरूपी रत्नों की खानि थी (विनयद्रुम-मञ्जरी) विनयरूपी वृक्ष की लता थी (सतीव्रतपताका-इव) पतिव्रत धर्मरूपी ध्वजा के समान (पश्यतां) देखने वालों को (मोहनौषधिः) मोहने वाली औषधि के समान वश में करने वाली थी ।

केलिकोपान्तरायं स भुञ्जानः सुखमुत्तमम् ।
दिनानि गमयामास धर्म्मार्थार्जनकोविदः ॥५४॥

अन्वयार्थ–(धर्मार्थार्जनकोविदः) धर्म और अर्थ पुरुषार्थ के उपार्जन में चतुर (सः) वह सेठ (केलि-कोपान्तरायं) रतिक्रीड़ा के समय क्रोध के अन्तराय/व्यवधानरूप (उत्तमसुखम्) उत्तमसुख को (भुञ्जानः) भोगता हुआ लीलापूर्वक (दिनानि) दिनों को (गमयामास) व्यतीत करता था ।

गृहीत - गन्ध - पुष्पादि प्रार्चना सपरिच्छदा[3] ।
अथैकदा जगामासौ प्रातरेव जिनालयम् ॥५५॥

और संयमीजनों के समान दयालु थी ॥।५१॥ दोनों कुलों को विशुद्ध करने वाली शुभ भावना में तत्पर मनरूपी मानसरोवर में राजहंसी के समान सेठानी ने कभी भी हृदय की गम्भीरता और स्वच्छता को नहीं छोड़ा था ॥५२॥ वह सद्गृहणियों के उचित गुणरूपी रत्नों की खानि थी, विनयरूपी वृक्ष की मंजरी सदृश थी, पतिव्रत धर्म की ध्वजा स्वरूप और देखने वालों को मोहित करने वाली औषधि थी । अभिप्राय यह है कि धन पाकर प्रायः व्यक्ति मदोन्मत्त अहंकारी और व्यसनी हो जाता है किन्तु इस सेठानी का जीवन इसका अपवाद था, अतुल वैभव होते हुए भी यह विनम्र थी, सीता के समान सती और सर्वजन प्रिय थी अर्थात् अपने मधुर व्यवहार से सबकी प्रियपात्रा थी ॥५३॥

इस प्रकार वह दम्पति निरन्तर निर्विघ्न नाना भोगों, क्रीड़ाओं और मनोरथों के साथ धर्म पुरुषार्थ की वृद्धि करते हुए अर्थोपार्जन सहित अपना काल सुखपूर्वक व्यतीत कर रहे थे ॥५४॥

---

१. अंकुरं लता । २. वशकारिणी । ३. सपरिवारा ।

अन्वयार्थ–(अथैकदा) और एक समय (असौ) वह जीवञ्जसा सेठानी (प्रातः एव) प्रातःकाल में ही (गृहीतगंधपुष्पादि-प्रार्चना) गंध-पुष्प आदि पूजा सामग्री को ग्रहण करते हुए (सपरिच्छदा) परिवार सहित (जिनालयम्) जिनमंदिर को (जगाम) गई ।

त्रिःपरीत्य ततः स्तुत्वा जिनांश्च चतुराशया ।
संस्नाप्य पूजयित्वा च प्रयाता यतिसंसदम् ।।५६।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (जिनान्) जिनेन्द्र भगवन्तों की (त्रिःपरीत्य) तीन प्रदक्षिणा देकर (चतुराशया) चतुर हृदय वाली उस सेठानी ने (स्तुत्वा) स्तुति करके (संस्नाप्य) अभिषेक कर (च) और (पूजयित्वा) पूजा करके (यति-संसदम्) मुनियों की सभा में (प्रयाता) गई ।

अस्ति यत्र समस्तार्थ-भासी दिव्यावधीक्षणः ।
गुणचन्द्रगणाधीशो भव्याम्भोरुहभास्करः ।।५७।।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (समस्तार्थभासी) समस्त तत्त्वार्थ को कहने वाले (दिव्यावधीक्षणः) दिव्य अवधिज्ञानरूपी लोचन को धारण करने वाले (गुणचन्द्र-गणाधीशाः) मुनियों के नायक गुणचन्द्र नाम के आचार्य विराजमान थे, जो (भव्याम्भोरुह-भास्करः) भव्य जीवरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे ।

तं ससंघं ततो नत्वा निविष्टा निकटे ततः ।
कथ्यमानां प्रसङ्गेन कथां पौराणिकीं[1] तदा ।।५८।।
शुश्राव तां कृता यस्यां प्रशंसा पुत्रतः स्त्रियाम्[2] ।
अपुत्राणां प्रबन्धेन निन्दोत्पत्तिरपि ध्रुवा ।।५९।।युग्मम्।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (ससंघं) संघ सहित (तं) उन आचार्य को (नत्वा) नमस्कार कर (निकटे) पास में (निविष्टा) बैठ गई (तदा) तब (ततः) उसके बाद (पौराणिकीं) पुराण से

[सेठानी का जिनालय जाना व पुत्रोत्पत्ति के बारे में पूछना]

एक दिन प्रातःकाल सेठानी जीवञ्जसा स्नानादि से निवृत्त होकर गंध-पुष्पादि पूजा की सामग्री लेकर सपरिवार जिनमंदिर में गई ।।५५।।

जिन मंदिर में पहुँचकर जिनेन्द्र भगवन्तों की मन, वचन एवं काय की शुद्धिपूर्वक, जन्म, जरा, मरण विनाशक तीन परिक्रमा लगाईं । उस चतुर हृदय वाली सेठानी ने स्तुति करके जिन प्रतिमाओं का अभिषेक कर पूजा की । तत्पश्चात् मुनियों की सभा में गई और धर्म सुनने की इच्छा से वह वहाँ नमस्कार पूर्वक बैठ गई ।।५६।।

वहाँ समस्त तत्त्वार्थ को कहने वाले, दिव्य अवधिज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले मुनियों के नायक श्री गुणचंद्र नाम के आचार्य विराजमान थे, वे भव्यरूपी कमलों को प्रमुदित करने के लिए सूर्य के समान थे ।।५७।।

---

१. पुराणसम्बन्धिनीं । २. षष्ठीबहुवचनं ।

सम्बन्धित (कथ्यमानां) कही जाने वाली (तां कथां) उस कथा को (यस्यां) जिस कथा में (पुत्रतः) पुत्र से (स्त्रियाम्) स्त्रियों की (प्रशंसा कृता) प्रशंसा की गई । (अपुत्राणां) पुत्र रहित स्त्रियों के (प्रबन्धेन) प्रकरण से (निन्दोत्पत्तिः अपि) निंदा की उत्पत्ति भी (ध्रुवा) नियम से (कृता) की गई थी (तां शुश्राव) उस कथा को उसने सुना ।

तां निशम्य महाशोक-शङ्कुनेव[1] हता हृदि ।
चिन्तयामास साध्वीति- वाष्पपूर्णविलोचना ॥६०॥

अन्वयार्थ–(तां निशम्य) उस कथा को सुनकर (महा-शोक-शंकुना) महाशोकरूपी कील से (हृदि) हृदय में (हता इव) घायल के समान (वाष्पपूर्णविलोचना) अश्रुपूरित नेत्रों से (साध्वी) वह सती (इति) इस प्रकार (चिन्तयामास) विचार मग्न हो गई ।

अशोकस्तबकेनेव यौवनेन ममामुना ।
रागिणा केवलं किन्तु न यत्र फलसम्भवः ॥६१॥

अन्वयार्थ–(किन्तु) परन्तु (केवलं) सिर्फ (अशोकस्तबकेन इव) अशोक वृक्ष के [फल फूलों से रहित] पत्तों के गुच्छों के समान (रागिणा) लालिमा युक्त राग से सहित (मम अमुना) मेरे इस (यौवनेन) यौवन से (किम्) क्या प्रयोजन ? (यत्र) जहाँ पर (फल-संभवः न) फल की प्राप्ति नहीं है।

वारिधेरिव लावण्यं विरसं मम सर्वथा ।
न यत्रापत्यपद्मानि तेन कान्त-जलेन किम् ॥६२॥

अन्वयार्थ–(मम) मेरा (लावण्यं) सौन्दर्य (वारिधेः इव) समुद्र के समान (सर्वथा) सब प्रकार से (विरसं) नीरस है (यत्र) जिसमें (अपत्य-पद्मानि) पुत्ररूपी कमल (न) नहीं हैं (तेन) उस (कान्त-जलेन किम्) कान्तिमान जल से क्या प्रयोजन है ।

नाममात्रेण सा स्त्रीति गुणशून्येन कीर्त्यते ।
पुत्रोत्पत्यानया पूता यथा शक्रवधूटिका[2] ॥६३॥

वह उन यतिराज की ससंघ वंदना, प्रणाम कर उनके समीप बैठ गई, धर्मोपदेश चल रहा था, उसी समय प्रसंग के अनुसार आचार्य परमेष्ठी एक पौराणिक कथा का वर्णन कर रहे थे । उस कथा में पुत्रवन्ती स्त्रियों की प्रशंसा और पुत्र विहीना स्त्रियों की निंदा का भी प्रकरण बतलाया । नियम से पुत्र विहीन नारी निंदा की पात्र होती है ऐसा उसने सुना ॥५८,५९॥

इस कथा को सुनकर जीवञ्जसा सेठानी का हृदय संतापरूपी कील से बिंध गया, उसके नयन अश्रुपूरित हो गये, मुख म्लान हो गया और वह चिन्तातुर हो शोक सागर में डूब गई ॥६०॥

वह विचारने लगी, ओह ! मेरा यह यौवन अशोक वृक्ष के समान मात्र सुंदर पल्लवों का गुच्छा है, यह रागियों को प्रेमोत्पादक है परन्तु पुत्र प्राप्तिरूप फल रहित होने से निष्प्रयोजन है ॥६१॥

मेरा सौंदर्य सागर के खारे जल के समान सब प्रकार से नीरस है । उस निर्मल जल से भरे सरोवर से भी क्या प्रयोजन है जिसमें कमल समूह न खिलें, उसी प्रकार मेरे इस सौंदर्य से क्या

---

१. कीलकेन । २. इन्द्रगोपा ।

अन्वयार्थ–(या) जो (पुत्रोत्पत्या) पुत्र की उत्पत्ति से (पूता न) पवित्र नहीं है (सा) वह (गुणशून्येन) गुण की शून्यता से (नाममात्रेण) नाम मात्र से (स्त्री इति) स्त्री है इस प्रकार (कीर्त्यते) कही जाती है (यथा) जैसे (शक्रवधूटिका) इन्द्रगोप एक कीट विशेष, वामी का धुँआ, इन्द्राणी ।

प्रसादोऽपि न मे भर्त्तुः शोभायै सूनुना विना ।
शब्दानुशासनेनेव[1][2] विद्वत्ताया विजृम्भितम्[3] ॥६४॥

अन्वयार्थ–(शब्दानुशासनेन विना) जैसे–व्याकरण शास्त्र के बिना (विद्वत्तायाः) विद्वत्ता का (विजृम्भितम्) विस्तार (न) नहीं होता, उसी तरह (मे) मेरे (भर्त्तुः) पति का (प्रसादः अपि) महल भी (सूनुना विना) पुत्र के बिना (शोभायै) शोभा के लिए (न) नहीं है ।

साहं मोहतमश्छन्ना निशेवोद्वेगदायिनी ।
दीयते यदि नो पुत्र-प्रदीपः कुलवेश्मनि ॥६५॥

अन्वयार्थ–(सा) वह (अहं) मैं (कुल-वेश्मनि) कुलरूपी घर में (पुत्रप्रदीपः) पुत्ररूपी दीपक (यदि नो दीयते) यदि नहीं देती हूँ तो (मोहतमश्छन्ना) मोहरूपी अंधकार से ढकी हुई (निशेवोद्वेगदायिनी) सेवन करने पर उद्‌वेग को देने वाली हूँ ।

चिन्तयति सा बाला कपोलन्यस्तहस्तका ।
पातयामास सभ्यानां नेत्रभृङ्गान् मुखाम्बुजे ॥६६॥

अन्वयार्थ–(कपोलन्यस्त-हस्तका) गाल पर रखे हैं हाथ जिसने ऐसी (सा) वह (बाला) युवति सेठानी (इति चिन्तयती) इस प्रकार विचार करती हुई (सभ्यानां) सभासदों के (नेत्रभृङ्गान्) नेत्ररूपी भौंरों को (मुखाम्बुजे) मुखरूपी कमल पर (पातयामास) गिराया अर्थात् सभासदों की दृष्टि

प्रयोजन है जिसमें पुत्ररूपी कमल उत्पन्न न हों ॥६२॥

पुत्र को उत्पन्न करना, नारी का गुण है, इसके बिना वह स्त्री केवल नाम मात्र की ही स्त्री है जैसे शक्र वधूटी (इन्द्रगोप) एक प्रकार का लाल कीड़ा और इन्द्राणी भी हुई तो क्या वह कुल वर्द्धन करने में समर्थ है अर्थात् नहीं अथवा सर्प की बांबी से भी निकलने वाली धूम को शक्रवधूटिका कहते हैं किन्तु उसमें वधु के गुण हैं क्या ? नहीं, नाम मात्र की शक्रवधूटिका है ॥६३॥ सेठानी जीवञ्जसा विचार करती हैं कि मेरे पति का महल भी पुत्र के बिना शोभा को प्राप्त नहीं होता है जिस प्रकार बिना व्याकरण के विद्वत्ता का विस्तार नहीं होता है द्वितीय अर्थ–जैसे सिर्फ व्याकरण शास्त्र के द्वारा विद्वत्पने का विस्तार नहीं होता वैसे ही पुत्र के बिना मेरे द्वारा घर का विस्तार, कुल परम्परा की वृद्धि, शोभा नहीं हो सकती ॥६४॥ मैं केवल मोह तम से आच्छन्न उद्वेगदायिनी ही हूँ क्योंकि कुल प्रकाशक दीप स्वरूप पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकी । घर का अंधकार पुत्र के द्वारा ही नष्ट होता है । मेरा सेवन कर पतिदेव का मात्र उद्वेग ही बढ़ेगा अतः मेरा जीवन व्यर्थ है ॥६५॥

सेठानी जीवञ्जसा पुत्र के न होने से इस तरह अपने मन में नाना तरह के संकल्प- विकल्प कर रही थी और अपने एक हाथ की हथेली पर कपोल रखे गर्म-गर्म श्वाँस छोड़ ही रही थी कि

---

१. शासनेनैव इति अन्य पाठः । २. व्याकरणशास्त्रेण इत्यर्थः । ३. प्रसरणं ।

सेठानी के मुख पर पड़ी।

पेतुर्यथायथा तस्याः सुभ्रुवो वाष्प-बिन्दवः।
भेजुस्तथातथा दुःखं मानसानि सभासदाम् ॥६७॥

अन्वयार्थ–(सुभ्रुवः) अच्छी भौंहों वाली (तस्याः) उस सेठानी की (वाष्पबिन्दवः) आँसुओं की बून्दें (यथा यथा) जैसे-जैसे (पेतुः) गिरीं (तथा तथा) वैसे-वैसे (सभासदां) सभासदों के (मानसानि) मन (दुखं) दुख को (भेजुः) प्राप्त हुए।

सभां विस्मयसम्पन्नां तां च दुःखभरालसाम्।
अथालोक्य जगादासौ कृपयेति यतीश्वरः ॥६८॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (दुःखभरालसाम्) दुख के भार से अलसाई (च) और (विस्मय-सम्पन्नां) विस्मय से भरी हुई (तां) उस (सभां) सभा को (आलोक्य) देखकर (असौ) यह (यतीश्वरः) मुनिराज (कृपया) दयापूर्वक (इति) इस प्रकार (जगाद) बोले।

विशुद्ध - हृदयेऽकार्षीः[1] शोकसागर - मज्जनम्।
मा वृथैव यतः शीघ्रं सफलास्ते मनोरथाः ॥६९॥
निशाकर-कराकार- कीर्तिव्याप्त - जगत्रयः।
गाम्भीर्यौदार्य्यशौण्डीर्य[2]-सौन्दर्यकुलमन्दिरम् ॥७०॥
त्रिवर्ग - रचना - सूत्र[3]- धारस्तव तनूरुहः[4]।
समग्र - गुण - माणिक्य रोहणाद्रिरिवापरः ॥७१॥
भद्रं भूषयिता भव्यो गगने भानुमानिव।
कुलं कतिपयैरेव वासरैः साधुवत्सले! ॥७२॥विशेषकम्॥

उसके उस उदासीनता भरे मुख पर सभा के लोगों की एकाएक दृष्टि जा पड़ी। बस! सभासदों का देखना था कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मेघवर्षा के कारण तालाबों के बांध टूट जाते हैं उसी प्रकार उसके हृदय सरोवर का बांध टूट गया उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह चली और टप-टप आँसू पृथ्वी पर गिरने लगे ॥६६॥

जैसे-जैसे सेठानी के अश्रु बिन्दु गिरे वैसे-वैसे वहाँ उपस्थित सभासदों के मन दुखी होने लगे अर्थात् सभा में चारों ओर शोक का वातावरण छा गया और उसके दुख से सभी दुखी हो गये ॥६७॥

आश्चर्य चकित सभा और दुःख के भार से पीड़ित सेठानी को देखकर परम कृपालु यतिराज आश्वासन देते हुए इस प्रकार दिव्यवाणी में बोले ॥६८॥

हे विशुद्धहृदय वाली, साधु वत्सले! तुम क्यों व्यर्थ में अपने को शोकरूपी सागर में स्नान कराती हो? वृथा ही क्लेश मत करो, तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही सफल होने वाला है, श्री ऋषिराज

---

१. मा कुरु/मा विधेहि, माङ् योगेऽडाटौ न भवतः २. शौर्यम्। ३. सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः। ४. पुत्रः।

अन्वयार्थ–(विशुद्ध-हृदये) हे विशुद्धहृदय वाली (साधुवत्सले) साधुवत्सल/सज्जनप्रिय तुम (वृथा) व्यर्थ में (एव) ही (शोकसागरमज्ञनम्) शोकरूपी सागर में स्नान (मा-अकार्षीः) मत करो (यतः) क्योंकि (कतिपय एव वासरैः) कुछ ही दिनों में (ते मनोरथाः) तुम्हारे मनोरथ (शीघ्रं) जल्दी ही (सफलाः) सफल होगें क्योंकि (तव) तुम्हारा (तनुरुहः) पुत्र (निशाकर-कराकार-कीर्ति-व्याप्त-जगत्रयः) चन्द्रमा की किरणों के समान कीर्ति से व्याप्त किया है तीनों जगत् को जिसने (गाम्भीर्यौदार्य्यशौण्डीर्य-सौन्दर्य-कुल-मन्दिरम्) औदार्य, शौर्य, गाम्भीर्य, वीरत्व और सौन्दर्य आदि गुण समूह का धाम (त्रिवर्ग-रचना-सूत्रधारः) धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों की रचना का सूत्रधार/मुखिया (समग्रगुणमाणिक्यरोहणाद्रिः इव) सम्पूर्ण गुणरूपी माणिक्य को धारण करने वाले रोहण पर्वत के समान (अपरः) दूसरा रोहण पर्वत (भद्रं) भद्र परिणामी (कुलम्) कुल को (भूषयिता) भूषित करने वाला (भव्यः) भव्य/सुन्दर (गगने) आकाश में (भानुमान् इव) सूरज के समान तेजस्वी होगा।

उल्लासं कमपि[1] प्राप तेन सा वचसा यतेः।
घर्मान्त - तोयदोन्मुक्त- तोयेनेव[2] लता तदा ॥७३॥

अन्वयार्थ–(घर्मान्त-तोयदोन्मुक्त-तोयेन) ग्रीष्मऋतु के अंत में आषाढ़ मास के मेघ से वर्षाये गये जल के द्वारा (लता इव) लता के समान (तदा) तब उन (यतेः) मुनिराज के (तेन) उस (वचसा) वचन से (सा) वह सेठानी (कमपि) कोई अवर्णनीय (उल्लासं) हर्ष को (प्राप) प्राप्त हुई।

महाविस्मय-सम्पन्ना सा शशंस सभां मुनिम्।
नत्वा ज्ञातयथाभावि-वृत्तान्ता साप्यगाद्गृहम् ॥७४॥

अन्वयार्थ–(ज्ञातयथा-भाविवृत्तान्ता) जाना है यथा योग्य आगे होने वाले वृत्तान्त को जिसने ऐसी (महाविस्मय-सम्पन्ना) महान् आश्चर्य से युक्त (सा) उस सेठानी ने (सभां शशंस) सभा की प्रशंसा की (अपि) और (मुनिं नत्वा) मुनिराज को नमस्कार कर (सा) वह (गृहम् अगाद्) घर चली गई।

कहने लगे, हे भद्रे ! तुम्हारा पुत्र चन्द्रमा के समान सुरूपवान्, तीनलोक व्यापी कीर्तिवाला, गाम्भीर्य, औदार्य, वीरता आदि गुणों से मण्डित, सौन्दर्य का घर, त्रिवर्ग का सूत्रधार अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को एक साथ वृद्धिंगत करने में निपुण, समग्र गुणयुत साक्षात् माणिक्य पर्वत के समान, गगन में जिस प्रकार सूर्य अपने प्रताप से समस्त दिशाओं को प्रकाशित/शोभित करता है उसी प्रकार कुछ ही दिनों में तुम्हारे कुल को शोभित करने वाला कुलभूषण, भद्र परिणामी पुत्र होगा ॥६९,७०,७१,७२॥

इस प्रकार उन साधु के उत्तम वचनों को सुनकर सेठानी को परमानंद हुआ, मन में उल्लास उमड़ा, मानों धूप से सूखी लता को शीतल मेघ जल मिल गया है अर्थात् ग्रीष्मऋतु की भीषण धूप से लताएँ कुम्हला जाती हैं वर्षाऋतु आते ही वृष्टि होने पर जल पाकर प्रफुल्लित हो जाती हैं, उसी प्रकार पुत्राभाव की पीड़ा से शोकाकुल सेठानी पुत्रोत्पत्ति सुनकर हर्षित हो उठी ॥७३॥

मुनिराज के वचनों से अपने भविष्य में होने वाले पुत्रोत्पत्ति के समाचार को जानकर महान्

---

१. अपूर्वं। २. आषाढे मेघोमुक्तजलेन।

किंवन्दत्या[1] तया चक्रे श्रेष्ठिनोऽपि मनस्तदा।
अनल्प - कालसम्पन्न- सफलाशेषवाञ्छितम् ॥७५॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (श्रेष्ठिनः अपि) सेठ ने भी (तया किंवदन्त्या) सेठानी के पुत्र होगा उस लोकवार्ता से (अनल्प-काल-सम्पन्न-सफलाशेषवाञ्छितम्) दीर्घकाल में सफल होने वाले संपूर्ण मनोवांछित पदार्थ की प्राप्ति में (मनः) मन को (चक्रे) किया/लगाया।

अथ केष्वपि जातेषु वासरेषु बभार सा।
गर्भ - मभ्रलवच्छन्न- भानुबिम्बमिवेन्द्रदिक्[2] ॥७६॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (सा) उस सेठानी ने (केषु अपि) कुछ ही (वासरेषु जातेषु) दिनों के व्यतीत होने पर (इन्द्रदिक्) पूर्वदिशा में (अभ्रलवच्छन्न-भानुबिम्बं इव) लघु मेघ के द्वारा ढँके हुए सूर्य बिम्ब के समान (गर्भम् बभार) गर्भ को धारण किया।

गुणानामिव भारेण गर्भस्थस्य शिशोस्तदा।
मन्दं मन्दं महीपीठे विचक्राम[3] मृगेक्षणा ॥७७॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (मृगेक्षणा) इस मृगनयनी सेठानी ने (गर्भस्थस्य) गर्भ में स्थित (शिशोः) बालक के (गुणानां इव) गुणों के समान (भारेण) भार से (मही-पीठे) पृथ्वीतल पर (मंदम् मंदम्) धीरे-धीरे (विचक्राम) विहार किया।

मलीमसमुखौ जातौ स्तनौ तस्याः समुन्नतौ।
तदुत्पादादिव स्वस्य मन्यमानावधः स्थितिम् ॥७८॥

अन्वयार्थ–(तदुत्पादात्) उस बालक के उत्पन्न गर्भ से (स्वस्य) अपनी (अधः स्थितिम्) निम्न अवस्था को (मन्यमानौ इव) मानते हुए की तरह (तस्याः) उस सेठानी के (समुन्नतौ) ऊँचे उठे हुए

आश्चर्य से भरी उस सेठानी ने उस धर्मसभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की और वह मुनिराज को नमस्कार करके घर चली गई ॥७४॥

शनैः-शनैः सेठानी को पुत्र प्राप्ति संबंधी किंवदन्ती चारों और फैल गई। सेठ ने भी सुना, कि अल्पकाल में ही हमारा मनोरथ सफल होगा। वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति की अभिलाषा किसे नहीं होती? सभी को होती है ॥७५॥

थोड़े दिनों के बाद सेठानी ने गर्भ धारण किया। वह जिस प्रकार प्रातःकाल में अरुणोदय से पहले गर्भस्थ सूर्य के प्रताप से पूर्वदिशा अधिक दीप्त होने लगती है उसी प्रकार गर्भ में आये हुए पुण्यात्मा पुत्र के गुणों से अधिक दीप्त होने लगी, उदरस्थ बालक के होने से उसके शरीर की एक विलक्षण शोभा हो गई ॥७६॥

मृगनयनी सेठानी गर्भ स्थित बालक के गुणों के भार से मानों बोझल हुई पृथ्वीतल पर धीरे-धीरे चलने लगी ॥७७॥

---

१. लोकवार्तया। २. प्राची। ३. विहरतिस्म।

(स्तनौ) दोनों स्तन (मलीमस-मुखौ जातौ) अग्रभाग में श्यामवर्ण हो गये ।

गर्भस्थ-यशसेवास्याः पाण्डुताजनि गण्डयोः ।
तेजसैव भ्रुवोश्चक्रे सोत्क्षेपं वचनक्षणे ।।७९।।

अन्वयार्थ–(गर्भस्थयशसा एव) गर्भस्थ शिशु के यश से ही मानो (अस्याः) इस सेठानी के (गण्डयोः) गालों में (पाण्डुता अजनि) पीलापन उत्पन्न हुआ (वचनक्षणे) बोलते समय (सा) उसने (भ्रुवोः) भौंहों के (तेजसा एव) तेज से ही बालक के तेज को (उत्क्षेपं) ऊपर (चक्रे) किया था । अर्थात् मानो बोलते समय भौंहों के उत्क्षेप से गर्भस्थ बालक के तेज को ही प्रकट कर रही थी ।

रोमराजिस्तदा तस्यास्तथाभूद्बहिरुद्गता ।
शङ्केऽहं पूर्वसन्ताप- शिखिधूमशिखेव[1] सा ।।८०।।

अन्वयार्थ–(अहं) मैं (शङ्के) आशंका करता यानी मानता हूँ (तदा) तब (तस्याः) उसकी (बहिः उद्गता) बाहर निकली हुई (रोमराजिः) रोमों की पंक्ति (तथा) उस तरह (अभूत्) हुई थी (इव) जैसे कि (सा) वह (पूर्वसन्तापशिखिधूमशिखा इव) पूर्व/पहले का संतापरूपी अग्नि का धुआँ ही मानों (बहिः उद्गता) बाहर निकल रहा हो ।

जृम्भारम्भो मुखे तस्या विशेषात्समजायत ।
उष्मणेव तदा तस्य महाभागस्य तेजसाम् ।।८१।।

अन्वयार्थ–(तदा) उस समय (तस्याः मुखे) उस सेठानी के मुख में (विशेषात्) विशेषरूप से (जृम्भारम्भः) जंभाई का आरंभ (तस्य महाभागस्य) उस भाग्यशाली बालक के (तेजसाम्) तेज की (उष्मणा इव) ऊष्मा के समान (समजायत) हो गई थी ।

पूजोत्सवे जिनेन्द्राणां दौहृदं विदधे सुधीः ।
प्रफुल्ल-वदनाम्भोजं बन्धुवर्गं च सर्वतः ।।८२।।

अन्वयार्थ–(सुधीः) उस बुद्धिमती ने (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्रों की (पूजोत्सवे) पूजा के उत्सव में (दौहृदं) दोहला को (च) और (बन्धुवर्गं) बंधु वर्ग को (सर्वतः) सब ओर से (प्रफुल्ल-वंदनाम्भोजं)

बालक के जन्म होने से अपनी निम्न अवस्था को मानते हुए की तरह, उस सेठानी के ऊँचे उठे हुए दोनों स्तनों का अग्रभाग श्यामवर्ण का हो गया ।।७८।।

उसके गण्डस्थल कपोल पीले पड़ गये मानों गर्भस्थ बालक का यश ही बाहर आकर बिखर गया हो । उसकी वचनावली के साथ चमकती भौंहो का क्षेप मानों बालक के तेज का द्योतन/प्रकट करता था ।।७९।। [जिनपूजा रूप दोहला को पूर्ण करना]

जीवञ्जसा सेठानी के शरीर की बाहर निकली हुई रोमावली ऐसी प्रतीत होती थी मानों पुत्राभाव की शोकरूपी अग्नि के धुआँ की पंक्ति ही मानों बाहर निकल रही हो ।।८०।।

वह बार-बार जंभाई लेने लगी । श्वास भी उष्ण आने लगी । मानों महाभाग्यशाली पुत्र के तेज से ही वह ऊष्ण हो गई हो ।।८१।। जिनेन्द्र भगवान की परमपूजा करुँ, नाना प्रकार पूजोत्सव मनाऊँ इस

१. दुःखाग्निधूमशिखा ।

मुखरूपी कमल की प्रफुल्लता को (विदधे) किया था ।

पूर्णेऽथ समये साध्वी प्रसूता सुतमुत्तमम् ।
प्राचीव भास्कराकारं प्रभाते बालभास्करम् ॥८३॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (समयेपूर्णे) समय के पूर्ण होने पर (साध्वी) उस पतिव्रता सेठानी ने (प्रभाते) प्रातःकाल में (भास्कराकारं) देदीप्यमान (बालभास्करम्) बाल सूर्य को (प्राची इव) पूर्व दिशा की तरह (उत्तमं सुतम्) श्रेष्ठ पुत्र को (प्रसूता) उत्पन्न किया ।

श्रेष्ठिना वाञ्छिता-दुच्चैरधिकं मुदितात्मना ।
दत्तं [1]वक्त्रमनालोक्य पुत्रजन्मनिवेदिनम् ॥८४॥

अन्वयार्थ–(मुदितात्मना श्रेष्ठिना) हर्षित मन वाले सेठ ने (पुत्रजन्मनिवेदिनम् वक्त्रं) पुत्र जन्म की सूचना देने वाले पुरुष के मुख को (अनालोक्य) देखे बिना (वाञ्छितात् अधिकं) चाह से अधिक (उच्चैः) ऊँचे स्तर का उत्तम द्रव्य (दत्तं) दिया ।

नृत्य-वादित्र-सङ्गीत-मय-माशु समन्ततः ।
तदादृत्या विनैवाशु तद्बभूव पुरं[2] तदा ॥८५॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (तत्पुरम्) वह पुर/नगर (तदादृत्या विना) उस सेठ के प्रयास के बिना (आशु) शीघ्र ही (समन्ततः) सब ओर से (नृत्यवादित्रसंगीतमयं) नृत्य, वादित्र, संगीत से व्याप्त (बभूव) हो गया ।

स न कोऽपि नरस्तत्र यो नानन्द-भरालसः ।
समभूद्याचको वापि यो न पूर्णमनोरथः ॥८६॥

प्रकार के दोहले उसे उत्पन्न हुए और समस्त बन्धु–वर्गों के प्रसन्नता से मुख कमल खिल उठे ॥८२॥

[जिनदत्त का जन्मोत्सव]

नवमास पूर्ण होने पर उस पतिव्रता सेठानी ने प्रातःकाल में देदीप्यमान बालकरूपी सूर्य को पूर्व दिशा की तरह उत्पन्न किया । सूर्य की लालिमा से जिस प्रकार रात्रि जन्य अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सबके मनोरथों को सिद्ध करने वाले तेजस्वी बालक को जन्म दिया ॥८३॥

हे श्रेष्ठिन् ! आपके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार की सूचना सुनकर सेठ महामुदित आनंद गात्र हो गया, उसके हर्ष की सीमा न थी, उसने आनन्दातिरेक से पुत्र प्रसव की सूचना देने वाले का मुख भी नहीं देखा, सुनने के साथ ही वाञ्छा से अधिक प्रचुर धन उसे प्रदान किया ॥८४॥ शीघ्र ही सेठ के परिश्रम के बिना ही पुत्र के जन्म से सारा नगर उत्सवमय हो उठा । सब जगह नृत्यकार नृत्य करने लगे, वादित्र बज उठे, संगीत होने लगा ॥८५॥

उस समय नगरी में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो आनंद विभोर न हो, न कोई ऐसा याचक था जिसका मनोरथ पूर्ण न हुआ हो अर्थात् सेठ अपने सदाचार से सर्वप्रिय था, उसके हर्ष से सभी

१. मुखम् । २. वसन्तपुरम् ।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (सः) वह ऐसा (कः अपि) कोई भी (नरः) मनुष्य (न) नहीं था (यः) जो (आनन्दभरालसः) आनंद के भार से भरा हुआ न हो (याचकः अपि) याचक भी (न समभूत्) ऐसा नहीं था (यः) जो (पूर्णमनोरथः न) पूर्ण मनोरथ न हुआ हो।

जातकर्म्म कृतं तस्य सोत्सवं सकलं ततः।
यथाक्रमं पुनश्चक्रे पूजयित्वा जिनेश्वरान् ॥८७॥
जिनदत्ताभिधां[1] तस्य बन्धुवृद्धैः समन्वितः।
कृतकृत्यमिवात्मानं मेनेऽसौ नैगमाधिपः[2] ॥८८॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तस्य) उस बालक का (सोत्सवं) उत्सव सहित (सकलं) सम्पूर्ण (जातकर्म्म कृतं) जन्म संबंधी क्रिया को किया (पुनः) फिर (जिनेश्वरान्) जिनवरों की (यथाक्रमम्) यथाक्रम से (पूजयित्वा) पूजा कर (असौ नैगमाधिपः) उस नगर श्रेष्ठि ने (बन्धुवृद्धैः) बन्धु और वृद्धों से (समन्वितः) सहित (तस्य) उस बालक का (जिनदत्ताभिधां) जिनदत्त यह नामकरण (चक्रे) किया (आत्मानं) और अपने आपको (कृतकृत्यम्) कृतकृत्य की (इव) तरह (मेने) माना।

ववृधे बन्धुपद्मानामानन्दं विदधत्परम्।
उपविन्दन्[3] कलाश्चित्रं-कोऽपि बालदिवाकरः ॥८९॥

अन्वयार्थ–(कः अपि बाल-दिवाकरः) वह कोई बालकरूपी सूर्य जिनदत्त भी (चित्रं कलाः) विचित्र प्रकार की कलाओं को (उपविन्दन्) प्राप्त करता हुआ (बन्धुपद्मानाम्) बन्धुरूपी कमलों के (परम् आनन्दम्) परम आनंद को (विदधत्) करता हुआ (ववृधे) बढ़ने लगा।

तत्यजेऽम्भोज-गर्भाभं तनुजातेन[4] शैशवम्।
शनैः शनैः सदाचार-पुरुषेणेव कैतवम्[5] ॥९०॥

अन्वयार्थ–(इव सदाचार-पुरुषेण) जैसे सदाचारी पुरुष के द्वारा (कैतवम्) कपट छोड़ दिया

झूम उठे। याचकों को किमिच्छक दान दिया, अतः सभी सफल मनोरथ हो गये ॥८६॥

[जातकर्म एवं नामकरण संस्कार]

सेठ जी जैनधर्म के पूर्णभक्त थे। सर्वज्ञ प्रणीत शासन के अनुसार प्रवृत्ति करना ही वे श्रेयस्कर और उत्तम समझते थे, इसलिये उन्होंने आगमानुसार अपने पुत्र के जातकर्म आदि संस्कार करा बड़े ठाट-बाट से जिनेन्द्र भगवान की पूजन कराई और अपने वृद्ध बंधु-बांधवों के साथ उन्होंने उस बालक का नाम जिनदत्त रखा ॥८७,८८॥

वह बाल रवि अपने बन्धुवर्गरूपी कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ नाना विचित्र कलाओं के कौशल के साथ वृद्धिंगत होने लगा ॥८९॥ जैसे सदाचारी पुरुष के द्वारा धीरे-धीरे मायाचारी का त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार जिनदत्त बालक ने कमल दल के समान आभा वाली शिशु अवस्था को छोड़कर बाल्यावस्था में प्रवेश किया ॥९०॥

---

१. नाम चक्रे इति क्रियाध्याहारः। २. वणिजां पतिः श्रेष्ठि। ३. लभमानः। ४. पुत्रेण। ५. कपटं।

जाता है वैसे ही (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (तनुजातेन) जिनदत्त पुत्र के द्वारा (अम्भोजगर्भाभं) कमल दल के समान आभा वाली (शैशवं) शिशुपने की अवस्था को (तत्यजे) छोड़ दिया गया।

ततोऽसौ श्रेष्ठिना तेन श्रावकस्य महामतेः।
समर्पितः प्रयत्नेन पठनाय यथाविधि ॥९१॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (असौ) वह कुमार (तेन श्रेष्ठिना) उस श्रेष्ठी के द्वारा (महामतेः) महाबुद्धिशाली (श्रावकस्य) श्रावक के लिए (यथाविधिः) विधिपूर्वक (पठनाय) पढ़ने के लिए (प्रयत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (समर्पितः) सौंप दिया।

वासरैर्गणितैरेव सर्व - शास्त्र - महार्णवम्।
स ततार महाबुद्धि- नावा विनय-सङ्गतः ॥९२॥

अन्वयार्थ–(गणितैः वासरैः एव) कुछ गिनती के दिनों में ही (विनयसङ्गतः) विनय से सहित (सः) उस बालक जिनदत्त ने (महाबुद्धिनावा) बड़ी-बुद्धिरूपी नाव के द्वारा (सर्वशास्त्रमहार्णवम्) सम्पूर्ण शास्त्ररूपी महासमुद्र को (ततार) तैर लिया अर्थात् वह बालक कुछ ही दिनों में संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता हो गया।

शस्त्राण्यपि ततस्तेन विज्ञातानि महात्मना।
धनुरादीनि प्रत्यनेन समाराध्याशु तद्विदः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तेन महात्मना) उस महान् आत्मा बालक ने (तद्विदः) उन विद्याओं के जानकारों की (समाराध्य) आराधना, विनय कर (आशु) शीघ्र ही (धनुरादीनि शस्त्राणि अपि) धनुर्विद्या आदि शस्त्रों को भी (विज्ञातानि) जाना।

प्रागल्भ्यं[1] किमपि प्राप व्यवहारविधौ तथा।
यथा तातादयस्तस्य जाताः प्रज्ञानुजीविनः ॥९४॥

अन्वयार्थ–(व्यवहारविधौ) व्यवहार की विधियों में उसने (तथा) उस तरह (किमपि) कोई भी (प्रागल्भ्यं) चतुराई को (प्राप) प्राप्त किया (यथा) जैसे (तस्य) उसके (तातादयः) पिता आदि

[विद्या ग्रहण का संस्कार]

श्रावकोत्तम श्रीमान् सेठ जीवदेव ने अपने सुयोग्य पुत्र को, बुद्धिमान श्रावक उपाध्याय को यथाविधि शिक्षित होने के लिए समर्पित कर दिया अर्थात् ज्ञानवान सेठ ने पुत्र का विद्यारम्भ संस्कार विधिपूर्वक संपन्न किया ॥९१॥ कुछ थोड़े ही दिन व्यतीत होने पर विनय से सहित उस बालक जिनदत्त ने महाबुद्धिरूपी नाव के द्वारा सम्पूर्ण शास्त्ररूपी महासमुद्र को तैर लिया अर्थात् वह बालक कुछ ही दिनों में संपूर्ण शास्त्रों का पारगामी हो गया ॥९२॥ चतुर जिनदत्त को केवल इन मानसिक शक्ति को बढ़ाने वाले शास्त्रों को पढ़कर ही संतोष न हुआ। उसने प्रसिद्ध शस्त्र-अस्त्र-शास्त्रियों से उनकी शुश्रूषा कर धनुर्विद्या, तलवार चलाना आदि शारीरिक शक्ति बढ़ाने वाली विद्याएँ भी सीख लीं एवं वह उनमें भी पारंगत हो गया ॥९३॥ जिनदत्त ने व्यवहार में भी उत्कृष्ट योग्यता प्राप्त की।

---

१. चातुर्यम्।

(प्रज्ञानुजीविनः जाताः) बुद्धि अनुसार जीवन बिताने वाले हुए थे ।

तनौ तस्य ततश्चक्रे यौवनेन तथा पदम् ।
अनङ्गेन यथा स्त्रीषु [1]संमोहायुधमादधौ ॥९५॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तस्य तनौ) उसके शरीर में (यौवनेन) यौवन ने (तथा) उस तरह (पदम्) स्थान को (चक्रे) प्राप्त किया था (यथा) जैसे (स्त्रीषु) स्त्रियों में (अनङ्गेन) कामदेव ने (संमोहायुधं) वशीकरण शस्त्र को (आदधौ) धारण किया हो ।

मालिनी छन्द

गगनमिव सितांशो रश्मिभिः सत्तपोभि
र्यतिरिव नरनाथो न्याय - मार्गैरुपेतः ।
तरुरिव नवपुष्पैः राजहंसैः समन्तात्
सर इव शुशुभेऽसौ विभ्रमैर्यौवनस्य ॥९६॥

अन्वयार्थ–(सितांशोःरश्मिभिः) चंद्रमा की किरणों के द्वारा (गगनं इव) आकाश के समान (सत्तपोभिः यतिः इव) समीचीन तपों के द्वारा तपस्वी के समान (न्यायमार्गैः उपेतः) न्याय मार्गों से सहित (नरनाथः इव) राजा के समान (नव-पुष्पैः) नवीन पुष्पों के द्वारा (तरुः इव) वृक्ष के समान (समन्तात्) सब ओर से (राजहंसैः) राजहंसों के द्वारा (सरः इव) सरोवर के समान (असौ) यह जिनदत्त (यौवनस्य विभ्रमैः) यौवन के विलासों के द्वारा (शुशुभे) सुशोभित हुआ ।

सकल - सुभग - सीमा माननीयो जनानां
जिनपति - पद - भक्तो भव्य - वात्सल्य - सक्तः ।
कुल - कमल - [2]विवस्वान्कीर्तिवीचीसरस्वा-
ननुपम - गुणराशिश्चन्द्रसौम्यो ननन्द ॥९७॥

जिस प्रकार उसके दादा आदि वंश परम्परानुसार प्रज्ञा सम्पन्न थे उसी प्रकार यह भी बुद्धिजीवी हुआ ॥९४॥ अब जिनदत्त किशोर अवस्था का परित्याग कर यौवनावस्था में प्रविष्ट हुआ । कामदेव के समान स्त्रियों में सम्मोह उत्पन्न करने वाले साक्षात् कामबाणों को मानों धारण किया ॥९५॥

जिस प्रकार चंद्रमा की किरणों से आकाश शोभित होता है, श्रेष्ठ तपों के तपने से मुनीश्वर श्रेष्ठ समझे जाते हैं, न्याय मार्गों का अनुसरण करने से राजा प्रशंसनीय गिना जाता है, नवीन पुष्पों से वृक्ष शोभित होता है और राजहंसों से सरोवर अच्छा मालूम होता है, उसी प्रकार यौवन लक्ष्मी के आने से वह अपने शारीरिक संगठन के कारण अधिक तेजस्वी और शोभायमान दिखने लगा ॥९६॥

जिनदत्त सम्पूर्ण सौंदर्य से परिपूर्ण जनसमुदाय के द्वारा माननीय, जिनेन्द्र भगवान के चरणों में अविचल भक्ति रखने वाला, साधर्मियों के प्रति वात्सल्य भाव रखने में तत्पर, अनुपम गुणों की राशि

---

१. वशीकरणशस्त्रम् । २. सागरः ।

अन्वयार्थ—वह जिनदत्त (सकल-सुभगसीमा) सम्पूर्ण सौंदर्य की सीमा को प्राप्त (जनानां माननीयः) मनुष्यों के द्वारा सम्मानित (जिन-पतिपदभक्तः) जिनेन्द्र भगवान के चरण कमल का भक्त (भव्यवात्सल्यसक्तः) भव्यजनों के प्रति वात्सल्य भावना रखने में तत्पर (अनुपम-गुणराशिः) अनुपम गुणों की राशि स्वरूप (कुलकमल विवस्वान्) कुलरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान (कीर्ति-वीचीसरस्वान्) कीर्तिरूपी लहरों के निधान समुद्र को (चन्द्रसौम्यः) चंद्रमा की चाँदनी के समान (ननन्दः) विकसित करता था।

॥ इति श्री भगवद् गुणभद्राचार्यविरचिते जिनदत्त-चरित्रे प्रथमः सर्गः ॥

श्री युत महाकवि सम्यग्ज्ञानी गुणभद्र आचार्य द्वारा विशेषरूप से रचित जिनदत्त चरित्र में पहला सर्ग पूर्ण हुआ

स्वरूप अपने कुलरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान था। वह कीर्तिरूपी लहरों के निधान समुद्र को चंद्रमा की चाँदनी के समान विकसित करता था ॥९७॥

द्वितीय सर्गः

दधानस्यापि तस्याथ यौवनं नयनामृतम् ।
बभूव मानसं नित्यं नारी-सुख-पराङ्मुखम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (नयनामृतं) नयनों के लिए अमृत के समान (यौवनं) यौवन को (दधानस्य तस्य) धारण करने वाले उस जिनदत्त का (मानसं) मन (अपि) भी (नित्यं) सदा (नारीसुख-पराङ्मुखम्) स्त्री संबंधी सुख से पराङ्मुख (बभूव) हुआ था।

काव्यामृतरसास्वाद्-विनोदेन कदाचन ।
वादजल्पवितण्डादि-चर्चया[1] चतुरोऽन्यदा ॥२॥
वाहनेन तुरंगाणां शास्त्राभ्यासेन कर्हिचित् ।
परीक्षणेन रत्नानां साधूनां सेवयान्यदा ॥३॥
पूजोत्सवैर्जिनेन्द्राणां राजकार्यैः कदापि च ।
इत्यादिचारुचेष्टाभि-रसक्तो विषयेष्वसौ ॥४॥

अन्वयार्थ—(असौ) वह (चतुरः) चतुर जिनदत्त (कदाचन) कभी (काव्यामृतरसास्वादविनोदेन) काव्यरूपी अमृत के आस्वाद के आमोद-प्रमोद से (अन्यदा) अन्य समय (वादजल्पवितण्डादि-चर्चया) वाद जल्प वितण्डादि की चर्चा से (कर्हिचित्) कभी (तुरङ्गाणां) घोड़ों की (वाहनेन) सवारी के द्वारा (शास्त्राभ्यासेन) शास्त्र के अभ्यास से (रत्नानां परीक्षणेन) रत्नों की परीक्षा के द्वारा (अन्यदा) अन्य समय (साधूनां सेवया) साधुओं की सेवा द्वारा (कदा) कभी (जिनेन्द्राणां पूजोत्सवैः) जिनेन्द्रों के पूजा उत्सव के द्वारा (च) और (अपि) भी (राजकार्यैः) राजकीय कार्यो के द्वारा (इत्यादि-चारु-चेष्टाभिः) इत्यादि सुंदर चेष्टाओं के द्वारा (विषयेषु असक्तः) विषयों में आसक्त नहीं हुआ।

जिनदत्त युवावस्था आने के कारण अन्य युवकों के समान काम विकार से पीड़ित नहीं हुए। यद्यपि उनका शरीर नेत्रों के लिए अमृत के समान यौवन के प्रभाव से दमक उठा था, तो भी उनके मन पर उसका वैसा प्रभाव न पड़ा था ॥१॥

वह अपने उन दिनों के समय को कभी तो काव्यरूपी अमृत के आस्वादन करने में बिताता था, कभी विनोद की क्रीड़ाओं को करने में लगाता, कभी अपने गुरुओं के साथ वाचनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए वाद करने में खर्च करता, कभी वितंडा, कभी जल्प और कभी अन्य किसी प्रकार से शास्त्र चर्चा करने में लगाता था। वे कभी घोड़े पर चढ़ने से अपने मन को प्रसन्न करते थे, कभी रत्नों की परीक्षा कर अपना उस विषय का पांडित्य दिखलाता था, कभी साधुओं की सेवाकर आशीर्वाद ग्रहण करता था, कभी जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति कर अपना आस्तिक्य दिखलाता था और कभी राजकार्य कर राजभक्त होने का तथा राजनीति निपुणता का अपना परिचय देता था। इस प्रकार नाना शुभ चेष्टाओं में रत रहते हुए विषयों से सदा अनासक्त रहता था ॥२,३,४॥

---

१. वादजल्पवितण्डालक्षणानि यथा—आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहातया कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः ? । विजिगीषुकथा या तु छलाजात्यादिदूषणम् । स जल्पः सा वितण्डा च या प्रतिपक्षवर्जिता ॥

समस्त-सुख-सम्पत्ति-समृद्धो बुध-वल्लभः ।
दिनानि गमयामास वयस्सैः[1] सहितो मुदा ।।५।।

अन्वयार्थ–(समस्त-सुख-सम्पत्ति-समृद्धः) वह समस्त सुख संपत्ति से संपन्न (बुधवल्लभः) विद्वानों का प्रिय (वयस्यैः सहितः) अपने समवयस्क मित्रों के साथ (मुदा) हर्षपूर्वक (दिनानि) दिनों को (गमयामास) बिताने लगा ।

विमुखं तं ततो ज्ञात्वा तस्मिन् दारपरिग्रहे ।
सबन्धुर्विदधेः यत्नं सूनो रञ्ञयितुं मनः ।।६।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तम्) उसको (तस्मिन् दार-परग्रिहे) उस स्त्रीरूपी परिग्रह के ग्रहण में (विमुखं) विमुख (ज्ञात्वा) जानकर (सबन्धुः) पारिवारिक जनों ने (सूनोः) पुत्र के (मनः) मन को (रञ्ञयितुं) रागयुक्त करने लिए (यत्नं) प्रयत्न (विदधेः) किया ।

यत्र चित्ररतक्रीडा-रसिकानि विलासिनाम् ।
मिथुनानि निषीदन्ति[2] तेषूद्यानेषु[3] नीयते ।।७।।

अन्वयार्थ–वह (तेषु) उन (उद्यानेषु) उद्यानों में (नीयते) ले जाया गया (यत्र) जहाँ (चित्ररत-क्रीडारसिकानि) नाना प्रकार की रति-क्रीड़ा के रसिक (विलासिनाम् मिथुनानि) विलासिता से युक्त स्त्री-पुरुषों के जोड़े (निषीदन्ति) बैठते हैं ।

क्रीडत्कान्ता-स्तनाभोग-सङ्गसंक्रान्तकुंकुमाः ।
वापीः पद्माननास्तस्य दर्शयन्ति जना निजाः ।।८।।

अन्वयार्थ–(पद्माननाः) कमलमुखी (क्रीडत्कान्तास्तनाभोगसङ्गसंक्रान्तः कुंकुमाः) जल-क्रीड़ा को करती हुईं कामनियों के स्तन मंडल की संगति से घुल गया है कुंकुम जिसमें ऐसी (वापीः) वापियाँ (निजाः जनाः) परिवार के लोग (तस्य) उसे (दर्शयन्ति) दिखाते हैं ।

समस्त सुख सम्पत्ति का भोग करते हुए भी काम भोगों से विरक्त विद्वानों का प्रिय वह अपने समवयस्क मित्रों के साथ सुखपूर्वक जीवन बिताने लगा ।।५।।

[परिवार द्वारा जिनदत्त को विषयानुरक्त करने का प्रयास]

यौवन वृद्धि में भी निर्विकार कुमार को देखकर, पारिवारिक जन उसका मन रंजायमान करने की सोचने लगे कि यह स्त्री-परिग्रह किस प्रकार स्वीकार करे, इसके लिए कोई उपाय सोचना चाहिए, विवाह के लिए इसका तनिक भी भाव नहीं है । अतः सभी जन उसका मन विवाह की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगे ।।६।।

उन उद्यानों में जिनदत्त को ले जाया गया जहाँ नाना प्रकार की रति-क्रीड़ा के रसिक विलासी स्त्री-पुरुषों के जोड़े बैठते हैं ।।७।।

परिवारजनों के द्वारा ऐसी वापियाँ उसे दिखायीं जातीं हैं, जहाँ जल-क्रीड़ा करती हुईं कमलमुखी कामनियों के स्तन मंडल की कुंकुमों से पीतिमा को धारण किये हुए हैं ।।८।।

---

१. मित्रैः २. तिष्ठन्ति । ३. उपवनेषु ।

दर्शनादेव याश्चित्तं मोहयन्ति[1] यतेरपि।
स्नानादिविधये तस्य नियुक्तास्ता मृगीदृशः ॥९॥

अन्वयार्थ–(याः) जो (मृगीदृशः) मृगनयनियाँ (दर्शनात्) देखने से (एव) ही (यतेः अपि) साधु के भी (चित्तं) चित्त को (मोहयन्ति) मोहित करती हैं (ताः) वे (तस्य) उस जिनदत्त के (स्नानादिविधये) स्नानादि की विधि में (नियुक्ताः) नियुक्त की गईं।

पण्याङ्गनाजना[2] यत्र द्रावयन्ति मुखेन्दुभिः।
चेतांसि पश्यतामाशु चन्द्रकान्तमणेरिव ॥१०॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ (पण्याङ्गनाजनाः) वेश्याजन (मुखेन्दुभिः) मुखरूपी चंद्र के द्वारा (पश्यताम् चेतांसि) देखने वालों के मनों को (चंद्रकांतमणेः इव) चंद्रकान्तमणि के समान (आशु) शीघ्र ही (द्रावयन्ति) द्रवीभूत कर देती हैं।

इतस्ततः स्थिताः स्फार-शृङ्गाराः स्मर-जीवितम्।
गमयन्ति गताशङ्कं छेकास्तेनैव[3] तं यथा ॥११॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (इतस्ततः) उसके यहाँ-वहाँ (स्थिताः) स्थित (स्फारशृंगाराः) बढ़े हुए श्रृंगार वाले (छेकाः) कामीजन ने (तथा) उस प्रकार से (तेन एव) उन कामुक चेष्टाओं से युक्त, (तं) उस जिनदत्त को (गताशङ्कं) शंका रहित (स्मरजीवितम्) कामरूप से जीवित (न गमयन्ति) नहीं प्राप्त करा सके यानि उसको विषय-वासना से युक्त नहीं कर सके।

विचित्राणि च वस्त्राणि समं माल्य विलेपनैः।
विभूषणैश्च यच्छन्ति प्रत्यहं तस्य ते निजाः ॥१२॥

अन्वयार्थ–(माल्यविलेपनैः) माला व विलेपनों (च विभूषणैः) और विविध आभूषणों के (समं) साथ (विचित्राणि) नाना प्रकार के चित्र-विचित्र (वस्त्राणि) वस्त्रों को (प्रत्यहं) प्रतिदिन (ते) उसके (निजाः) परिवार जन (तस्य) उसको (यच्छन्ति) प्रदान करते थे।

ऐसी मृगनयनियों को स्नानादि की विधि के लिए नियुक्त किया जिनको देखने मात्र से ही साधुओं के भी मन में विकार उत्पन्न हो जाये ॥९॥

जहाँ श्रृंगार रस भरी वेश्याएँ अपने मुखचन्द्रों से भोगियों के मन को द्रवित कर देती हैं, उन्हें देखते ही शीघ्र चन्द्रकान्तमणि के समान पुरुषों का मन सार्द्र/द्रवित हो जाता है ॥१०॥

उसके चारों ओर कामभोग श्रृंगारादि से जीविका चलाने वाले घेरे रहते परन्तु कुमार के मन को विकृत करने में कोई समर्थ नहीं हुआ। सभी को निराशा ही हाथ लगी ॥११॥

परिवार के लोगों द्वारा नाना प्रकार के सुंदर आकर्षण भरे वस्त्र-आभूषण, सुगन्धित माला लेपादि उसके लिए प्रतिदिन दिये जाते थे॥१२॥

१. मोहं प्रापयन्ति। २. वेश्यागणाः। ३. कामिनः।

ताः कथास्तानि गीतानि तानि शास्त्राणि नर्म्म[1] तत् ।
कुर्वन्ति सुहृदस्तस्य दीप्यते येन मन्मथः[2] ॥१३॥

अन्वयार्थ—(ताः कथाः) उसे वे कथाएँ (तानि गीतानि) वे गीत (तानि शास्त्राणि) वे शास्त्र (तत् नर्म) वे काम-क्रीड़ाएँ (कुर्वन्ति) करते थे (येन) जिससे (मन्मथः) कामवासना (दीप्यते) उद्दीप्त हो ।

प्रारभ्यते पुरस्तस्य परंप्रेक्षणकं च तत् ।
रागसागर-कल्लोलैः प्लाव्यन्ते येन देहिनः ॥१४॥

अन्वयार्थ—(च) और (तस्य) उसके (पुरः) सामने (तत्) वे (परं) उत्कृष्ट (प्रेक्षणकं) नाटक (प्रारभ्यते) प्रारम्भ किये जाते थे, (येन) जिससे (देहिनः) देखने वाले देहधारी प्राणी (रागसागरकल्लोलैः) रागरूपी समुद्र की लहरों के द्वारा (प्लाव्यन्ते) डुबाये जाते हैं ।

अथैकदा जगामासौ नित्यमण्डितसंज्ञितम् ।
वयस्यैः सहितस्तुङ्गं कोटिकूटं जिनालयम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (एकदा) एक समय (असौ) यह जिनदत्त (वयस्यैः सहितः) मित्रों के साथ (तुङ्गं) ऊँचे (कोटिकूटं) करोड़ों शिखरों वाले (नित्यमंडित-संज्ञितम्) नित्यमण्डित नाम के (जिनालयं) जिनालय को (जगाम्) गया ।

सोपानपदवीं दिव्यां समारुह्य ततः स्थितः ।
ददर्श क्षणमात्रं स द्वार-मण्डप-मुत्तमम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (सः) वह (दिव्यां) सुंदर (सोपान-पदवीं) सीढ़ियों के मार्ग पर (समारुह्य) चढ़कर (स्थितः) स्थित हुआ (क्षणमात्रं) क्षणमात्र में (उत्तम-द्वार-मण्डपं) उत्तम द्वार के मण्डप को (ददर्श) देखा ।

यावत्तत्र जगत्सार,-शिल्पिकल्पित-रूपके ।
दत्तदृष्टिरसौ तावद्, दृष्टैका शालभंजिका[3] ॥१७॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ (यावत्) जब तक (जगत्सारशिल्पिकल्पितरूपके) संसार के श्रेष्ठ

उसके मित्र उसे रागवर्द्धक कथाएँ कहते थे, कामोद्दीपक राग-रागनियाँमय संगीत सुनाते थे, ऐसे कामशास्त्र सुनाये-पढ़ाये जाते थे ताकि उसके हृदय में कामवासना जागे ॥१३॥

जिससे प्राणियों के हृदय में राग का सागर उमड़ पड़े इसी प्रकार के उसे नाटक दृश्य आदि दिखलाये जाते थे। उसी प्रकार की नाट्य-शालाओं में ले जाया जाता है ॥१४॥

एक दिन की बात है कि अपने मित्रों के साथ जिनदत्त दर्शन करने की इच्छा से ऊँचे करोड़ों शिखरों वाले नित्यमण्डित नाम के जिन चैत्यालय में गया ॥१५॥

इसकी अनुपम कला का निरीक्षण करता हुआ कुमार धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़ने लगा । द्वार मण्डप पर पहुँचा । उस उत्तम द्वार मण्डप की श्री शोभा को देखकर सहसा वहीं स्थित हो गया ॥१६॥

विस्मित होता हुआ कुमार क्रमशः उस मण्डप के एक-एक कलात्मक चित्रों को निर्निमेष दृष्टि

---

१. लीला क्रीडा । २. कामः ३. "पुतली" इति भाषया ख्याता ।

जगतसार नामक शिल्पि द्वारा बनाये हुए चित्रपट पर (असौ) उसने (दत्तदृष्टिः) दृष्टि को डाला (तावद्) तब उसने (एका) एक (शालभंजिका) पुत्तलिका को (दृष्टा) देखा।

तस्या दर्शनमात्रेण चित्रन्यस्त[1] इव स्थितः।
पपौ रूपामृतं चास्याः स्तिमितायतलोचनः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(तस्याः दर्शनमात्रेण) उसके देखने मात्र से (चित्रन्यस्तः इव) चित्र में प्रतिष्ठित हुए की तरह (स्थितः) स्थित हो गया (च) और (स्तिमितायत-लोचनः) स्थिर एवं विशाल नेत्र वाले जिनदत्त ने (अस्याः) उस पुत्तलिका के (रूपामृतं) सौंदर्यरूपी अमृत को (पपौ) पिया।

ततस्तस्य सकामस्य पतिता पादपद्मयोः।
दृष्टिर्भृङ्गीव संसक्ता स्पन्दनेऽपि पराङ्मुखी ॥१९॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (तस्य) उस (सकामस्य दृष्टिः) काम सहित जिनदत्त की दृष्टि (पादपद्मयोः) पुतलिका के चरण कमलों पर (भृङ्गी इव) भ्रमरी के समान (संसक्ता) आसक्त हो (पतिता) पड़ी (स्पन्दने अपि) कंपन में भी (पराङ्मुखी) असमर्थ हो गई।

निधान-कलशेनेव नितम्बेन मनोभुवः[2]।
कटीतटं समाकृष्टा संप्राप्ता क्रमयोगतः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(कलशेन इव) कलश के समान (नितम्बेन मनोभुवः निधाय) नितम्ब के द्वारा कामदेव को धारण कर (क्रमयोगतः) क्रम के योग से (समाकृष्टा) खींची हुई दृष्टि (कटीतटं) कमर के अग्रभाग को (संप्राप्ता) प्राप्त हुई।

लावण्यनीरसम्पूर्णे नाभिकुण्डे ममज्ज[3] सा।
मदनानलसन्ताप-पीडितेव ततश्चिरम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (सा) वह दृष्टि (मदनानल-सन्तापपीडिता इव) कामरूपी अग्नि के संताप से पीड़ित हुए के समान और (लावण्यनीरसम्पूर्णे) लावण्यरूपी जल से भरे हुए उसके

से देखने लगा। शिल्पियों की कल्पना के रूपों के देखते-देखते सहसा उसकी सरल निर्विकार दृष्टि एक अनुपमरूप राशिमय पुत्तलिका/आकृति से जा टकराई ॥१७॥ उस पर दृष्टि पड़ते ही वह मंत्र मुग्ध सा अचल हो गया मानो उस प्रतिच्छाया को हृदय में प्रविष्ट कराना चाहता हो। वह मुस्कुराता हुआ उसके रूपामृत का पान करने लगा ॥१८॥

उनके नेत्र ज्यों ही उस मूर्ति के चरणरूपी कमलों पर पड़े, तो वे भ्रमरी के समान उनकी ही गंध लेते रहे। वह दृष्टि हिलने/डुलने में भी अक्षम हो गई ॥१९॥

[विमलमति कन्या की पुत्तलिका के सौन्दर्य का वर्णन]

अपने नितम्बोंरूपी कलशों से इसने मानों साक्षात् कामदेव को ही धारण किया है। इसके बाद उसकी आकर्षक दृष्टि कमर को देखने लगी ॥२०॥

उसके बाद कामरूपी अग्नि के संताप से जिनदत्त की दृष्टि ने सौंदर्यरूपी जल से भरे नाभि

---

१. निश्चलः। २. कामस्य। ३. मज्जतिस्म।

(नाभिकुण्डे) नाभिरूप कुण्ड में (चिरं) चिरकाल तक (ममज्ज) निमज्जन/अवगाहन करने लगी ।

ताञ्जहार ततस्तस्याः रोमराजिरनुत्तरा ।
रूपातिशयतो न्यस्ता[1] प्रशस्तिरिव शंभुना[2] ॥२२॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (तस्याः) उसकी (ताम्) वह (अनुत्तरा) अनुपम (रोमराजिः) रोमों की पंक्ति (शंभुना) महादेव/भाग्य के द्वारा (न्यस्ता) रखी या लिखी गई (प्रशस्तिः इव) प्रशस्ति के समान (रूपातिशयतः) अतिशयरूप को (जहार) धारण करती थी ।

आचक्राम प्रयासेन प्रस्खलन्ती मुहुर्मुहुः ।
मध्यमस्याः कृशोदर्य्यास्त्रिबलीभङ्गबन्धुरम्[3] ॥२३॥

अन्वयार्थ—वह (मुहुर्मुहुः) बार-बार (प्रस्खलन्ती) स्खलित होती हुई (प्रयासेन) प्रयासपूर्वक (आचक्राम) गमन करती थी (अस्याः) इस (कृशोदर्य्याः) कृशोदरी कन्या का (त्रिबलीभंग-बन्धुरं) त्रिवली की भंगिमा/कुटिलता से सुंदर (मध्यं) मध्य-भाग/पेट था ।

स्तनान्तरे ततस्तस्याः सा लीना समजायत ।
ययौ यथा समस्ताङ्ग-सम्मोहं मुग्धमानसः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद (सा) जिनदत्त की वह दृष्टि (तस्याः) उस पुत्तलिका के (स्तनान्तरे) स्तनों के मध्य में (सालीना) लीनता से सहित (समजायत) हो गई (यथा) जैसे कोई (मुग्ध-मानसः) मोहित मन वाला (समस्तांग संमोहं) पूरे अंगों से संमोह को (ययौ) प्राप्त हुआ हो ।

आललम्बे मनोहारि-हारावलिमसौ शनैः ।
कण्ठं हि यत्नतः प्राप रेखात्रितयसुन्दरम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(असौ) इस दृष्टि ने (शनैः) धीरे-धीरे (मनोहारिहारावलिं) मन को हरण करने वाली हारावली/कंठमाला का (आललम्बे) आश्रय लिया (हि) क्योंकि उसने (यत्नतः) प्रयत्न से

कुण्ड में चिरकाल तक अवगाहन किया । अर्थात् पुत्तलिका की सुंदर नाभि को देखा ॥२१॥

इसके रोमों की पंक्तियाँ बड़ी ही मनोहर हैं ऐसा प्रतीत होता है मानो महादेव/भाग्य ने अतिशय रूप के ऊपर प्रशस्ति अंकित की हो ॥२२॥

इसकी चाल कितने आकर्षक रूप में प्रतिबिम्बित की गई है, प्रयासपूर्वक स्खलित होती हुई बार-बार मन्द-मन्द गमन कर रही थी । उस कन्या का उदर अत्यन्त कृश और तीन रेखाओं की पंक्ति के भंगिमा से सुन्दर था ॥२३॥

जैसे मोहित मन वाला पूरे अंगों से संमोह को प्राप्त होता है उसी तरह उस जिनदत्त की दृष्टि उसके स्तनों के मध्य भाग में लीनता को प्राप्त हो गई ॥२४॥

इसके बाद वह दृष्टि मनोहर हार के ऊपर पड़ी तो उसका सहारा ले किसी प्रकार तीन रेखाओं से सुंदर कंठ तक पहुँचने की कोशिश करने लगी ॥२५॥

---

१. निहिता । २. महादेवेन । ३. सुन्दरम् ।

(रेखात्रितय-सुंदरम्) तीन रेखाओं से सुंदर (कण्ठं) कण्ठ को (प्राप) प्राप्त किया था।

आललम्बे ततस्तस्याः सा बाहुलतिकां क्रमात्।
समस्त-भुवन-भ्रान्त - श्रान्तानङ्ग-मृगाश्रयम् ॥२६॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (सा) उसकी दृष्टि ने (समस्त-भुवन-भ्रान्तश्रान्तानङ्गमृगाश्रयम् इव) समस्त संसार में भ्रमण करने से थके हुए कामदेवरूपी हिरण के आश्रय/स्थान के समान (तस्याः) उसकी (बाहुलतिकां) भुजारूपी लता को (क्रमात्) क्रम से (आललम्बे) आश्रय/स्थान बनाया।

रतिं कामपि सा[1] लेभे लावण्यातिशयान्विते।
मुखेन्दौ मदनोद्दाम-दाहशान्त्यर्थिनी यथा ॥२७॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे ही (मदनोद्दामदाहशान्त्यर्थिनी) उत्कट काम के संताप की शांति को चाहने वाली, (सा) उसकी वह दृष्टि (लावाण्यातिशयान्विते) सौंदर्य के अतिशय सहित (मुखेन्दौ) मुखरूपी चंद्रमा पर पड़ी तो उसने (कामपि) कोई अपूर्व (रतिं) प्रीति को (लेभे) प्राप्त किया।

केशपाशे पुनस्तस्याः कामपाश इवापरे।
बद्धा मृगीव सात्यन्तं गन्तुमन्यत्र नाशकत्[2] ॥२८॥

अन्वयार्थ–(पुनः) फिर (सा) वह दृष्टि (तस्याः) उसके (केशपाशे) केशपाश में (कामपाशे इव) कामपाश के समान (अत्यन्तं) अत्यंत (बद्धा मृगी) बंधी हुई मृगी के समान (अन्यत्र गन्तुं) अन्य जगह जाने के लिए (न अशकत्) समर्थ नहीं हुई।

कान्तिलावण्यसद्रूप-सौभाग्यातिशया इमे।
प्रतिच्छन्दे[3]ऽप्यहो यस्याः सा स्वयं ननु कीदृशी ॥२९॥

अन्वयार्थ–(अहो!) आश्चर्य है कि (यस्याः) इसके (प्रतिच्छन्दे अपि) प्रतिबिम्ब में भी (इमे) ये (कान्तिलावण्यसद्रूपसौभाग्यातिशयाः) कान्ति, लावण्य, सुन्दर रूप, श्रेष्ठ सौभाग्य आदि अतिशय को प्राप्त हैं (सा) वह (स्वयं) खुद (ननु) निश्चय से (कीदृशी) कैसी होगी?

उसके बाद जिनदत्त की दृष्टि समस्त संसार में भ्रमण करने से थके हुए कामदेवरूपी हिरण के आश्रय स्थान के समान उस पुत्तलिका की बाहुओं पर पड़ी तो वे उसी का अवलोकन करते रहे ॥२६॥

जैसे ही उत्कट काम के संताप की शांति को चाहने वाली जिनदत्त की दृष्टि सौंदर्य के अतिशय से सहित मुखरूपी चंद्रमा पर पड़ी तो उसने कोई अपूर्व प्रीति को प्राप्त किया ॥२७॥

पुनः उसकी दृष्टि उस पुत्तलिका के केशपाश पर पड़ी तो वह केशपाश उसके लिए दूसरे कामपाश के समान प्रतीत हुए। अत्यन्त बंधी हुई मृगी के समान उसकी वह दृष्टि अन्य जगह जाने के लिए समर्थ नहीं हुई ॥२८॥

इसके चित्र में कान्ति, लावण्य श्रेष्ठरूप सौभाग्य उत्तम चिन्ह इस प्रकार आकर्षक चित्रित हैं, वह स्वयं तो न जाने कितनी अनुपम सुंदरी होगी? ॥२९॥

१. विशेषः। २. न समर्थाऽभूत्। ३. प्रतिरूपे।

कदापि नैव सम्पन्नो विकारो मम चेतसः ।
एतस्या दर्शनाच्चेय-मवस्था[1] मम वर्तते ॥३०॥

अन्वयार्थ—(ममचेतसः) मेरे चित्त में (कदापि) कभी भी (विकारः) विकार (नैव सम्पन्नः) उत्पन्न नहीं हुआ (च) और (एतस्याः) इसके (दर्शनात्) दर्शन से ही (मम) मेरी (इयम् अवस्था) यह अवस्था/दशा (वर्तते) है ।

किमिदं पूर्वसम्बन्ध-प्रेमदुर्ललितं स्फुटम् ।
येन जाता ममैवेय-मासेचनक-दर्शना[2] ॥३१॥

अन्वयार्थ—(स्फुटम्) स्पष्ट रूप से (किम्) क्या (इदं) यह कार्य (पूर्वसंबन्धप्रेमदुर्ललितं) पूर्व भव संबंधी प्रेम से दुःसाध्य है (येन) जिस कारण से (मम एव) मेरी ही (आसेचनक-दर्शना) देखने वालों को द्रवीभूत करने वाली (इयं) यह अवस्था (जाता) हुई है ।

अथवा क्वापि कस्यापि पूर्वकर्मविपाकतः ।
झटित्येव मनो याति नूनं तन्मयतामिव ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अथवा) और (पूर्व-कर्म-विपाकतः) पूर्व कर्म के फल से ही (क्वापि) कहीं पर भी (कस्यापि) किसी का भी (मनः) मन (नूनं) नियम से (झटिति एव) शीघ्र ही (तन्मयतां इव) तन्मय हुए की तरह (याति) प्राप्त होता है ।

यदीयं भविता तन्वी मूलप्रकृतिवर्जिता ।
न प्राणधारणोपायं तदा स्वस्य विलोकये[3] ॥३३॥

अन्वयार्थ—(यदि) अगर (इयं) यह (तन्वी) कन्या (मूलप्रकृतिवर्जिता) मूलरूप से रहित (भविता) होगी (तदा) तब (स्वस्य) अपने स्वयं के (प्राणधारणोपायं) प्राण धारण के उपाय को (न) नहीं (विलोकये) देखता हूँ ।

नूनं सचेतनैवेयं कापि कामलताथवा ।
चोरयामास नश्चित्तं चन्द्रास्या कथमन्यथा ॥३४॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (नूनं) निश्चय से (कापि) कोई भी (इयं कामलता) यह

आज तक मेरे मन में कभी भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ आज इसके देखने मात्र से मेरी यह विषयासक्त अवस्था हुई है, अन्य की तो बात ही क्या ? ॥३०॥

वह विचारने लगा, या इसके साथ मेरा पूर्व भव का प्रेम संबंध है जो आज प्रकट हुआ है । अन्यथा इसके दर्शनरूपी सिंचन से मेरा मन क्यों आर्द्र हो आसक्त होता ? ॥३१॥

अथवा यही सत्य है कोई-कोई पूर्व भव के संचित कर्म का विपाक ही उदय में आया है, तभी तो शीघ्र ही मेरा मन तन्यमयता को प्राप्त हो गया है ॥३२॥

यदि यह मूर्ति किसी आधार के आश्रय न हुई, किसी की प्रतिमूर्ति न निकली, तो मेरा जीवन मुझे संकटमय ही दिखाई देता है ॥३३॥

निश्चय से यही चेतना सहित-सी प्रतीत हो रही है अथवा किसी कामलता का रूप है । यदि ऐसा

१. दशा । २. तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात् । ३. लिङ उत्तमपुरुषस्यैकवचनम् ।

कामरूपी लता (सचेतनाः) चेतन सहित शरीरधारी युवति है (अथवा) और (अन्यथा) यदि ऐसा न हो तो (इयं चन्द्रास्या) यह चंद्रमुखी (नः चित्तं) हमारे/मेरे चित्त को (कथम्) कैसे (चोरयामास) चुराती ?

अचेतने यतो रूपं शोभायै किल केवलम् ।
सम्बन्धेन विना चेत्थं नानुरागविजृम्भितम् ॥३५॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (अचेतने) अचेतन चित्र में (रूपं) जो रूप है वह (किल केवलम्) नियम से सिर्फ (शोभायै) शोभा के लिए है (च इत्थं सम्बन्धेन विना) इस प्रकार के संबंध के बिना (अनुराग-विजृम्भितम् न) अनुराग का विस्तार नहीं होता ।

भुज्यते यदि संसारे सौख्यं विषयगोचरम् ।
तदानन्दनिधानेन सार्द्धमेवंविधेन हि ॥३६॥

अन्वयार्थ–(यदि) अगर (हि) नियम से (संसारे) संसार में (विषय-गोचरम्) इन्द्रिय विषयों से संबंध रखने वाला (सौख्यं) सुख है (तदा) तो (एवं विधेन) इस प्रकार से (आनंद-निधानेन) आनंद की स्थान रूप इस कन्या के (सार्द्धं) साथ (भुज्यते) भोगा जाये ।

यद्येतया समं नैव भुञ्जे भोगाननारतम्[1] ।
हिमम्लानाम्बुजेनेव यौवनेनापि किं मम ॥३७॥

अन्वयार्थ–(यदि) अगर (एतया समं) इसके साथ (एवं) इस प्रकार (भोगान्) भोगों को (अनारतम्) निरंतर (न भुञ्जे) नहीं भोगा तो (हिमम्लानाम्बुजेन इव) बर्फ से मुरझाये हुए कमल के समान (यौवनेन अपि) यौवन से भी (मम) मुझे (किम्) क्या प्रयोजन है ?

करे करोति किं चाप-मस्यां[2] सत्यां मनोभुवः ।
इयमेव यतो विश्व-वशीकरण-सन्मणिः ॥३८॥

अन्वयार्थ–(अस्यां) इसके (सत्यां) होने पर (मनोभुवः) कामदेव के (करे) हाथ में (चापं) बाण को (किम्) क्या (करोति) करता है (यतः) क्योंकि (इयं एव) यह ही (विश्व-वशीकरण-सन्मणिः)

न होता तो किस प्रकार यह चन्द्रमुखी मेरे मन को चुराती ? यह कोई अनुपम सुन्दरी कन्या का प्रतिबिम्ब जरूर है ॥३४॥

अचेतन पदार्थ में जो रूपातिशय रहता है, उससे केवल उसकी शोभा ही होती है, किसी को किसी प्रकार का अनुराग विशेष नहीं होता और मुझे इससे अनुराग विशेष हो रहा है । अतः यह किसी सचेतना सुन्दरी का चित्राम होना चाहिए ॥३५॥

पहले तो सांसारिक भोग भोगना ही बुरा है और यदि वे भोगे ही जायें, तो ऐसी ही आनंद दायक अनुपम सुंदर स्त्री के साथ उन्हें भोगना चाहिए ॥३६॥

यदि इसके साथ ही मैंने संसार सुख न भोगे, तो फिर पाले से म्लान किये गये आभा रहित कमल के समान, मेरा यह नवयौवन ही निरर्थक है ॥३७॥

इसके साक्षात् होने मात्र से काम ने मेरे ऊपर अपना बाण ताना है । इसलिये यह संसार में

१. निरन्तरम् । २. धनुः ।

विश्व को वश में करने के लिए श्रेष्ठमणि है।

एवं विधा यतः सन्ति संसारे रतिभूमयः।
विरज्यते ततो नातो[1] ज्ञाततत्त्वैरपि ध्रुवम् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (एवंविधाः) इस प्रकार (संसारे) संसार में (रतिभूमयः) प्रीति के स्थान (सन्ति) हैं (ततः) इसलिए (ज्ञाततत्वैः अपि) तत्त्व के ज्ञाता पुरुष भी (ध्रुवम्) निश्चित रूप से (अतः) इसलिए संसार से (न विरज्यते) विरक्त नहीं हो पाते।

रुद्रादयोऽप्यहो यासां दृष्टिपातोपजीविनः।
मादृशां स्मरमुग्धानां मोहने तासु का कथा ॥४०॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है! (रुद्रादयः अपि) रुद्रादिक भी (यासां) जिनकी (दृष्टिपातोप-जीवितः) दृष्टिपात में जीवित रहने वाले हैं (स्मर-मुग्धानां) काम-भोग में मोहित रहने वाले (मादृशां) मुझ जैसे का (तासु) उन स्त्रियों में (मोहने) मोहित होने में (का कथा) क्या बात है?

प्रविशामि किमङ्गानि किं स्पृशामि पिवामि किम्।
नेत्रपात्रैरिमामाशु सौन्दर्यामृतवापिकाम् ॥४१॥

अन्वयार्थ—(किं) क्या (इमाम्) इस (सौन्दर्यामृतवापिकाम्) सौन्दर्यरूपी अमृत की वापिका/बावड़ी में (आशु) शीघ्र (प्रविशामि) प्रवेश करूँ (किमङ्गानि स्पृशामि) क्या शरीर के प्रत्येक अंगों का स्पर्श करूँ (किं) क्या (नेत्रपात्रैः) नेत्ररूपी पात्रों के द्वारा (पिवामि) पान करूँ?

इत्याद्यनेकसंकल्प-कारिणः सहचारिणा।
विज्ञातं मकरन्देन[2] दृष्ट्या तस्य मनोगतम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(इत्यादि अनेकसंकल्प-कारिणः) इस प्रकार अनेक संकल्पों को करने वाले (तस्य) उस जिनदत्त के (मनोगतम्) मन में स्थित भावों को (सहचारिणा मकरन्देन) सहचारी मित्र/मकरंद ने (दृष्ट्या) देखने मात्र से (विज्ञातं) जान लिया।

सुंदरियों की शिरोमणि है ॥३८॥

अहा! अब मालूम हुआ, संसार में ऐसी ही अनेक मनोहारिणी रमणियाँ हैं इसलिए बड़े-बड़े तत्त्वों के जानने वाले लोग भी इनके रूप में फँसकर संसार से विरक्त नहीं हो पाते ॥३९॥

अरे! रुद्र आदिक अनेक तेजस्वी महापुरुष भी इनके कटाक्ष बाणों से भिंद गये और आसक्त हो इनमें ही जब रमण करने लग गये, तो मुझ सरीखे क्षुद्र पुरुष की तो बात ही क्या है? ॥४०॥

मुझे यह सौन्दर्यामृतरूपी जल की भरी वापी मालूम पड़ती है इसलिए मैं इसके समस्त सौंदर्यरूपी जल को क्या अपने नेत्ररूपी पात्रों से पी जाऊँ? क्या इसके समस्त अंगों को स्पर्श कर डालूँ और इसमें प्रविष्ट हो एकमेक हो जाऊँ? ॥४१॥

इस प्रकार अनेकों संकल्पों में निमग्न जिनदत्त स्तंभित हो अपने जिनदर्शन के उद्देश्य को भूल रहे थे कि इतने में इनके साथी मकरंद ने इनके मन में स्थित भावों को देखने मात्र से जान लिया ॥४२॥

१. संसारात् २. मकरन्दनामधेयमित्रेण।

विबृद्धाः च चिरादेते फलिता मे मनोरथाः ।
सिक्तश्चायं सुधासेकैः श्रेष्ठिसन्तानपादपः ।।४३।।

अन्वयार्थ–(च) और (एते) ये (विबृद्धा) बढ़े हुए (मे) मेरे (मनोरथाः) मनोरथ (चिरात्) चिरकाल के बाद (फलिताः) फलित हुए हैं (च) और (अयं) यह (श्रेष्ठि-सन्तान-पादपः) सेठ का पुत्ररूपी वृक्ष (सुधासेकैः) अमृतबिन्दुओं के द्वारा (सिक्तः) सिंचित किया गया है ।

स्मित्वा[1] स्वैरमुवाचेय-मेतयैव सखे ! मनः ।
किं हृतं भवतो येन स्तम्भितो वा व्यवस्थितः ।।४४।।

अन्वयार्थ–(सखे) हे मेरे मित्र ! (स्मित्वा) हँसकर आश्चर्य से (स्वैरम्) स्वतंत्रतापूर्वक (उवाच) बतलाओ/बोलो (भवतः) आपका (मनः) मन (किं) क्या (एतया एव) इस चित्र में स्थित सुंदरी के द्वारा ही (हृतं) हरा गया है ? (येन) जिस कारण से (स्तम्भितो वा व्यवस्थितः) स्थिर खड़े रह गए हो ।

भवानेव विजानातीत्युक्त्वादाय करेण तम्[2] ।
स विवेश जिनाधीश-मन्दिरं तद्गताशयः ।।४५।।

अन्वयार्थ–(भवान् एव विजानाति) आप ही जानते हैं (इति उक्त्वा) इस प्रकार कहकर (तम्) उस मकरंद को (करेण) हाथ से (आदाय) ग्रहण कर (सः) वह जिनदत्त (तद्गताशयः) उस कन्या में आसक्त चित्त होता हुआ (जिनाधीश-मंदिरं) जिनेन्द्र भगवान के मंदिर में (विवेश) प्रविष्ट हुआ ।

ततः प्रदक्षिणीकृत्य स्तुत्वा स्तोत्रैरनेकशः ।
जिनाज्जगाम तां पश्यन्नाकृष्टि क्रममालयम्[3] ।।४६।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (जिनान्) जिनेन्द्र भगवन्तों की (प्रदक्षिणी कृत्य) प्रदक्षिणा करके (अनेकशः स्तोत्रैः स्तुत्वा) अनेकों स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर (तां) उस पुत्तलिका को (पश्यन्) देखता हुआ (आकृष्टि) आकृष्ट/आसक्त हुआ (क्रमं) क्रम से (आलयम्) घर को (जगाम) गया ।

वह मित्र सोचता है कि चिरकाल के बाद मेरे मनोरथ फलित हुए हैं । यह सेठ का पुत्ररूपी वृक्ष आज प्रेमामृत की बिंदुओं के द्वारा सिंचित किया गया है ।।४३।।

आनंद से गद्‌गद् हो वह कहने लगा हे जिनदत्त ! आप हँसकर अपने भावों को स्वतंत्रता पूर्वक कहो, आपका मन क्या उस चित्र में स्थित सुंदरी के द्वारा हरा गया है ? जिससे आप इस प्रकार सावधान खड़े रह गये हो ।।४४।।

आप ही जानते हैं क्या हुआ ? इस प्रकार उत्तर देकर उसको हाथ से पकड़कर, कुमार उस कन्या के रूप में आसक्त चित्त होता हुआ जिनालय में प्रविष्ट हुआ ।।४५।।

सावधान हो कुमार जिनदत्त ने जिनमंदिर में श्री जिनेन्द्र प्रभु की भक्ति से प्रदक्षिणा कर नाना प्रकार अनेकों सुंदर स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर, उस पुत्तलिका में आसक्त हो उसे देखता हुआ बिना इच्छा के घर लौटा ।।४६।।

---

१. आश्चर्यंकृत्वा । २. मकरन्दं । ३. कश्चित्पुमान्मन्त्रेणाकृष्टो रुचिं विना,,ापि गच्छति तथाऽयमपि तयाकृष्टः स्वगृहे गतवान्

स्थितस्तत्र समुद्भूत-तीव्रवेगस्मरज्वरः।
स तल्पे[1] कल्पितानल्प-पद्मपल्लवसंस्तरे ॥४७॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ पर (समुद्भूततीव्रवेगस्मरज्वरः) उत्पन्न हुए तीव्र वेग वाले कामरूपी ज्वर वाला (सः) वह (कल्पितानल्प-पद्म-पल्लव-संस्तरे) रचे गये अनेक कमल पत्रों के बिस्तर में (तल्पे) शय्या पर (स्थितः) स्थित हुआ।

नाशनायाभवत्तस्य नोदन्या[2] सह निद्रया।
विनोदेन न केनापि स रेमे तां तदा स्मरन् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तस्य) उसकी (निद्रया) नींद के साथ (उदन्या) प्यास (अशनाय) भोजन के लिए रुचि (न अभवत्) नहीं हुई (सः) वह (ताम्) उस चित्राम में स्थित सुंदरी को (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (विनोदेन) हँसी के द्वारा (केनापि) किसी से भी (न रेमे) नहीं रमाया/बहलाया गया।

जलार्द्रञ्चन्दनःचन्द्रः कर्पूरः शिशिरं पयः।
ज्वलत्कामानलस्यास्य सञ्जाता घृतविप्लुषः ॥४९॥

अन्वयार्थ—(ज्वलत्कामानलस्य) कामरूपी अग्नि से जलने वाले (अस्य) इस जिनदत्त के लिए (जलार्द्रञ्चन्दनः) जल से गीला चंदन (चंद्रः) चंद्रमा (कर्पूरः) कपूर (शिशिरं पयः) और ठण्डा जल ये सभी शीतल द्रव (घृत-विप्लुषः) कामाग्नि को बढ़ाने के लिए घृत की बूँदें (सञ्जाताः) हो गए।

वरं मरणमेवास्तु मा वियोगः प्रियैः सह।
समाप्यन्ते समस्तानि येन दुःखानि सर्वतः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(मरणं एव) मरण ही (वरं अस्तु) अच्छा हो किन्तु (प्रियै सहः) प्रिय जनों के साथ (वियोगः) वियोग (मा) नहीं हो (येन) जिस वियोग कारण (सर्वतः) सब ओर से (समस्तानि) सभी (दुःखानि) दुःख (समाप्यन्ते) प्राप्त होते हैं अर्थात् मरण से सभी दुःख शान्त हो जाते हैं।

घर पहुँचकर जिनदत्त की हालत विलक्षण हो गई, इन्हें एक साथ काम-ज्वर ने तीव्र आघात से घायल कर दिया। काम-ज्वर के असह्य आताप से इतने घबड़ा गये कि अगणित कमल पत्र पुष्पों की शय्या पर लेटकर भी उनको शांति प्राप्त न हो सकी ॥४७॥

निद्रा ने मानों रूठकर उसका साथ छोड़ दिया उस चित्राम कन्या के विरह में खाना-पीना सब कुछ छूट गया। रात-दिन उसके स्मरण के सिवाय वह कुछ भी विनोदादिक नहीं करता था ॥४८॥

शीतल जल से मिश्रित चन्दन द्रव, चन्द्र रश्मियाँ, कपूर लेपन, बर्फ का पानी आदि पदार्थ इस कामदाह से ज्वलित कुमार की कामाग्नि जलाने में घी का काम करने लगे अर्थात् जितना शीतोपचार किया जाता, उतना ही उसका काम-ज्वर अधिक होता जाता है ॥४९॥

वह विचारने लगा, उस कामिनी के वियोग की अपेक्षा मरण ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। क्योंकि प्रियजनों के वियोग से उत्पन्न समस्त दुःख मरण से ही समाप्त हो सकते हैं ॥५०॥

---

१. शय्यायां। २. पिपासा।

अदृष्टापि मनोमोहं या ममेत्थं ततान् ताम् ।
पुष्पेषो[1] ! कुरुषे किं न शरसंहतिजर्जराम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(या) जो (अदृष्टा अपि) अदृश्य होते हुए भी (मम) मेरे (मनोमोहं) मन के मोह को (इत्थं) इस प्रकार (ततान्) बढ़ा रही है (तां) उसको (पुष्पेषो) हे कामदेव! तुम (शरसंहतिजर्जराम्) बाणों के समूह द्वारा जर्जरित (किं न कुरुषे) क्यों नही करते हो ?

इत्यादिकं जजल्पासा-वसम्बद्धं प्रबन्धतः ।
एकयापि तया मेने व्याप्तामिव जगत्रयीम् ॥५२॥

अन्वयार्थ–(इत्यादिकं) इस प्रकार (असम्बद्धं जजल्प) यद्वा-तद्वा गुनगुनाया और (असौ) उसने (प्रबंधतः) अत्यधिक राग सम्बन्ध होने से (तया एकया अपि) उस अकेली के द्वारा भी (जगत्रयीम्) तीनों जगत् को (व्याप्तां इव) व्याप्त के समान (मेने) माना था ।

जिगासतस्तदा[2] तस्य पञ्चमेन निवारिताः ।
हुङ्काराः सन्ततश्वासैः प्रम्लानाधरपल्लवैः ॥५३॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (पञ्चमेन) कामदेव ने (सन्ततश्वासैः) सतत उष्ण श्वासों से (प्रम्लानाधर- पल्लवैः) मुरझाये/सूखे ओंठरूपी पत्तों के द्वारा (जिगासतः) गाने की इच्छा वाले (तस्य) उसके (हुङ्काराः) हुंकार भी (निवारिताः) रोक दिये गए ।

समग्र-गुण-सम्पूर्णं कर्णशूल-करं परम् ।
गीतं तेन तदा मेने मनोज-ज्या-रवोपमं[3] ॥५४॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (तेन) उसके द्वारा (समग्रगुणसम्पूर्णं) समस्त गुणों से परिपूर्ण (परम्) श्रेष्ठ (गीतं) गीत को (मनोजज्या-रवोपमम्) कामदेव के धनुष की डोरी की हुंकार के समान (कर्णशूल-करं) कानों की पीड़ा को करने वाला (मेने) माना ।

अरे काम! जिसकी केवल प्रतिमूर्ति ही देखकर मेरा मन इतना मुग्ध हो गया जिसने अपने साक्षात् दर्शन न देकर अपनी तस्वीर दिखाकर ही मेरा मन हरण कर लिया, उसको तुम क्यों नहीं बाणों की वर्षा से जर्जरित करते? मेरे मन को चुराने से वह अपराधिनी है, उसको तुम्हें दंड देना चाहिए ॥५१॥

इस प्रकार यद्वा-तद्वा गुनगुनाता था और उसने उस एक स्वरूप को ही तीनों जगत् रूप समझा । वह सर्वत्र अपनी मनोहारिणी की छवि ही छवि देखने लगा ॥५२॥

काम-ज्वर की तीव्र उष्ण-श्वासों से उसके ओष्ठ म्लान हो सूख गये, इसलिए मन बहलाने के लिए गाने की इच्छा होने पर भी वह न गा सका । उसकी हुँ हुँ कार शब्द ध्वनि भी रोक दी गई ॥५३॥

और उसकी इस इच्छा को देख जो कोई मधुर स्वर से गाने लगा, उसके उस स्वर को उसने कामदेव के धनुष की टंकार के समान भयंकर कर्ण पीड़ा करने वाला समझा ॥५४॥

---

१. हे काम । २. गातुमिच्छतः । ३. प्रत्यञ्चा ।

किञ्च प्रसारयामास भूयोभूयो[1] भुजद्वयम् ।
आलिङ्गितुमिव व्योम-भूमिमाशास्तथैक्षतः ।।५५।।

अन्वयार्थ–(किञ्च) और उसने (भूयोभूयः) बार-बार (व्योम-भूमिं) आकाश और भूमि को (तथा) वैसे ही पुत्तली/कन्या के रूप में (ईक्षतः) देखते हुए (आशाः) दिशाओं को (आलिङ्गितुं) आलिंगन करने के लिए ही (इव) मानो (भुजद्वयम्) दोनों भुजाओं को (प्रसारयामास) फैलाया ।

मूर्च्छा-प्रलाप-वैवर्ण्य-स्वेद-रोमाञ्च-कम्पितम् ।
तस्यासीत्सततं गात्रं सन्निपात-ज्वरादिव ।।५६।।

अन्वयार्थ–(सततं) निरंतर (सन्निपातज्वरात् इव) सन्निपात ज्वर से ही मानो (मूर्च्छा-प्रलाप-वैवर्ण्य-स्वेद-रोमाञ्च-कम्पितम्) मूर्च्छा, प्रलाप, वैवर्ण्य, पसीना, रोमाञ्च और कंपन से संयुक्त (तस्य) उसका (गात्रं) शरीर (आसीत्) हो गया ।

इत्यालोच्य ततस्तस्य सुहृदः स्मरसंभवाम् ।
दशामावेदयामासु-राशु[2] ताताय[3] तत्पराः ।।५७।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (इति आलोच्य) इस प्रकार विचार कर (तस्य तत्पराः सुहृदः) उसके कुशल मित्रों ने (स्मरसंभवाम्) काम से उत्पन्न (दशाम्) दशा को (ताताय) पिता के लिए (आशु) शीघ्र (आवेदयामासुः) आवेदित/सूचित किया ।

यावन्मानधनोऽद्यापि न याति दशमीमयम् ।
दशां कन्तोः कुमारस्य कुरु तावत्समीहितम् ।।५८।।

अन्वयार्थ–(अपि) तथा हे श्रेष्ठिन् ! (अद्य) आज (यावत्) जब तक (अयं मानधनः) यह सम्मानीय कुमार (दशमीं दशां) काम की दसवीं मरणरूप दशा/अवस्था को (न याति) प्राप्त नहीं होता (तावत्) तब तक (कन्तोः कुमारस्य) सुन्दर कुमार के (समीहितं) इच्छित कार्य को (कुरु) पूर्ण करो ।

उनकी उत्तरोत्तर इस काम-ज्वर से भयंकर ही दशा हो गई । वे अपनी दोनों बाहुओं को पसार कर उसके आलिंगन की इच्छा से कभी पृथ्वी पर लेटने लगे । कभी आकाश में हाथ बढ़ाने लगे और कभी दिशा-विदिशाओं में उठ-उठकर भागने लगे ।।५५।।

उसके शरीर में निरंतर सन्निपात-ज्वर के समान काम-ज्वर से होने वाली सब चेष्टाएँ होने लगीं । उसे रह-रहकर मूर्च्छा आ घेरती मनमानाप्रलाप करता, मुख की कांति क्षीण हो गई, पसीना छूटने लगा, शरीर रोमाञ्चित हो काँपने भी लगा ।।५६।।

इस प्रकार कुमार को काम के बाणों से विद्ध और उसकी दशों अवस्थाओं को देखकर, उसके दक्ष मित्रों ने उसे कामासक्त जानकर, शीघ्र उसके पिता के पास जाकर संपूर्ण वृतान्त कह सुनाया ।।५७।।

मित्र कहने लगे हे मान्य आर्यवर ! आपके पुत्र की दयनीय दशा है, वह काम वेदना से अत्यंत पीड़ित हो चुका है । उसकी दसवीं दशा जब तक प्राण घातक न हो, उसके पूर्व ही उसके इच्छित कार्य की सिद्धि का शीघ्र उपाय करिये ।।५८।।

---

१. वारंवारम् । २. शीघ्रम् । ३. जनकाय ।

उदन्तं[1] तं समाकर्ण्य रोमाञ्च-कवचाञ्चितः ।
सञ्जहास शनैरास्यं पश्यंस्तेषां मुहुर्मुहुः ।।५९।।

अन्वयार्थ–(तम्) उस (उदन्तं) समाचार को (समाकर्ण्य) सुनकर (रोमाञ्च-कवचाञ्चितः) रोमाञ्च-रूपी कवच से सहित सेठ (शनैः) धीरे से (तेषां) उन जिनदत्त के मित्रों के (आस्यं) मुख को (मुहुर्मुहुः) बार-बार (पश्यन्) देखते हुए (सञ्जहास) हँस पड़े ।

कुण्ठीभवन्त्यहो यस्य चेतसो वज्रसूचयः ।
तस्यापि भेदने शक्ताः कटाक्षाः किल योषिताम् ।।६०।।

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके (चेतसः) मन के (भेदने) भेदन करने में (वज्रसूचयः) वज्र की सूईयाँ (कुण्ठीभवन्ति) कुण्ठित हो जाती हैं (अहो) आश्चर्य है ! (तस्यापि) उसका भी चित्त (किल) नियम से (योषिताम्) स्त्रियों के (कटाक्षाः) कटाक्ष/आँखों व भौंहों के संचालनरूप विलास को (भेदने) भेदन करने में (शक्ताः) समर्थ हैं ।

सञ्चिन्त्येति ततस्तांश्च ताम्बूलाम्बरभूषणैः ।
संविभज्य जगामासौ यत्रास्ते देहसम्भवः[2] ।।६१।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (इति संचिन्त्य) इस प्रकार विचारकर (तान् च) और उन सूचित करने वाले जनों को (ताम्बूलाम्बरभूषणैः) तांबूल, वस्त्र और आभूषणों के द्वारा (संविभज्य) सत्कार कर (असौ) वह जीवदेव सेठ (यत्र) जहाँ (देहसम्भवः) पुत्र जिनदत्त (आस्ते) था (तत्र जगाम) वहाँ गया ।

तं विलोक्य तथाभूतं श्रेष्ठिनेति विचिन्तितम् ।
दुःसाध्या कार्यसंसिद्धिः कुमारः पुनरीदृशः ।।६२।।

अन्वयार्थ–(तथाभूतं) उस तरह अधम काम में चिन्तामग्न क्षीणकाय अवस्था को प्राप्त (तं) उस जिनदत्त को (विलोक्य) देखकर (श्रेष्ठिनः) सेठ ने (इति) इस प्रकार (विचिन्तितम्) विचार किया कि (कार्यसंसिद्धिः) कार्य की सम्यक् सिद्धि (दुःसाध्या) कठिन है (पुनः) और (कुमारः) कुमार (ईदृशः) ऐसा है अर्थात् कुमार की ऐसी दुर्दशा है ।

मित्रों की वार्ता सुन सेठ हर्ष से झूम उठा, शरीर रोमाञ्चित हो गया, उसका मुख-मण्डल हास्यमय हो गया और उन्हें वह बार-बार देखने लगा ।।५९।।

सेठ विचारने लगा अहो । जिसके चित्त को भेदन करने में वज्र की सूईयाँ भी मोंथली हो गई, उसके मन को स्त्रियों के कटाक्ष भेदने में समर्थ हो गये ।।६०।।

इस प्रकार विचार कर और सूचित करने वाले जनों को ताम्बूल, वस्त्र एवं आभूषणादि प्रदान कर वह अपने पुत्र के पास गया ।।६१।।

पुत्र की दयनीय एवं अत्यन्त क्षीण दशा को देखकर वह चिन्तित हो गया, विचारने लगा इसकी कार्य सिद्धि अत्यंत दुःसाध्य है ।।६२।।

---

१. वृत्तम् । २. पुत्रः ।

विधेर्वशेन नो जाने कार्यं स्यादिह कीदृशम् ।
तथाप्याश्वासयामीति तं जगाद सुतं ततः ॥६३॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (विधेर्वशेन) भाग्य के बस से (नो जाने) मैं नहीं जानता (इह) इस विषय में (कीदृशं) कैसा (कार्यं) कार्य (स्यात्) होगा (तथापि) तो भी (तं) उस (सुतं) पुत्र को (आश्वासयामि) समझाता हूँ (इति) इस प्रकार (जगाद) कहा ।

मुञ्च खेदं महाबुद्धे ! मानसं सकलाः क्रियाः ।
कुरु स्नानादिकाः शीघ्रं पूरये तव वाञ्छितम् ॥६४॥

अन्वयार्थ–(महाबुद्धे) हे महाबुद्धिशालिन् ! (मानसं खेदं मुञ्च) मानसिक खेद को छोड़ो (स्नानादिकाः) स्नान आदिक (सकलाः क्रियाः) सम्पूर्ण क्रियाएँ (कुरु) करो (तव वाञ्छितम्) तुम्हारे मनोवाञ्छित कार्य को मैं (शीघ्रं पूरये) शीघ्र पूरा करूँगा ।

यदीह राजकन्यापि खेचरी वापि सुन्दरी ।
उत्सङ्गसङ्गतां पुत्र ! करिष्यामि तथापि ते ॥६५॥

अन्वयार्थ–(पुत्र !) हे पुत्र ! (इह) यहाँ (यदि) अगर वह (राजकन्या अपि) राजकन्या भी हो (अपि वा) अथवा (खेचरी सुंदरी) विद्याधरी सुंदर कन्या हो (तथापि) तो भी (ते) तुम्हारी (उत्सङ्ग-सङ्गतां) गोदी की संगति को (करिष्यामि) करूँगा अर्थात् उसके साथ तेरा संगम करा दूँगा ।

कार्यान्तरं परित्यज्य तथा वत्स ! विधास्यते ।
मया यत्नो यथा तथ्यो निष्पत्त्यैव भविष्यति ॥६६॥

अन्वयार्थ–(वत्स !) हे पुत्र (कार्यान्तरं परित्यज्य) अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर (तथा) उसी तरह (मया) मेरे द्वारा (यत्नः) प्रयत्न (विधास्यते) किया जायेगा जिससे (यथातथ्यः) वास्तविक कार्य की (निष्पत्तिएव) सिद्धि ही (भविष्यति) होगी ।

विधाता ही जाने इसका कार्य किस प्रकार का होगा, न जाने साध्य है या असाध्य, जो हो इस समय इसे आश्वासन ही देना उचित है, विश्वास दिलाता हूँ, इस प्रकार मन में विचार कर वह पुत्र से कहने लगा ॥६३॥

हे महाभाग ! मानसिक खेद का परित्याग करो, प्रसन्न हो अपनी स्नानादि समस्त क्रियाओं को यथाविधि करो, हे मनोहर ! शीघ्र तुम्हारे मनोवाञ्छित कार्य को पूरा करूँगा ॥६४॥

जिस पर तुम्हारा मन मुग्ध हुआ है चाहे वह राजकन्या ही क्यों न हो, विद्याधर कन्या रहे अथवा सुंदर कन्या हो, हे प्रिय ! शीघ्र ही मैं तुम्हारा उसके साथ सङ्गम कराऊँगा अर्थात विधिवत् आगमानुकूल विवाह कराऊँगा ॥६५॥

हे पुत्र ! अन्य समस्त कार्यों का त्यागकर, प्रथम वह कार्य करूँगा जिससे तुम्हारे मनोरथ की सिद्धि होगी ॥६६॥

समाश्वास्येति तं श्रेष्ठी स जगाम तदालयम् ।
तां विलोक्य ततस्तेन विस्मितेन धुतं[1] शिरः ।।६७।।

अन्वयार्थ–(तं) उस जिनदत्त को (इति) इस प्रकार (समाश्वास्य) आश्वासन देकर (सः) वह (श्रेष्ठी) सेठ (तदालयं) उस जिनालय को (जगाम) गया (ततः) उसके बाद (तेन) उसने (तां विलोक्य) चित्र में चित्रित उस सुंदरी को देखकर (विस्मितेन) आश्चर्य से (शिरः घुतं) सिर को हिलाया ।

विश्वातिशायिनी कान्ती रूपं विश्वविमोहकम् ।
लज्ञाकर मिदं चास्य लावण्यं[2] विश्वयोषिताम् ।।६८।।

अन्वयार्थ–अहो ! इसकी (विश्वातिशायिनी कान्तिः) विश्व में अतिशय युक्त कान्ति (विश्व-विमोहकं रूपं) विश्व को मोहित करने वाला रूप (च अस्य) और इसका (इदं) यह (लावण्यं) सौंदर्य (विश्वयोषिताम्) विश्व की स्त्रियों को (लज्ञाकरं) लज्ञा उत्पन्न करने वाला है ।

प्रतिबिम्बमिदं यस्याः सास्ति काचन सुन्दरी ।
अदृष्टमीदृशं रूपं निर्मातुं[3] न हि शक्यते ।।६९।।

अन्वयार्थ–(यस्याः) जिसका (इदं) यह (प्रतिबिम्बं) प्रतिबिम्ब है (सा) वह (काचन) कोई (सुंदरी) सुन्दर कन्या (अस्ति) है (ईदृशं) इस प्रकार के (अदृष्टम्) बिना देखे काल्पनिक (रूपं) रूप को (निर्मातुं) बनाने के लिये (न हि शक्यते) कोई समर्थ नहीं है ।

युक्तं यदत्र पुत्रस्य मनो लीनमजायत ।
यदस्या दर्शनात्तेऽपि नूनं मुह्यन्ति नाकिनः[4] ।।७०।।

अन्वयार्थ–(यत्) जो (पुत्रस्य) मेरे पुत्र का (अत्र) इस सुंदरी में (मनः) मन (लीनं) लीनता को (अजायत) प्राप्त हुआ (तत् युक्तं) वह ठीक ही है । (यत्) क्योंकि (अस्याः) इसके (दर्शनात्) दर्शन मात्र से ही (नूनम्) नियम से (ते) वे (नाकिनः) देव (अपि) भी (मुह्यन्ति) मोहित होते हैं ।

उपर्युक्त साहस भरे वचनों से पुत्र को कुछ संतुष्ट कर सेठ जीवदेव, अपने पुत्र की प्यारी मनोहारिणी मूर्ति को देखने के लिए, नित्य मंडित चैत्यालय की तरफ गये और वहाँ उसे देखकर अपना सिर हिलाने लगे ।।६७।।

विश्वकांति को तिरस्कृत करने वाली इसकी सौम्य कान्ति और इसकी रूप राशि विश्व को मोहित करने वाली है, इसका यह सौंदर्य विश्व की स्त्रियों को लज्ञा उत्पन्न करने वाला है ।।६८।।

अहा ! संसार की समस्त नारियों के रूप और लावण्य को अपने रूप और लावण्य के प्रभाव से जीतने वाली यह मूर्ति धन्य है । अवश्य ही यह किसी न किसी की प्रतिमूर्ति है । बिना किसी कन्या के रूप देखे, ऐसी मूर्ति का बनाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है ।।६९।।

मेरे पुत्र का मन इसमें लीन हुआ यह ठीक ही है क्योंकि इसके देखने मात्र से मनुष्य क्या देव भी मुग्ध हो जायेंगे ।।७०।।

---

१. कम्पितम् । २. मुखलावण्यं । ३. रचयितुम् । ४. देवाः

एवम्विधेऽपि यच्चित्तं नानुरागभरालसम् ।
समग्ररसशून्यात्मा नरः पाषाण एव सः ।।७१।।

अन्वयार्थ–(एवम्विधे) इस प्रकार के सुंदर चित्र पर (अपि) भी (यत् चित्तं) जिसका मन (अनुरागभरालसं) अनुराग के भार से अलसाया हुआ (न) नहीं होता (सः) वह (समग्ररसशून्यात्मा) संपूर्ण रसों से शून्य स्वभाव वाला (नरः) मनुष्य (पाषाणः एव) पत्थर ही है ।

सम्भाव्येति समाहूतस्तेनासौ येन शिल्पिना ।
कृता सा सोऽपि संपृष्टः केयं क्वास्ते च कीदृशी ।।७२।।

अन्वयार्थ–(असौ) उस सेठ ने (इति संभाव्य) इस तरह का विचार कर (येन) जिस (शिल्पिना) शिल्पी के द्वारा (सा कृता) वह मूर्ति बनाई गई थी (तेन) उस सेठ के द्वारा (सः) वह शिल्पी (समाहूतः) बुलाया गया (अपि संपृष्टः) और पूछा (इयं) यह (का) कौन है (क्व आस्ते) कहाँ रहती है (च) और (कीदृशी) कैसी है ?

तेनाभाणि महाभाग ! चम्पायां विमलात्मनः ।
श्रेष्ठिनो विमलस्येयं विमलादिमतीः[1] सुता ।।७३।।

अन्वयार्थ–(तेन) उस शिल्पी ने (अभाणि) कहा (महाभाग) हे महाभाग ! (चम्पायां) चम्पानगरी में (विमलात्मनः) निर्मल आत्मा (विमलस्य श्रेष्ठिनः) विमल श्रेष्ठी की (इयं) यह (विमलादिमतीः) विमलमती नामक (सुता) पुत्री है ।

वेणीवलय-विस्रस्त - पुष्पभ्राम्यन्मधुव्रता ।
कपोल-फलकोद्भूत-स्वेदबिन्दु - चितानना ।।७४।।

अन्वयार्थ–(वेणी-वलय-विस्रस्त-पुष्प-भ्राम्यन्मधुव्रता) चोटी की गोलाई के चारों तरफ गुँथे हुए फूलों पर भौंरे मंडरा रहे हैं (कपोलफलकोद्भूत-स्वेद-बिन्दु-चितानना) उसका मुख गालरूपी पटिए पर संचित/उत्पन्न हुईं पसीने की बूँदों से व्याप्त है ।

इस प्रकार का समस्त रसों के सामंजस्य से युक्त अद्भुत चित्र देखकर, यदि किसी मनुष्य का चित्त द्रवित नहीं हो, तो वह मनुष्य नहीं शून्यात्मा पाषाण ही है ।।७१।।

इस प्रकार उस सेठ ने विचार कर इस चित्र को चित्रित करने वाले शिल्पी को बुलवाया तथा यह कन्या कौन है ? कहाँ है ? और कैसी है ? इस तरह के प्रश्न पूछे ।।७२।।

उत्तर में शिल्पी ने कहा- सेठ जी चम्पानगरी में निर्मल मन वाले विमल सेठ रहते हैं, उनकी यह विमलमती नाम की पुत्री है ।।७३।।

उस समय यह अपने केशपाश की चोटी में चारों तरफ पुष्प लगाये थी । उनकी सुगन्धि से गुंजारते हुए भ्रमर इसके शिर पर भ्रमण कर अपूर्व ही शोभा बढ़ा रहे थे । खेल में परिश्रम पड़ने के कारण, इसके मुख के गालरूपी पटिए पर पसीने की सूक्ष्म-सूक्ष्म बूँदें झलक रही थीं ।।७४।।

१. विमलमतिनाम्नी ।

चेलाञ्चलं तथा चारु हारावलिमसौ शनैः।
संयम्य सर्वतो बद्ध-लक्षा मण्डलचारिणी ।।७५।।
कन्यका कमनीयांगी[1] क्रीडन्ती कन्दुकेन सा।
समं सखीभिरालोकि विस्मितेन मया चिरम् ।।७६।।युग्मम्।।

अन्वयार्थ–(तथा) और (असौ) यह (चेलाञ्चलं) वस्त्र का अग्रभाग अंचल को (तथा) (चारु हारावलिम्) सुंदर हार-बली को (सर्वतः) सब ओर से (संयम्य) संभालकर (वद्धलक्षा) बांधा है लक्ष्य को जिसने ऐसी (शनैः) धीरे-धीरे (मंडलचारिणी) सखी समूह के साथ गमन करती हुई (कंदुकेन) गेंद से (क्रीडन्ति) खेलती हुई (कमनीयांगी) मनोहर अंगों वाली (सा कन्यका) वह कन्या (विस्मितेन) विस्मय-पूर्वक (मया) मेरे द्वारा (चिरम्) चिरकाल तक (सखीभिः समं) सखियों के साथ (आलोकि) देखी गई।

आगत्येदं ततः साधो मत्वात्यन्तं मनोहरम्।
अत्र [2]तद्रूपमाकल्पि शतांशादिव किञ्चन ।।७७।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (साधो) हे सज्जन पुरुष! (अत्र) यहाँ (आगत्य) आकर (इदं) यह (अत्यन्त मनोहरम्) अत्यधिक सुंदर (तद्रूपं) उस कन्या के रूप को (मत्वा) मानकर (किञ्चन) कुछ (शतांशात् इव) सौवें भाग के बराबर (आकल्पि) कल्पित किया/बनाया।

ततो वितीर्य हृष्टात्मा स तस्मै पारितोषिकम्।
जिनदत्तप्रतिच्छन्दं लेखयामास तत्पटे ।।७८।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (हृष्टात्मा) प्रसन्न चित्त (सः) उस सेठ ने (तस्मै) उस शिल्पी के लिए (पारितोषिकम्) पुरस्कार (वितीर्य्य) वितरण कर (तत्पटे) उसी चित्रपट पर (जिनदत्त-प्रतिच्छन्दं) जिनदत्त के चित्र को (लेखयामास) लिखवाया।

तं समर्प्य ततस्तत्र प्रेषिता वरणाय ताम्।
पटिष्ठाः श्रेष्ठिना वक्तुं चम्पायां नरसत्तमाः ।।७९।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (श्रेष्ठिना) सेठ जी के द्वारा (पटिष्ठाः) चित्रपट सहित (नरसत्तमाः)

इसके वस्त्र का अंचल-चंचल हो रहा था। सुंदर हार को सब ओर से संभाल कर अपने निर्दिष्ट कार्य की ओर धीरे-धीरे सखियों सहित गमन करती हुई, यह अत्यन्त कमनीय कन्या गेंद से अपनी सखियों के साथ खेल रही थी। उस समय मैंने बड़े आश्चर्य से उसे चिरकाल तक निहारा ।।७५,७६।। इसकी सुंदरता पर प्रसन्न हो मैंने वहाँ से आकर यह मूर्ति यहाँ उकेर दी। यद्यपि मैंने उसी कन्या को मन में रखकर यह मूर्ति बनाई है तो भी मुझे विश्वास है कि यह पूरी तरह से वैसी नहीं बन पाई है। यह केवल उसका सौवाँ हिस्सा है ।।७७।।

कारीगर के उपर्युक्त वचन सुनकर सेठ जी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे खूब पारितोषक दिया और जिनदत्त की प्रतिमूर्ति उसी पट पर उससे चित्रित करने को कहा ।।७८।।

जब मूर्ति पट पर अंकित हो गई तो सेठ जी ने संदेश-कुशल श्रेष्ठ-पुरुष शीघ्र ही बुलवाये और

---

१. कमनीयं मनोज्ञं अङ्गं शरीरं यस्याः सा । २. दत्वा तत्पटे प्रतिबिम्बं दत्वा।

मनुष्यों में श्रेष्ठ संदेशवाहक (तम्) उस चित्रपट को (समर्प्य) समर्पित कर (तां वरणाय) उस कन्या को वरण करने के लिए (वक्तुं) कहने को (तत्र) वहाँ (चम्पायाम्) चम्पापुरी में (प्रेषिताः) भेजे।

तैर्गत्वा दर्शितो लेखः श्रेष्ठिनः सपटस्तदा।
मेने तेनापि संसिद्धं तद्दृष्ट्वाशु समीहितम् ॥८०॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तैः गत्वा) उन संदेशवाहकों ने वहाँ जाकर (श्रेष्ठिनः) सेठ के (सपटः) चित्रपट सहित (लेखः) पत्र को (दर्शितः) दिखाया (तेन अपि) उस विमल सेठ ने भी (तद्दृष्ट्वा) उसको देखकर (आशु) शीघ्र ही (समीहितम्) इच्छित कार्य को (संसिद्धं) सम्यक् रूप से सिद्ध हुआ (मेने) माना।

दत्त्वास्मै कन्यकामेतां कृतकृत्यो भवाम्यहम्।
संभाव्येति चकारैषां गौरवं गुणसागरः ॥८१॥

अन्वयार्थ—(अस्मै) इस जिनदत्त के लिए (एताम्) इस (कन्यकां) कन्या को (दत्वा) देकर (अहं) मैं (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवामि) होता हूँ। (इति) इस प्रकार (संभाव्य) विचार कर (गुणसागरः) गुणों के सागर विमल सेठ ने (एषां) इन पत्रवाहकों का (गौरवं) बड़ा सत्कार (चकार) किया।

तातोपान्तगता सापि तमद्राक्षीत्पटं सुता।
दर्शनादेव चास्याभून्मनोभूशरशल्यिता ॥८२॥

अन्वयार्थ—(तातोपान्तगता) पिता के पास गई हुई (सा सुता अपि) उस पुत्री ने भी (तम् पटं) उस जिनदत्त के चित्रपट को (अद्राक्षीत्) देखा वह विमलमति (अस्य) इस चित्रपट के (दर्शनात् एव) दर्शन से ही (मनोभू-शर-शल्यिता) कामदेव के बाणों से घायल/पीड़ित (अभूत) हो गई।

सङ्क्रान्तमिव तद्रूपं तदा तस्या हृदि ध्रुवम्।
यत्तस्य दर्शनात्सापि समभून्निश्चलाखिला ॥८३॥

अन्वयार्थ—(तदा) तब (तस्या) उसके (हृदि) हृदय में (ध्रुवम्) स्थाई रूप से (तद्रूपम्) उसका

उन्हें चंपापुरी में विमल सेठ के यहाँ जाने को कहकर रवाना कर दिया ॥७९॥

संदेशवाहक लोग यथासमय चंपापुरी पहुँचे और विमल सेठ के यहाँ जाकर जिनदत्त का चित्रपट तथा सेठ जी का पत्र दिखाकर बोले—श्रीमान! हमारे सेठ ने आपकी सेवा में यह अपने पुत्र का चित्र और यह पत्र भेजा है, सेठ ने भी चित्र देखा एवं पत्र पढ़कर अपने कर्त्तव्य कार्य को घर बैठे शीघ्र ही सम्यक् रूप से सफल हुआ माना ॥८०॥

इस जिनदत्त के लिए इस कन्या को प्रदान कर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। वस्तुतः मेरी कन्या के योग्य ही यह वर है, इस प्रकार विचार कर गुणों के सागर विमल सेठ ने इन पत्रवाहकों का खूब पुरस्कार-सत्कार किया ॥८१॥ सेठ जी के पास कार्यवश आई हुई पुत्री विमलमति ने जब उस चित्र को देखा तो उसका चित्त भी अचानक ही काम के बाणों से घायल हो गया ॥८२॥

चित्र के देखने मात्र से उसके मन की विलक्षण दशा हो गई। उसके मन में उस चित्र का रूप

वह रूप (सङ्क्रान्तं एव) संलग्न हुए की तरह (यत्) जो (तस्य दर्शनात्) उस जिनदत्त के चित्र के दर्शन से (सा अपि) वह कन्या भी, (अखिला निश्चला) पूर्ण स्थिर (संभूत) हो गई।

सखी वसन्तलेखास्या जग्राहाञ्चलमुत्सुका।
अन्तरेऽत्र तया सापि हुंकृत्वैव निवारिता ॥८४॥

अन्वयार्थ–(अत्र अन्तरे) इसके बीच में (उत्सुका) उत्सुक होती हुई (अस्या) इसकी (वसन्तलेखासखी) वसन्तलेखा नामक सखी ने (अंचलं) आँचल को (जग्राह) खींचा (तया) उस विमलमती के द्वारा (सा अपि) वह सखी भी (हुंकृत्वा एव) हुंकार करके ही (निवारिता) रोकी गई।

सा ददर्श यथालब्ध-लक्षं शून्यं जहास च।
अस्फुटार्थं जजल्पातस्तातेनाज्ञायि[1] तन्मनः ॥८५॥

अन्वयार्थ–(सा) उस विमलमती ने (यथालब्ध-लक्ष/लक्ष्यं) यथा/अनुरूप प्राप्त हुए लक्ष्यरूप चित्रपट को (ददर्श) देखा (शून्यं) एकांत में (जहास) हँसने लगी (च) और (अस्फुटार्थं) अस्पष्ट अर्थ को (जजल्प) बार-बार बोली (अतः) इसलिए (तन्मनः) उसके मन को (तातेन) पिता ने (अज्ञायि) जान लिया।

आलोच्य बन्धुभिः सार्द्धं कार्यमार्यजनोचितम्।
संविभक्ता गतास्तेऽपि सलेखाः श्रेष्ठिना ततः ॥८६॥

अन्वयार्थ–(श्रेष्ठिना) सेठ ने (बन्धुभिः सार्द्धं) बंधुओं के साथ (आर्यजनोचितम्) आर्य-जनों के योग्य (कार्यम्) कार्य को (आलोच्य) विचार कर (ततः) उसके बाद (सलेखाः) लेख सहित संदेश-वाहक (संविभक्ताः) भेजे (ते) वे (अपि) भी (गताः) चले गये।

लेखार्थमथ निश्चित्य जिनदत्तपिता स्वयम्।
कृत्वा यथोचितां तत्र सामग्रीं [2]प्राहिणोत्सुतम् ॥८७॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (स्वयं जिनदत्तपिता) स्वयं जिनदत्त के पिता ने (लेखार्थं) लेख के अर्थ/अभिप्राय को (निश्चित्य) निश्चय कर (तत्र) वहाँ (यथोचितां) यथायोग्य (सामग्रीं) सामग्री को

मानो सङ्क्रान्त/चित्रित/अंकित ही हो गया, इस रूप से वह परिपूर्ण निश्चेष्ट खड़ी रह गई ॥८३॥

उसी समय उसकी सखी वसंतलेखा ने उत्सुकतावश, उस विमलमती का अंचल खींच कर उसे सावधान किया किन्तु विमलमती ने हुं कहकर उसे रोका ॥८४॥

उस कन्या को लक्ष्यसिद्ध, संज्ञा शून्य, अस्पष्टालाप आदि चेष्टाओं से उस चित्र पर मुग्ध हुई जानकर पिता ने, उसके मनोनुकूल कार्य करने का निश्चय किया ॥८५॥

सेठ ने बन्धुओं के साथ आर्य-जनों के योग्य क्या कार्य है, ऐसा विचार-विमर्श कर पत्रवाहक भेजे और वे भी चले गये ॥८६॥

लेख-पत्र द्वारा स्वीकृति पाते ही सेठ ने चम्पानगरी की ओर प्रस्थान करने का निर्णय लिया, विवाहोत्सव के अनुकूल समस्त सामग्री एकत्रित कर बन्धु-बांधवों को आमंत्रित कर निमन्त्रित किया

---

१. ज्ञातम्। २. अप्रेषयत्

(कृत्वा) करके (सुतम्) पुत्र को (प्राहिणोत्) भेज दिया ।

प्राप्तः सोऽपि ततश्चम्पा-मकम्पां रिपुसंहतेः ।
तर्जयन्तीं ध्वज-व्रातैः पुरन्दर-पुरीमिव[1] ॥८८॥
तदुद्याने स्थितस्तेन विहितोचित-सत्क्रियः ।
तत्काल-मङ्गलारम्भ - व्यग्राशेष-परिग्रहः ।८९॥
जातेऽथ समये तत्र समुत्सव-शताश्रिते ।
संस्नात-कल्पितानल्प-माल्याम्बर-विभूषणः ॥९०॥
गीत-नृत्य-समासक्तोऽ- नन्त-सीमन्तिनी-जनः ।
चतुर्विध-महावाद्य - बधिरीकृत-दिग्मुखः ॥९१॥
चारु-पौरांगना-नेत्र - शतपत्र-दलाश्रितः ।
दीनानाथ-जनाँस्तन्वन् कृतकृत्यान्समन्ततः ॥९२॥
तत्कालोचित-यानेन वयस्यैः सहितो मुदा ।
प्रवृत्तः प्रेम-सम्भार-भारितो वल्लभामभि[2] ॥९३॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (सः अपि) वह जिनदत्त भी (रिपुसंहतेः) शत्रु समूह से (अकम्पां) अजेय (चम्पाम्) चंपानगरी को (प्राप्तः) प्राप्त हुआ वह नगरी (ध्वजव्रातैः) ध्वजा समूह के द्वारा (रिपुसंहतेः) शत्रु समूह की (तर्जयन्ती) तर्जना करती हुई (पुरन्दरपुरीं इव) इन्द्रपुरी के समान जान पड़ती थी (तद्उद्याने) उस चम्पापुरी के उद्यान में (स्थितः) ठहरे हुए (तेन) उस जिनदत्त के द्वारा (विहितोचितसत्क्रियः) विवाह के योग्य मांगलिक सत्क्रियायें की गईं (तत्कालमङ्गलारम्भ-व्यग्राशेष-परिग्रहः) उस समय मङ्गल के आरंभ में आकुलित/व्यस्त और सभी सामग्री से संपन्न थे । (अथ) तत्पश्चात (तत्र) वहाँ (समुत्सव-शताश्रिते) उत्तम सैकड़ों उत्सवों से सहित (समये जाते) समय के होने पर (संस्नात-कल्पितानल्प-माल्याम्बर-विभूषणः) अच्छी तरह से स्नान किये हुए बनाई हुई अनेक माला, वस्त्रों व आभूषणों से विभूषित (अनन्तसीमन्तिनीजनः गीतनृत्यसमासक्तः) अगणित सौभाग्यवती स्त्रियाँ गाने और नाचने में तल्लीन हो गईं (चतुर्विधमहावाद्य-बधिरीकृत-दिग्मुखः) तत्,

---

एवं बड़े साज-बाज के साथ पुत्र को लेकर चल दिये ॥८७॥

वह जिनदत्त भी शत्रु समूह से अजेय चंपानगरी को पहुँचा । वह चंपानगरी ध्वजा समूह के द्वारा शत्रु समुदाय की तर्जना करती हुई इन्द्रपुरी के समान जान पड़ती थी, वह उस चम्पानगर के उद्यान में ठहरा । उसने वहीं सम्पूर्ण क्रियाकलापों को प्रारम्भ किया। विवाह के योग्य समस्त विधि-विधान की तैयारी कर शीघ्र ही मङ्गल कार्य आरम्भ किया, तत्काल सैंकड़ो उत्सव प्रारम्भ हो गये, मंगल स्नान, वस्त्रालङ्कार-मण्डन मंगल-मालारोपण और ताम्बूल प्रदानादि क्रियाओं सहित सौभाग्य-शालिनी स्त्रियाँ गीत, नृत्य, वादित्र और संगीत आदि करने लगीं तथा तत, वितत, सुषिर और घन इन चार प्रकार के वादित्रों से दशों-दिशाएँ बधिर-सी हो गूंजने लगीं । कमलनयनी सैकड़ों सुंदर पुरस्त्रियाँ धूम-धाम से

---

१. इन्द्रनगरीम् । २. प्रियासन्मुखम्

वितत, सुषिर और घन चार प्रकार के बड़े बाजों से दशों दिशायें बधिर-सी हो गूंजने लगीं। (चारु-पौराङ्गनानेत्र-शतपत्र-दलाञ्चितः) सुंदर पुरस्त्रियों के नेत्ररूपी कमलदल से व्याप्त (समन्ततः) सब ओर से (दीनानाथ-जनान्) दीन व अनाथ मनुष्यों को (कृतकृत्यान्) कृतकृत्यता को (तन्वन्) विस्तार करता हुआ (तत्कालोचितयानेन) उस काल के योग्य सवारी के द्वारा (वयस्यैः) मित्रों के (सहितः) साथ (मुदा) हर्ष से (प्रेमसंभार-भारितः) अत्यधिक प्रेम के भार से भरा हुआ (वल्लभां अभि) प्रिया के सम्मुख (प्रवृत्तः) गया।

यथाक्रमं कृताशेष-विवाहविधिमंगला।
तत्रासौ वीक्षिता तेन पताकेव मनोर्भुवः[1] ॥९४॥

अन्वयार्थ—(यथाक्रमं) यथाक्रम से (कृताशेषविवाह-विधि-मङ्गला) की गई हैं संपूर्ण विवाह-विधि की मंगल क्रियाएँ जिसकी ऐसी (असौ) वह विमलमती (तत्र) वहाँ (मनोभुवः) कामदेव की (पताका इव) पताका के समान (तेन) उस जिनदत्त के द्वारा (वीक्षिता) देखी गई।

तद्दर्शनाम्भसा सिक्तास्तथास्य प्रेमपादपः।
ववृधे शतशाखं स यथामानं मनोवनौ[2] ॥९५॥

अन्वयार्थ—(तद्दर्शनाम्भसा) उस प्रिया के दर्शनरूपी जल से (सिक्तः) सींचा गया (अस्य) इसका (प्रेमपादपः) प्रेमरूपी वृक्ष (मनोवनौ) मनरूपी पृथ्वी पर (यथामानं) यथोचित प्रमाण रूप में (शतशाखं) सैकड़ों शाखाओं के रूप में (ववृधे) वृद्धि को प्राप्त हुआ।

चित्तभूरिति[3] मिथ्यासी-रूढिरेषा सदा स्मरे।
यत्तदालोकनात्तस्य सर्वाङ्गेभ्यः समुद्ययौ ॥९६॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (स्मरे) काम के विषय में (सदा) निरंतर (चित्त-भूः इति) मन से उत्पन्न होता है इस प्रकार की (एषा रूढ़िः) यह रूढ़ि/रीति/परम्परा (मिथ्या आसीत्) झूठ हो गई थी (यत्) क्योंकि (तत् आलोकनात्) उस विमलमती के देखने से (तस्य) उस जिनदत्त के (सर्वाङ्गेभ्यः) सभी अंगों से वह काम (समुद्ययौ) प्रकट हो गया था।

अपने-अपने कार्य में संलग्न, दीनों व अनाथों को मनोवाञ्छित दान देकर कृतकृत्यपने को करता हुआ चारों ओर मधुर वातावरण वाला जिनदत्त उसी समय विवाह योग्य पालकी में सवार हो, अपने मित्रों के साथ आनंद सहित प्रेम संभार से भरा हुआ प्रिया के सम्मुख गया ॥८८,८९, ९०, ९१,९२,९३॥कुलकं॥

यथाक्रम से जिसकी गृहस्थ धर्मानुसार समस्त विवाह-पाणिग्रहण संस्कारादि क्रियाएँ प्रारंभ हुईं उसी समय कुमार ने उस साक्षात् कामदेव की ध्वजा स्वरूप कमनीय कान्ता का अवलोकन किया ॥९४॥

विमलमती के दर्शनरूपी जल से सींचा गया कामदेवरूपी वृक्ष उनके मनरूपी पृथ्वी में सैकड़ों शाखाओं और प्रतिशाखाओं से वृद्धिंगत होने के कारण उससे बाहर निकलने की कोशिश करने लगा ॥९५॥

काम को लोग केवल मन से उत्पन्न होने वाला कहते हैं परंतु उस समय वह काम उस जिनदत्त के समस्त अंगों से उत्पन्न हो रहा था, इसलिए पूर्वोक्त वचन सर्वथा मिथ्या प्रतीत होने लगा ॥९६॥

---

१. कामस्य। २. यथा मनूपृथिव्यां न मिमीतेस्म। ३. चित्ते भवतीति रूढिः कामेऽस्ति सा तदा मिथ्याऽभूत्।

यतो यतस्तदङ्गेषु चक्षुः क्षिप्तं समुत्सुकम् ।
ततस्ततः समाकृष्टं चापेनापि मनोभुवः ।।९७।।

अन्वयार्थ–(यतः यतः) जैसे-जैसे जिनदत्त ने (तदङ्गेषु) उस विमलमती के अंगों पर (समुत्सुकम्) उत्सुकतापूर्वक (चक्षुः क्षिप्तं) दृष्टि डाली (ततः ततः) वैसे-वैसे (मनोभुवः) काम ने (अपि) भी (चापेन) बाण से (समाकृष्टं) खींचा अर्थात् काम के बाणों से घायल हो गया ।

कारयामास चैतस्याः पुरोधाः[1] पाणिनीडनम् ।
सलज्ज्ञालिखदेषापि पादांगुष्ठेन भूतलम् ।।९८।।

अन्वयार्थ–(च) और (पुरोधाः) जैन पुरोहित ने (एतस्याः) इस विमलमती का (पाणिनीडनम्) पाणिग्रहण संस्कार जिनदत्त के साथ (कारयामास) करवाया (एषा अपि) वह विमलमती भी (सलज्ज्ञा) लज्ज्ञा पूर्वक (पादांगुष्ठेन) पैर के अंगूठे से (भूतलम्) पृथ्वीतल को (आलिखत्) खोदने लगी ।

सालसे[2] समदे मुग्धे स्निग्धे प्राकृतविभ्रमे ।
गाढोत्कण्ठे सलज्ज्ञे चान्तराले बलिते तदा ।।९९।।
भूमितन्मुखयोर्मध्यं चक्रतुस्तद्विलोचने ।
शङ्के सितासितानेक-नीलोत्पल-दलाकुलम् ।।१००।।युग्मम्।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (सालसे) आलस युक्त (समदे) मद सहित (मुग्धे) मोह से व्याप्त (स्निग्धे) अनुराग युक्त (प्राकृतविभ्रमे) स्वाभाविक हावभाव सहित (गाढोत्कण्ठे) प्रगाढ़ उत्कंठा वाली (सलज्ज्ञे) लज्ज्ञा सहित (च) और (अंतराले) अंतराल में (बलिते) व्याप्त (तद्) उस विमलमती ने (विलोचने) दोनों नेत्रों को (भूमितन्मुखयोर्मध्ये) भूमि और उस जिनदत्त के मुख के बीच में (चक्रतुः) किया, जिससे वह (सितासितानेक-नीलोत्पलदलाकुलम्) श्वेत व श्याम वर्ण वाले अनेक नील कमलों के दल से आकुलित/ व्याप्त जैसा (शङ्के) जान पड़ता था ।

ज्यों-ज्यो सुंदरता देखने के लिए अपने समुत्सुक चक्षु, उन्होंने उसके अंगों पर डाले त्यों-त्यों काम ने उन पर अपना बाण तानना शुरू किया ।।९७।।

जब जैन पुरोहित ने विमलमति का हाथ जिनदत्त के हाथ में ग्रहण कराया, तो वह भी लज्ज्ञा से नम्रीभूत हो अपने पैर के अंगूठे से पृथ्वी को खोदने लगी ।।९८।।

कभी तो वह लज्ज्ञा से भरे हुए गाढ़ उत्कंठा वाले अलसाए समद और स्वाभाविक विलास से शोभित अपने नेत्रों को जिनदत्त के मुख पर ले जाती है और कभी भूमि की तरफ नीचे की ओर दृष्टि गढ़ा टकटकी लगा देखती है जिससे कि उस समय पृथ्वी और जिनदत्त के मुख का मध्यभाग श्वेत और श्याम वर्ण वाले अनेक नील कमलों के दल से आकुलित सरीखा जान पड़ता था ।।९९,१००।।

---

१. पुरोहितः । २. अलससहिते ।

सार्द्धं तया ततस्तत्र परीयाय हुताशनम्[1]।
संगमाद्विरहोद्भूत-सन्तापं वा बहिः स्थितम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके पश्चात् (तत्र) वहाँ (तया सार्द्धं) उस विमलमती के साथ (हुताशनम्) अग्नि की (परीयाय) परिक्रमा की (वा) अथवा उससे ऐसा जान पड़ता था जैसे (संगमात्) दोनों के संगम से (विरहोद्भूत-सन्तापं) विरह से उत्पन्न संताप (बहिः स्थितम्) बाहर स्थित हो गया हो।

जुह्वतस्तस्य तत्राभूल्लाजाशब्दोऽग्नियोगजः।
जानेऽहं योग्यसम्बन्धात्-साधुकारं शिखी[2] ददौ ॥१०२॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (तस्य) उस पुरोहित के (जुह्वतः) हवन करने पर (अग्नि-योगजः) अग्नि के योग से उत्पन्न (लाजा-शब्दः) लाई का चटपट शब्द (अभूत्) हुआ (अहम्) मैं गुणभद्र आचार्य (जाने) जानता-मानता हूँ कि मानो (योग्यसंबंधात्) योग्य सम्बन्ध से, (शिखी) अग्नि ने उस दम्पत्ती को (साधुकारं) आशीर्वाद (ददौ) दिया हो।

धूम्रपानक्षणोद्भूतास्ते तर्योवाष्पबिन्दवः।
निर्गता वा मनोऽमान्तः-कणाः प्रेमरसोद्भवाः ॥१०३॥

अन्वयार्थ–(धूम्रपानक्षणोद्भूताः) हवन संबंधी धूम्रपान के समय उत्पन्न (तयोः) उन दोनों के (ते) वे (वाष्पबिन्दवः) पसीने की बूंदें (वा) मानो (प्रेमरसोद्भवाः) प्रेमरूपी जल से उत्पन्न (मनोमा/मनसः अमा) मन के साथ (अन्तःकणाः) हृदय के कण ही (निर्गताः) निकले हों।

तदासौ मौक्तिकोद्दाम-मालालंकृत-तोरणाम्।
तयामा वेदिकां प्राप्य भद्रासन[3]-मुपाविशत् ॥१०४॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (असौ) यह जिनदत्त (मौक्तिकोद्दाम-मालालंकृत-तोरणाम्) मोतियों की बड़ी-बड़ी मालाओं से सुशोभित वन्दनवारों वाली (वेदिकां) वेदिका को (प्राप्य) प्राप्तकर (तया अमा) उस विमलमती के साथ (भद्रासने) भद्र-आसन पर (उपाविशत्) बैठ गया।

जब वे दोनों उठकर अग्नि की प्रदक्षिणा देने लगे, तो विरह से उत्पन्न हुए और इस समय के संगम से उत्पन्न संताप बाहर ही स्थित हो गया ॥१०१॥

अग्नि में होमे गये लाजों (लाई) के संयोग से जो शब्द हुआ, उससे योग्य वर और कन्या के संगम की अग्नि, प्रशंसा करते हुए के समान मालूम पड़ने लगी ॥१०२॥

हवन के धुएँ की तीव्रता से जो उनके शरीर में पसीना आ गया, वह उनके मन के भीतर नहीं समाने के कारण बाहर आया हुआ प्रेम-रस सरीखा दिखने लगा ॥१०३॥

तब वह जिनदत्त मोतियों की बड़ी-बड़ी मालाओं से अलंकृत तोरणों वाली वेदिका को प्राप्तकर सुंदर आसन पर बैठ गया ॥१०४॥

१. अग्निं। २. अग्निः ३. सप्तम्येकवचनम्।

यान्यक्षतानि नार्योऽर्य्यः[१] ददिरे मस्तके तयोः ।
कुसुमानीव सौभाग्य-मञ्जर्यास्तानि रेजिरे ।।१०५।।

अन्वयार्थ–(नार्योर्य्याः) श्रेष्ठ स्त्रियों ने (तयोः) उन दोनों के (मस्तके) मस्तक पर (यानि अक्षतानि) जिन अक्षतों को (ददिरे) डाल दिया था (तानि) वे अक्षत (सौभाग्यमञ्जर्याः) सौभाग्यरूपी लता के (कुसुमानि इव) फूलों की तरह (रेजिरे) सुशोभित हो रहे थे ।

गीतनृत्यादिकं तत्र प्रारब्धं प्रमदाजनैः ।
पश्यन्तौ यावदानन्द-वार्धिमग्नौ स्थितौ तदा ।।१०६।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (यावत्) जब तक (तत्र) वहाँ (प्रमदाजनैः) नारियों द्वारा (गीत-नृत्यादिकम्) गीत-नृत्य आदि (प्रारब्धं) प्रारम्भ किये गए (तावत्) तब तक (पश्यन्तौ) उस नृत्य आदि को देखते हुए वे दोनों (आनंदवार्धिमग्नौ) आनंद रूप सागर में निमग्न होते हुए (स्थितौ) स्थित रहे ।

निशाविलाससम्पर्को जायतामेतयोरिह ।
इतीव मन्यमानेन भानुनास्ताद्रिराश्रितः[२] ।।१०७।।

अन्वयार्थ–(इह) यहाँ पर (एतयोः) इन दोनों का (निशाविलाससम्पर्कः) रात्रि का विलास संबंध (जायतां) होवे (इति) इस प्रकार (मन्यमानेन इव) मानते हुए के समान (भानुना) सूर्य ने (अस्ताद्रिः) अस्ताचल का (आश्रितः) आश्रय लिया अर्थात् सूर्य अस्त हो गया ।

निमिमील तदाम्भोज-लोचनानि सरोजिनी ।
दुःखभारात्प्रियस्यैव तां दशामुपजग्मुषः[३] ।।१०८।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (सरोजिनी) कमलिनी ने (तां दशां) उस दशा को (उपजग्मुषः) प्राप्त करने वाले (प्रियस्य) प्रिय पति के (दुःखभारात् इव) दुख के भार से ही मानो (अम्भोजलोचनानि) कमलरूपी नेत्रों को (निमिमील) बन्द कर लिया ।

तब श्रेष्ठ-श्रेष्ठ नारियाँ उनके ऊपर जो अक्षत फेंकने लगीं, वे उनके सौभाग्यरूपी लता के बिखरे हुए पुष्पों के समान सुंदर दिखने लगे ।।१०५।।

जब तक वहाँ नारियों द्वारा गीत-नृत्य आदि प्रारम्भ किये गये, तब तक उस नृत्य आदि को देखते हुए वे दोनों आनंद रूप सागर में निमग्न होते हुए बैठे रहे ।।१०६।।

यहाँ पर सूर्य इनके शारीरिक वियोग को और अधिक न देख सकने के कारण ही मानो अस्ताचल चला गया ।।१०७।।

यह देख, विचारी कमलिनी को महान् दुःख हुआ, अपने पति के इस बरताव से बहुत ही दुःखित हुई और उस दुख को अधिक होने से न सहनकर सकने के कारण ही उसने अपने कमलरूपी नेत्रों को बंद कर लिया ।।१०८।।

---

१. अर्यी क्षत्रियी तथा इत्यमरः । २. अस्ताचलः । ३. प्राप्नुवतः

निशासम्भोगश्रृङ्गार-तत्परा हरिणीदृशः ।
आसन् गृहे गृहे दूती संल्लापव्याकुलास्तदा ।।१०९।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (गृहे गृहे) घर-घर में (दूतीसंल्लापव्याकुलाः) दूतियों के साथ बातचीत करने में व्याकुल (हरिणीदृशः) मृगनयनी स्त्रियाँ (निशासम्भोगश्रृङ्गारतत्पराः) रात्रिकालीन सम्भोग श्रृंगार में तत्पर (आसन्) हो गईं ।

प्रससार नभोभूमौ सन्ध्यावल्लीव यारुणा ।
कालेभोत्खाततद्रक्त-कन्दाभो भास्करोऽभवत्[1] ।।११०।।

अन्वयार्थ–(नभोभूमौ) आकाशरूपी पृथ्वी पर (सन्ध्यावल्लि इव) संध्यारूपी लता के समान (या) जो (अरुणा) लालिमा (प्रससार) फैली उससे (भास्करः) सूर्य (कालेभोत्खाततद्रक्तकन्दाभः) कालरूपी हाथी से उखाड़े गए उस लाल कंद की प्रभा के समान (अभवत्) हो गया ।

प्रकाशितं स्वयं विश्व-माक्रान्तं तिमिरारिणा ।
कथं नु शक्यते द्रष्टु-मिति भास्वांस्तिरोदधे[2][3] ।।१११।।

अन्वयार्थ–(विश्वं) विश्व को (तिमिरारिणा) अंधकाररूपी शत्रु से (आक्रान्तं) व्याप्त (दृष्टुम्) देखने के लिए (कथं नु शक्यते) कैसे समर्थ हो सकता (इति) इसलिए (भास्वान्) सूर्य (तिरोदधे) अस्त/अदृश्य हो गया ।

प्रबोधितास्ततो दीपाः प्रतिवेश्म[4] तमश्छिदः ।
सस्नेहाः सद्दृशोपेताः पात्रस्थाः सुजना इव ।।११२।।

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (प्रतिवेश्म) घर-घर में (सुजनाः इव) श्रेष्ठ आत्मीयजनों के समान (तमश्छिदः) अंधकार को छिन्न-भिन्न करने वाले (सस्नेहाः) तेल सहित सुजन पक्ष में स्नेह सहित (सद्दृशोपेताः) अच्छी रोशनी से युक्त सुजन पक्ष में अच्छी दृष्टि सहित (पात्रस्थाः) पात्र में रखे गए (दीपाः) दीपक (प्रबोधिताः) जलाये गए ।

सूर्य के चले जाने और रात्रि के आने से हर्षित हो, मृगनयनी कांताएँ श्रृंगार से सुसज्जित होने लगीं और प्रिय तक अपने मन के अभिप्राय को पहुँचाने के लिए दूतियों से आलाप-बातचीत करने में व्याकुल हो गईं ।।१०९।।

आकाशरूपी पृथ्वी पर जो उस समय सूर्य की लालिमा छा गई, वह कालरूपी हस्ती से उखाड़े गये लाल कंद के समान मालूम होने लगी ।।११०।।

सूर्य स्वयं प्रकाशित विश्व को अंधकाररूपी शत्रु से व्याप्त देखने के लिए कैसे समर्थ हो सकता ? इसलिए वह अस्त हो गया ।।१११।।

तब लोगों ने नित्य कर्म करने के लिए, घर-घर में स्वजन के समान अन्धकार के नाशक, बत्ती तेल से सहित दीपक जलाये ।।११२।।

---

१. सूर्यः । २. रविः । ३. अदृष्टोऽभूत् । ४. प्रतिग्रहं ।

कौतुकादिव तं द्रष्टुं वधूवरयुगं तदा।
निशानारी समायाता तारामौक्तिकभूषणा ।।११३।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (कौतुकात् इव) कौतुहल से ही मानो (तं) उन (वधुवरयुगं) वधु और वर के जोड़े को (दृष्टुं) देखने के लिए (तारा-मौक्तिकभूषणा) तारारूपी मोतियों के भूषणों से सुसज्जित (निशानारी) रात्रिरूपी स्त्री (समायाता) आई हो।

तमःस्तम्बेरमेणेदं[१] मत्वाक्रान्तं जगज्जवात्।
उदियाय[२] नभोरण्ये[३] चन्द्रसिंहोंशुकेसरः ।।११४।।

अन्वयार्थ–(इदं जगत्) इस जगत् को (जवात्) जबरदस्त (तमःस्तम्बे-रमेण) अंधकाररूपी हाथी के द्वारा (आक्रान्तम्) व्याप्त (मत्वा) मानकर (नभोरण्ये) आकाशरूपी वन में (अंशुकेसरः) किरणरूपी केशों की छटा से शोभित (चन्द्रसिंहः) चन्द्रमारूपी सिंह (उदियाय) उदित हुआ।

मन्दमन्दतमःस्तोमं व्योम सोमकरैरभात्[४]।
चन्दनेन मदेनेव लिप्तं स्मरनृपाङ्गणम् ।।११५।।

अन्वयार्थ–वह चन्द्रमा अपनी (सोम-करैः) शीतल किरणों से (मन्दमन्दतमःस्तोमं) मन्द-मन्द अन्धकार के समूहवाले (स्मर-नृपाङ्गणं) कामदेवरूपी राजा के आंगनरूप (व्योम) आकाश को (मदेन चन्दनेन) मदरूपी चन्दन से (लिप्तं इव) लिपे हुए के समान (अभात्) शोभित होने लगा।

ततः क्षीरार्णवस्येव कल्लोलैः सकला दिशः।
क्षालिता इव भाश्चक्रैश्चक्रे[५] कुमुद-बान्धवः[६] ।।११६।।

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (कुमुदबान्धवः) चंद्रमा ने (क्षीरार्णवस्य) क्षीरसागर की (कल्लोलैः इव) लहरों के समान (भाश्चक्रैः) अपनी कांति समूह के द्वारा (सकलाः दिशः) सम्पूर्ण दिशाएँ (क्षालिता इव) अभिषिक्त किये हुए के समान (चक्रे) कीं।

नवीन वर और वधू को कौतुक से देखने के लिए ही मानो आई हुई नक्षत्र और तारारूपी भूषणों से भूषित रात्रिरूपी स्त्री सर्वत्र व्याप्त हो गई ।।११३।।

अंधकाररूपी हाथी से आक्रांत अपने राज्य स्थान जगत् को देखकर किरणरूपी केश छटा से शोभित चंद्रमारूपी सिंह शीघ्र ही आकाशरूपी वन में आकर प्रकट हो गया ।।११४।।

चंद्रमा की शीतल किरणों रूपी चंदनधारा से उस समय कामदेवरूपी महाराज का आंगनरूप आकाश लिप्त सरीखा मालूम हो, शोभने लगा ।।११५।।

इस प्रकार समस्त दिशाएँ चंद्रमा की निर्मल किरणों से व्याप्त होने के कारण क्षीर समुद्र का दुग्ध से अभिषेक करने वाली सरीखीं जान पड़तीं थीं ।।११६।।

---

१. तिमिरहस्तिना। २. उदितोऽभूत्। ३. आकाशवने। ४. चन्द्रकिरणैः। ५. कान्तिसमूहैः। ६.चन्द्रः।

ददर्श त्यक्ताहारापि मुग्धा कापि रतोत्सुका।
स्तनाभोगं लसच्चारु - चन्द्रांशुकृततद्भ्रमा ॥११७॥

अन्वयार्थ–(त्यक्ताहारा अपि) हार को छोड़कर भी (रतोत्सुका) रतिक्रीड़ा में उत्सुक (का अपि) कोई भी (मुग्धा) कामिनी ने (लसच्चारुचन्द्रांशुकृततद्भ्रमा) शोभायमान सुन्दर चन्द्रमा की किरणों में किया है उस हार के भ्रम को जिसने ऐसी उसने (स्तनाभोगं) स्तनमंडल के मध्यभाग को (ददर्श) देखा।

दूतीभिर्मन्मथालापाः सकम्पा रतकौतुकाः।
मुग्धा निवेशिताः शय्योत्संगेऽधीशां हठादिव ॥११८॥

अन्वयार्थ–(दूतीभिः मन्मथालापाः) दूतियों के साथ काम कथा को करने वालीं (सकम्पाः) कम्पन्न से सहित (रतकौतुकाः) रतिक्रीड़ा के लिए उत्सुक (मुग्धाः) भोली-भालीं स्त्रियाँ (अधीशां) स्वामियों की (शय्योत्संगे) शय्या के ऊपर गोद में (हठात् इव) हठ से ही (निवेशिताः) आसीन कर दी गईं।

अमृतैरिव निर्धौते कर्पूरैरिव पूरिते।
जाते तदा करैरिन्दो रम्ये भुवनमण्डपे ॥११९॥
उद्दण्डकामकोदण्ड-चण्डिमाक्रान्तविष्टपे।
सङ्केतमन्दिरद्वार - निषीददभिसारके ॥१२०॥
मानिनी माननिर्णाश-विधिव्यासक्तवल्लभे।
विचित्र-रत-संमर्द - कदर्थित-नवाङ्गने ॥१२१॥
स्वतः स्वरूपसम्पत्ति-वनितासक्तयोगिनि।
दक्षपण्याङ्गनालोक - वञ्चितग्रामभोगिनि ॥१२२॥
केतकी-कुसुमोद्दाम - गन्ध-मुग्ध-मधुव्रते।
वियोगिनी-मनःकुण्ड-प्रज्वलद्विरहानले ॥१२३॥

कोई कामिनी उस समय हारादि छोड़कर, रति क्रीड़ा को उत्सुक हो रही दिखाई पड़ती थी, कोई अपने स्तन-मण्डल के मध्य भाग को चंदन से चर्चित कर सुन्दर चन्द्र किरणों में हार को मान भ्रमित सी हो रही थी अर्थात् क्या यह चन्द्रमा की चाँदनी है या हार है ॥११७॥

कोई भोली स्त्री दूतियों के द्वारा मन्मथोन्माद/कामवर्धक कथाएँ सुन, कामभोग के लिए आतुर हो गई। शरीर काँपने लगा, ऐसा लगता था मानो कोई मुग्धा बलात् पति के द्वारा प्रेम संयोग के लिए शय्या पर गोद में आसीन कर दी गई ॥११८॥

तभी भुवन-मण्डप में चंद्र किरणें अमृत से अभिसिंचित, कर्पूरादि से पूरित हुए के समान हो गईं। चारों ओर भूमण्डल पर उदण्ड/प्रचण्ड काम का राज्य छा गया। अभिसारिकाएँ अपने-अपने सांकेतिक भवनों के द्वार पर प्रतीक्षा सहित स्थित हो गईं। कामी लोग अपनी-अपनी रुष्ट कांताओं के मान निवारण में परिश्रम करने लगे। नवीन वधुएँ विचित्र रतिक्रीड़ा में संमर्दन से

इत्याद्यनेकचेष्टाभिः प्रवृद्धमदनोत्सवे।
समये तत्र तौ नीतौ जनैर्मातृगृहं गतौ ॥१२४॥कुलकम्॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (रम्ये भुवन-मण्डपे) सुंदर संसाररूपी मंडप में (अमृतैः इव) अमृत के समान (इन्दोः करैः) चंद्रमा की किरणों के द्वारा (निर्धौते) धुल जाने पर (कर्पूरैः इव पूरिते जाते) कर्पूर के समान व्याप्त हो जाने पर (उद्दण्ड-कामकोदण्डचण्डिमाक्रान्त-विष्टपे) उच्छृंखल कामबाण की तीक्ष्णता से व्याप्त संसार में और (संकेतमन्दिरद्वारनिषीददभिसारिके) सांकेतिक भवनों के द्वार पर बैठी हुई अभिसारिकाओं वाले (मानिनीमाननिर्णाशविधिव्यासक्तवल्लभे) माननीय स्त्रियों के मान मर्दन की विधि में असक्त हैं पति जिसमें (विचित्ररतसंमर्द-कदर्थित-नवाङ्गने) अनेक प्रकार की रतिक्रीड़ा और संमर्दन से कदर्थित/पीड़ित हैं नव वधुएँ जिसमें (स्वतः-स्वरूप-सम्पत्ति-वनितासक्त-योगिनि) स्वभाव से सौन्दर्यरूप सम्पत्ति से समन्वित स्त्रियों में आसक्त योग वाले और (दक्षपण्याङ्गनालोक-वञ्चित-ग्रामभोगिनि) वेश्याएँ अपने चातुर्य से नगर निवासियों को ठगकर भोग करने वालीं जिसमें (केतकीकुसुमोद्दाम-गन्धमुग्ध-मधुव्रते) केतकी के पुष्पों की तीव्र गंध से आकुल हो रहे हैं भौंरे जिसमें (वियोगिनी-मनःकुण्ड-प्रज्वलद्विरहानले) वियोगिनी स्त्रियों के मनरूपी कुण्ड में प्रज्ज्वलित है विरहरूपी अग्नि जिसमें ऐसे (इत्यादि अनेकचेष्टाभिः) इत्यादि अनेक चेष्टाओं के द्वारा (प्रवृद्धमदनोत्सवे) बढ़े हुए मदनोत्सव के (समये) समय में (तत्र तौ) वहाँ वे दोनों (जनैः) मनुष्यों के द्वारा (मातृ गृहं) माता के घर में (नीतौ गतौ) ले जाये गए।

निर्मले सुकुमारे च सनम्रे मुनिमानसे।
यथा तथा स्थितौ तल्पे तौ तदा मुदिताशयौ ॥१२५॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (सुकुमारे) सुकुमार (सनम्रे) अत्यन्त कोमल (च) और (मुनिमानसे) मुनियों के मन के (यथा) समान (निर्मले) निर्मल (मुदिताशयौ) प्रसन्नचित्त (तौ) वे दोनों (तल्पे) स्वच्छ शैया पर (तथा स्थितौ) उस तरह स्थित हो गये।

कदर्थित/पीड़ित होने लगीं, स्वभाव से रूप सम्पत्ति से समन्वित माननीयों में आसक्त जन, क्रीड़ारत होने लगे किन्तु वेश्याएँ अपने चातुर्य से नगरवासियों को ठगकर भोग कराने लगीं। केतकी के पुष्प की प्रचण्ड गंध से भ्रमर मधुर-मधुर गुंजार करने लगे और विरहिनी स्त्रियों के मन में स्थित अग्नि, प्रचण्ड रूप से धधकने लगी। जब इस प्रकार समस्त लोक काम की आज्ञा के पालन करने में दत्तचित्त हो गया, तो इन दोनों नवीन वर-वधुओं को भी अधिक देर तक वियुक्त रखना, इनके संबंधियों ने उचित न समझा इसलिए शीघ्र ही ये दोनों केलि घर में पहुँचाये गए ॥११९, १२०, १२१,१२२,१२३,१२४॥कुलकं॥

और वहाँ वे सुकुमार विनयशील वर-वधु मुनियों के मन के समान निर्मल कोमल-सेज पर स्थित हो, अपने चिरकालीन-वियोग से संतप्त-हृदय को शीतल करने का उपाय करने लगे ॥१२५॥

मन्दाक्रांता

लज्ञालोलं विलस-दतुल-प्रेमसम्भारमुग्धं ,
गाढोत्कण्ठं रतिरसवशं कौतुकोत्कम्पिचित्तम् ।
द्वंद्वं निन्ये वदननिहिता-धीरविस्तारिनेत्रां ,
रात्रिं ताम्यत्तरलहृदय-प्रोषितां तत्तदानीम् ।।१२६।।

अन्वयार्थ–(लज्ञालोलं) लज्ञा से चंचल (विलसद् अतुलप्रेम-सम्भार-मुग्धं) शोभायमान अतुल प्रेम के भार से मोहित (गाढोत्कण्ठं) प्रगाढ़/भारी उत्कण्ठा वाले (रति-रस-वशं) रतिरूपी रस के वश हुए (कौतुकोत्कम्पि-चित्तम्) कौतुक से कम्पित चित्त वाले (तदानीम्) उस समय (तद्) उस (द्वन्द्वं) दम्पत्ती युगल ने (वदन-निहिताधीर-विस्तारि-नेत्राम्) मुख पर रखी हुई अधीरता पूर्वक विस्तारित नेत्र वाली (ताम्यत्तरल-हृदयप्रोषितां) सन्तप्त आर्द्र हृदय को पुष्ट करने वाली (रात्रिम्) रात्रि को (निन्ये) बिताया ।

शार्दूलविक्रीडित वृत्त

प्राचीकुंकुम-मण्डनं किमथवा रात्र्यङ्गना-विस्मृतं ,
रक्ताम्भोज-मथो मनोज-नृपते रक्तातपत्रं किमु ।
चक्रं ध्वान्त-विभेदकं द्युवनिता-मांगल्य-कुम्भः किमु ,
इत्थं शङ्कित-मंबरेस्फुट-मभूद्-भानोस्तदा मण्डलम् ।।१२७।।

अन्वयार्थ–(प्राचीकुंकुममण्डनं) पूर्वदिशा के कुंकुम मण्डन के समान (किम् अथवा) अथवा क्या (रात्र्यङ्गनाविस्मृतम्) रात्रिरूपी स्त्री का भूला हुआ (रक्ताम्भोजं) लाल-कमल है (अथ) और (मनोज-नृपतेः) कामरूपी राजा का (रक्तातपत्रं) लाल छत्र है (ध्वान्तविभेदकं चक्रं) अंधकार को नष्ट करने वाला चक्र है (किमु) क्या (द्युवनितामांगल्यकुम्भः) आकाशरूपी स्त्री का मंगलकलश है (तदा) उस समय (इत्थं) इस प्रकार (शङ्कितं) शंका को प्राप्त हुआ (भानोः मण्डलम्) सूर्य का मण्डल (अम्बरे) आकाश में (स्फुटम् अभूत्) स्पष्टरूप से प्रकट हुआ ।

लज्ञा से चंचल अतुल प्रेम के भार से मुग्ध गाढ़ उत्कंठा वाले, रति-रस के वश हुए, कौतुक से कंपित चित्त वाले नवयुगल ने, मुख पर मुख को रख आनंद से निद्रा लेते हुए, समस्त रात्रि ही को बिताया ।।१२६।। पूर्वदिशा के कुंकुम भूषण के समान, रात्रिरूपी अंगना के विस्मृत लालकमल के समान, कामरूपी महाराज के रक्त छत्र के समान, अंधकार नाशक चक्र के समान और आकाशरूपी स्त्री के मंगलकलश के समान मालूम होता हुआ सूर्य-मंडल आकाश में स्पष्ट रीति से दृष्टिगोचर हो गया ।।१२७।।

इति श्री भगवद् गुणभद्राचार्यविरचिते जिनदत्त-चरित्रे द्वितीय सर्गः

इस प्रकार श्रीयुत् भगवान गुणभद्राचार्य विरचित जिनदत्त चरित्र में दूसरा सर्ग पूर्ण हुआ ।

तृतीया सर्गः

अनुष्टप् छन्द

स्थित्वा च कतिचित्तत्र दिनानि मुदितस्तया।
समं[1] विज्ञापयामास श्वशुरंगुणमन्दिरम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ/चम्पानगरी में (कतिचित्) कुछ (दिनानि) दिनों को (मुदितः) प्रसन्नचित्त जिनदत्त ने (तया समं) उस विमलमती के साथ (स्थित्वा) ठहर कर (गुणमन्दिरम्) गुणों के घर स्वरूप (श्वसुरं) श्वसुर को (विज्ञापयामास) निवेदन किया।

यथा तातादयो माम मदागमनमञ्जसा।
मृगयन्तोऽवतिष्ठन्ते[2] ततः प्रेषय मां लघु ॥२॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (माम तातादयः) मेरे माता-पितादि (मदागमनं) मेरे आगमन को (अञ्जसा) शीघ्र (मृगयन्तः) खोजते हुए (अवतिष्ठन्ते) ठहरे हुए हैं। (ततः) इसलिए आप (माम्) मुझे (लघु) शीघ्र ही (प्रेषय) भेजिए।

अनुज्ञातस्ततस्तेन सदुःखेन कथञ्चन।
भणित्वेति यथा पुत्र! विच्छेदस्तव दुःसहः ॥३॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (पुत्र!) हे पुत्र! (तव विच्छेदः) तुम्हारा वियोग (दुःसहः) दुःसह है (इति भणित्वा) इस प्रकार कहकर (यथा) जैसे-तैसे (कथञ्चन) किसी तरह (सदुःखेन) दुख के साथ (तेन) उन विमलचंद सेठ ने (अनुज्ञातः) जिनदत्त को जाने की आज्ञा दे दी।

दत्वा परिकरं सर्वं दासी-यानादि-संयुता।
पुत्री समर्पिता तस्मै श्रीवत्सायेव गोमिनी[3] ॥४॥

अन्वयार्थ–(दासी-यानादि-संयुता) दास-दासी, वाहन आदि से सहित (सर्वं) सम्पूर्ण (परिकरं)

[जिनदत्त का स्वसुर से अपने घर लौटने की आज्ञा माँगना]

अपनी प्यारी विमलमती के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते-करते जब कुछ दिन बीत गये, तो एक दिन जिनदत्त अवसर देखकर अपने ससुर से बोले ॥१॥ पूज्य! मुझे यहाँ रहते अधिक दिन हो गए हैं। मेरे माता-पिता मेरे आने की आशा करते होंगे इसलिए आपसे प्रार्थना है, कि मुझे यहाँ से घर जाने की आज्ञा देकर कृतार्थ करें ॥२॥ जामाता की उक्त प्रार्थना सुन सेठ विमलचंद्र को यद्यपि बहुत दुख हुआ, तो भी जिनदत्त का अपने घर जाना उचित समझ, उन्होंने कहा–प्यारे पुत्र! यद्यपि तुम्हारा वियोग असह्य है। उससे मुझे ही नहीं किंतु अन्य तुम्हारे संबंधियों को भी दुख होगा इसलिए तुम्हें यहाँ से जाने की आज्ञा देने को चित्त नहीं चाहता, तो भी यहाँ अधिक रहने से तुम्हारे माता-पिता के दुखी होने का डर है, इसलिए तुम्हें रोकना भी अनुचित है ॥३॥

पुत्री को योग्य दास-दासी, वाहन सहित संपूर्ण परिकर देकर, विष्णु के समान दामाद जिनदत्त को अपनी लक्ष्मी के समान पुत्री को सौंप दिया। जैसे श्रीवत्स चिह्नधारी महाविष्णु तीर्थङ्करों का संयोग, ज्ञान

---

१. "साकं सार्धं समं सहेत्यमरः"। २. "समवप्रविभ्यः स्थः इत्यनेनात्मनेपदं"। ३. लक्ष्मीः।

परिकर को (दत्वा) देकर (श्रीवत्सया) श्रीवत्स चिह्नधारी तीर्थंकरों के लिए (गोमती इव) ज्ञान मोक्षरूपी लक्ष्मी के समान (तस्मै) उस जिनदत्त के लिए (पुत्री समर्पिता) पुत्री को सौंप दिया।

ततस्तमनुयातुं ये, चेलुः[१] श्रेष्ठ्यादयो जनाः।
आगत्य ते स्थिताः सर्वे बाह्योद्यान-जिनालये ॥५॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तम्) उनके (अनुयातुं) पीछे जाने के लिए (ये) जो (श्रेष्ठ्यादयः) श्रेष्ठीजन आदि (चेलुः) चले (ते सर्वे) वे सभी (बाह्योद्यान-जिनालये) नगर के बाहर स्थित उद्यान के जिनालय में (आगत्य) आकर (स्थिताः) ठहर गए।

तत्र पूजादिकं कृत्वा शिरस्याघ्राय देहजाम्[२]।
शिक्षयामास गम्भीरमिति तां विनतां पिता ॥६॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (पूजादिकं) पूजा आदिक को (कृत्वा) करके (देहजाम्) पुत्री के (शिरस्य आघ्राय) सिर को सूंघकर (तां विनतां) उस नम्रीभूत पुत्री को (पिता) पिता ने (इति) इस प्रकार (गम्भीरं शिक्षयामास) गम्भीर शिक्षा दी।

सुतनो[३] ! मा कृथा जातु क्रौर्य-दौर्जन्यचापलम्।
अन्यथा स्याः[४] समस्तानां विषवल्लीव दुर्भगा ॥७॥

अन्वयार्थ–(सुतनो !) हे पुत्री ! तुम (जातु) कभी भी (क्रौर्य-दौर्जन्य-चापलम्) क्रूरता, दुर्जनता एवं चञ्चलता को (मा कृथा) मत करना (अन्यथा) नहीं तो (समस्तानां) सभी कुटुम्बीजन के लिए (विषवल्ली इव) विषवेल के समान (दुर्भगा) दुर्भाग्य पूर्ण (स्याः) हो जाओगी।

पत्युश्छायेव[५] भूयास्त्वं सर्वदानुगता सती।
समानसुखदुःखा च दुर्वृत्ताचार-दूरगा ॥८॥

अन्वयार्थ–हे पुत्री ! (त्वं) तुम (सर्वदा) हमेशा (पत्युः) पति की (छाया इव) छाया के समान

समवसरण तथा मोक्षलक्ष्मी के साथ होता है, वैसे ही विष्णु के समान जिनदत्त का संयोग, लक्ष्मी के समान विमलमती के साथ करा दिया ॥४॥ जिनदत्त जिस समय रवाना हुए, तो ग्राम के बाहर उद्यान के जिनालय तक इनके सास-ससुर आदि संबंधी लोग भी गए और वहाँ वे ठहर गए ॥५॥

[माता-पिता के द्वारा पुत्री को शिक्षा देना]

जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक-पूजन कर, जब धार्मिकजन शुभ कार्यों से निवृत्त हो गए और वहाँ से प्रयाण कराने का समय समीप आया, तो विमलमती के पिता सेठ विमलचंद्र अपनी पुत्री के सिर को चूमकर प्यार करके बोले ॥६॥ हे पुत्री विमलमती ! आज तुम अपने पिता के घर से अपने पति के घर जा रही हो, यहाँ जो कुछ भी तुम क्रूरता, दुर्जनता एवं चपलता आदि दोष करती थी, वे सब तेरे लड़कपन में संभाल लिए जाते थे परंतु अब तुम वधू बनकर जा रही हो, इसलिए इन्हें तुम सर्वथा छोड़ देना। यदि इस शिक्षा के अनुसार न चलकर तुमने विपरीत किया, तो प्यारी बेटी ! तुम अपने समस्त कुटुम्बियों के लिये विषबेल के समान दुखदायिनी गिनी जाओगी ॥७॥

तेरे लिए इसके सिवा एक यह भी कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार तेरा पति तुझे रखे, उसी अवस्था

---

१. चलन्तिस्म। २. पुत्रीं। ३. हे पुत्रि। ४. भवेः। ५. छायावत्।

(अनुगता सती) अनुगामिनी होती हुई (समानसुख-दुःखा) सुख-दुख में समान (च) और (दुर्वृत्ताचार-दूरगा) दुराचरण से दूर (भूयाः) होना/रहना।

धर्म-कार्य-रता नित्यं गुरुदेवनता सुते।
निज-वंश-पताकेव भूयाः किं बहुभाषितैः ॥९॥

अन्वयार्थ–(सुते) हे पुत्री! तुम (नित्यं) सदा (धर्म-कार्यरता) धर्म कार्य में लीन (गुरुदेवनता) गुरु और देव के प्रति नम्रीभूत (बहुभाषितैः किं) और बहुत कहने से क्या (निजवंश-पताका इव) अपने वंश के लिए पताका के समान (भूयाः) होना।

गाढ-मालिङ्ग्य तत्रैव वाष्प-पूर्ण-विलोचना।
रुदन्ती तां जगादेति मातापि प्रीतिपूर्वकम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(तत्र एव) वहाँ ही (वाष्पपूर्ण-विलोचना) अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली (रुदन्ती) रोती हुई (माता अपि) माता भी (ताम्) उस पुत्री को (गाढं आलिङ्ग्य) गाढ़ आलिंगन कर (प्रीति-पूर्वकम्) प्रेमपूर्वक (इति) इस प्रकार (जगाद) बोली।

विलास-हास-सञ्जल्प-तल्प-माल्यविभूषणम्।
गतागतं[1] च सर्वेण माकार्षीरुद्भटं सुते! ॥११॥

अन्वयार्थ–(सुते) हे पुत्री! (विलास-हास-सञ्जल्पतल्प-माल्यविभूषणं) कामवर्धक हाव-भाव, हँसी, वार्तालाप, शय्या, माला व सुसज्ञा/सजना (गतागतं) आना-जाना (च) और (उद्भटं) श्रेष्ठता को (सर्वेण) सबके साथ (मा अकार्षि) मत करना।

चित्तं पत्युरविज्ञाय मा कृथा मानमायतम्।
उत्कण्ठिता च माभूस्त्व-मस्मभ्यं[2] शुभदर्शने ॥१२॥

अन्वयार्थ–(शुभ-दर्शने) हे शोभने! (पत्युः अविज्ञाय) पति के बिना बताए (चित्तं) मन को

में संतोष रखना। सर्वदा छाया के समान अपने पति की अनुगामिनी होना। जो कुछ तेरा पति कहे उसे तूं अवश्य ही करना। पति के सुख में सुख, दुःख में दुःख मानना, अपने चित्त को कभी भी बुरी बातों की तरफ न ले जाना ॥८॥

हे सुते! धर्म कार्यों में रत रहना। नित्य ही देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में तत्पर विनम्र रहना, अधिक क्या कहूँ? तुम अपने वंश की कीर्ति-ध्वजा के समान यशस्विनी बनो ॥९॥

जब इस प्रकार सेठ विमलचंद्र अपनी प्यारी पुत्री को शिक्षा दे चुके, तो उनकी पत्नी भी विमलमती को छाती से चिपकाकर और आँखों में प्रेमाश्रुओं से पूर होकर बोली ॥१०॥

मेरी प्यारी पुत्री! अब तुझे तेरे श्वसुर के घर भेज देती हूँ, आज से तेरा जीवन दूसरे ही ढंग का होगा। तू वहाँ जाकर अपने पति के सिवाय, हर एक से हास-विलास मत करना। किसी से अधिक बातचीत कर अपना लड़कपन प्रकट न करना। अन्य के साथ एक आसन पर मत बैठना। अधिक माल्य-विभूषण की तरफ अपना चित्त न लगाना और अन्य के साथ जहाँ कहीं गमनागमन भी मत करना ॥११॥ जिस समय अपने पति का मन प्रफुल्लित देखना, उसी समय मान करना और वह

१.गमनाममनं। २. चतुर्थीबहुवचनं।

(मानं आयतं) अहंकार से युक्त (मा कृथा) मत करना (च) और (त्वं) तुम (अस्मभ्यं) हम लोगों के लिए (उत्कण्ठिता मा अभूः) उत्कण्ठित मत होना ।

ज्येष्ठ-देवर[1]-तद्रामा-श्वश्रुषु विनता भवेः ।
नर्मादिकमसम्बद्धं येन केनापि मा कृथाः ॥१३॥

अन्वयार्थ–(ज्येष्ठ-देवर-तद्रामा-श्वश्रुषु) जेठ, देवर एवं जेठानी, देवरानी, ननद आदि परिवार जनों में (विनता) विनम्र (भवेः) होना (येन केनापि) जिस किसी से भी (असम्बद्धम्) बिना मतलब के (नर्मादिकम्) हास-परिहास आदिक को (मा कृथाः) मत करना ।

श्वश्रूं मातरिति ब्रूहि तातेति श्वशुरं नता ।
प्राणनाथं प्रियेशेति त्वं सुतेति च देवरम् ॥१४॥

अन्वयार्थ–(त्वं) तुम (नता) नम्रीभूत होते हुए (श्वश्रूं) सास को (मातृ इति) माता इस तरह (श्वसुरं) ससुर को (तात इति) तात/पिता इस प्रकार (प्राणनाथं) प्राणनाथ/पति को (प्रियेश इति) प्रियेश इस प्रकार (च) और (देवरम्) देवर को (सुतं इति) पुत्र ऐसा (ब्रूहि) कहना ।

प्राभृतानि सुते तुभ्यं प्रहेष्यामि[2] सहस्रशः ।
शिक्षयित्वेति तां माता विरराम[3] सुदुःखिता ॥१५॥

अन्वयार्थ–(सुते) हे पुत्री ! (तुभ्यं) तुम्हारे लिए (सहस्रशः) हजारों (प्राभृतानि) उपहारों को (प्रहेष्यामि) भेजूँगी (तां) उस पुत्री विमलमती को (इति) इस प्रकार (शिक्षित्वा) शिक्षा प्रदान कर (सुदुःखिता माता) अत्यंत दुखी माता (विरराम) चुप हो गई ।

प्रणम्य जिनदत्तेन ततो व्यावर्त्तिता गृहम् ।
गतास्ते तां कुमारोऽपि लात्वाप स्वपुरं[4] क्रमात् ॥१६॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (जिनदत्तेन) जिनदत्त ने (प्रणम्य) सास-श्वसुर आदि को प्रणाम करके (गृहम्) घर को (व्यावर्त्तिता) लौटाया (ते गताः) वे चले गए (कुमारः) कुमार (अपि)

अधिक देर न कर, अल्पकाल तक ही करना जिससे कि तेरे पति के मन में किसी प्रकार का क्लेश पैदा न हो । हम लोगों के वियोग में तू अधिक दुखित न होना और यहाँ आने की तरफ अधिक उत्कंठा न दिखलाना ॥१२॥ अपने ज्येष्ठ, देवर, सास-ससुर, देवरानी, जेठानी और ननद आदि में सर्वदा अपनी नम्रता दिखलाना, ऐसा कोई भी असम्बद्ध हास्यादिक न करना जिससे कि वे रुष्ट हो जाएँ और उन्हें दुःख प्राप्त हो ॥१३॥ तुम अपनी सासु को माँ कहकर पुकारना, श्वसुर को तात कहना, पति को प्रियेश शब्द से संबोधन करना और देवर को पुत्र कहकर बोलना एवं उन्हें तुम उसी प्रकार समझना ॥१४॥ हे पुत्री ! मैं हजार उपहार को तुम्हारे लिए भेजूँगी, इस प्रकार अत्यन्त दुख से माँ ने अपनी प्राणप्यारी पुत्री को शिक्षा दे चुप होते हुए विदा ली ॥१५॥

[जिनदत्त का अपने घर लौटना]

जिनदत्त ने सास-ससुर आदि को प्रणाम किया और घर लौट जाने के लिए साग्रह प्रार्थना कर

---

१. पत्युर्लघुभ्राता 'देवर' इत्युच्यते । २.प्रेषयिष्यामि । ३.तूष्णींबभूव 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इत्यनेन परस्मैपरम्। ४. वसन्तपुरं ।

भी (तां) उस विमलमती पत्नी को (लात्वा) लेकर (क्रमात्) क्रम से (स्वपुरं) अपने नगर को (आप) पहुँच गया।

आयातं तं ततो ज्ञात्वा गत्वा तातो महोत्सवैः।
पुरं प्रवेशयामास सकान्तमिव मन्मथम् ॥१७॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (तम्) उस जिनदत्त को (आयातं) आया हुआ (ज्ञात्वा) जानकर (तातः) पिता ने (महोत्सवैः) महान् उत्सवों के साथ (गत्वा) जाकर (सकान्तम् मन्मथम्) रति सहित कामदेव की (इव) तरह (पुरं प्रवेशयामास) नगर में प्रवेश कराया।

विशन्तं तं समाज्ञाय चुक्षुभे[1] प्रमदाजनैः।
उदितं यामिनीनाथं तरंगैरिव वारिधेः ॥१८॥

अन्वयार्थ–(उदितम् यामिनी-नाथं) उदित हुए रात्रिपति/चंद्रमा को (वारिधेः) समुद्र की (तरंगैः इव) तरंगों के समान (तम् विशन्तं) उस जिनदत्त को नगर में प्रवेश करते हुए (समाज्ञाय) जानकर (प्रमदा-जनैः) महिलाओं के द्वारा (चुक्षुभे) क्षोभ उत्पन्न किया गया।

मण्डनादिकमुत्सृज्य प्रतिरथ्यं[2] प्रधाविताः।
काश्चिदन्याः पुनारूढाः प्रासादशिखरावलीः ॥१९॥

अन्वयार्थ–(काश्चित्) कोई स्त्रियाँ (मण्डनादिकं उत्सृज्य) शृंगार आदि को छोड़कर (प्रतिरथ्यं) मार्गों की ओर (प्रधाविताः) दौड़ीं (पुनः) फिर (अन्याः) अन्य नारियाँ (प्रासाद-शिखरावलीः रूढाः) भवनों के शिखरों की पंक्तिओं/छतों पर चढ़ गईं।

तन्मुखाम्भोज-संसक्त-लोचना कुच-मण्डलम्।
काचिच्च्युतांशुके दृष्टिं पातयामास पश्यताम् ॥२०॥

अन्वयार्थ–(तन्मुखाम्भोज-संसक्त-लोचना) उन वर-वधु के मुखरूपी कमल में आसक्त नेत्रों वाली (काचित्) किसी स्त्री के (कुच-मण्डलम्) स्तन मंडल को (च्युतांशुके) वस्त्र रहित होने पर (पश्यताम्) देखने वालों ने (दृष्टिं) दृष्टि को (पातयामास) डाला।

अपने नगर की ओर प्रस्थान किया ॥१६॥

जिनदत्त क्रम-क्रम से मार्ग में पड़ाव डालते हुए अपने जन्म स्थान वसंतपुर आ पहुँचे। इनके आगमन की सूचना पाकर इनके पिता सेठ जीवदेव इन्हें लेने के लिए गाँव के बाहर आए और बड़े ठाठ-बाट के साथ रति सहित कामदेव के समान सुशोभित होने वाले जिनदत्त को, वधू सहित नगर में प्रवेश कराया ॥१७॥

विवाह कर वधू सहित जिनदत्त आए हैं, यह समाचार ज्यों ही नगर में फैला कि नगर की समस्त स्त्रियों में खलबली मच गई ॥१८॥ वे जिनदत्त और उसकी वधू को देखने के लिए लालायित हो अपने-अपने काम-काज छोड़ गलियों में दौड़ीं और मकानों की छतों पर चढ़ने लगीं ॥१९॥

जो स्त्रियाँ कौतूहल से इस उत्सव को देख रही थीं उन्हें अपने तन-बदन की भी सुध-बुध न थी किसी का स्तन खुला था और उसे देखने वाले हास्यपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे ॥२०॥

---

१. भावे प्रत्ययः। २. प्रतिप्रतोलीं।

वेगतो धावमानान्या स्रस्तमेखलयास्खलत् ।
त्रुटितं हारमप्यन्या गणयामास नोत्सुका ॥२१॥

अन्वयार्थ—(वेगतः) वेग से (धावमाना अन्या) दौड़ती हुई कोई अन्य स्त्री (स्रस्तमेखलया स्खलत्) ढीली खिसकी हुई करधनी से गिरती हुई (उत्सुका) उत्सुक होती हुई (अपि अन्या) और अन्य (त्रुटितं) टूटे हुए (हारं) हार को (न गणयामास) नहीं गिन रही थी अर्थात् ध्यान नहीं दे रही थी ।

अन्या जघान तं धीरा कटाक्षैः क्षणमङ्गना ।
चित्रेन्दीवरमालाभि रर्चयन्तीव भक्तितः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अन्या धीरा अङ्गना) अन्य धीर/स्थिर स्त्री (तं) उस जिनदत्त को (क्षणम्) क्षणमात्र में (कटाक्षैः) कटाक्षों द्वारा (जघान) प्राप्त करती हुई प्रहार कर रही थी (इव) मानो वह (भक्तितः) भक्ति से (चित्रेन्दीवर-मालाभिः) विचित्र अनेक नील कमलों की मालाओं द्वारा (अर्चयन्ति) अर्चा-पूजा ही कर रही हो ।

रूपामृतं[1] पिबत्यस्य नेत्राञ्जलिपुटैः परा ।
कौतुकं कामसन्ताप-पीडिताजनि मानसे ॥२३॥

अन्वयार्थ—(परा) अन्य कोई स्त्री (नेत्राञ्जलि-पुटैः) नेत्ररूपी अंजली पुटों/दोनों के द्वारा (अस्य) उस जिनदत्त के (रूपामृतं) सौंदर्यरूपी अमृत को (पिबति) पीती है तथा (मानसे) मन में (कामसंतापपीडिता) काम के संताप से पीड़ित होती हुई (कौतुकम्) कौतुहल/आश्चर्य को (अजनि) उत्पन्न करती है ।

अन्योवोचदियं धन्या यस्या जातोऽयमीश्वरः ।
काचिदूचे स्फुटं काम-रतियुग्ममदः[2] सखि ! ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अन्या अवोचत्) दूसरी स्त्री ने कहा (इयं) यह विमलमति (धन्या) धन्य है जो कि (यस्याः) इसका (अयम्) यह जिनदत्त (ईश्वरः) पति (जाता) हुआ (काचित् ऊचे) किसी स्त्री ने कहा (सखि !) हे सखी (स्फुटं) स्पष्टरूप से (अदः) यह (कामरतियुग्मं) काम और रति का जोड़ा है।

किसी की भागा-दौड़ी में करधनी टूटकर गिर गई । किसी का हार टूटकर बिखर गया किन्तु उस मिथुन के देखने की धुन में उन्हें इनका भान ही नहीं हुआ ॥२१॥

भक्ति से विचित्र नीलकमल की मालाओं के द्वारा पूजा करते हुए की तरह अन्य धीर स्त्रियाँ कटाक्षों के द्वारा क्षणभर में मानों प्रहार ही कर रहीं थीं ॥२२॥

कोई अन्य स्त्री उस जिनदत्त के सौंदर्यरूपी अमृत को नेत्ररूपी अञ्जली पुटों के द्वारा पीती है तथा मन में काम के संताप से पीड़ित होती हुई, आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥२३॥

और कोई अन्य स्त्री उन वर-वधू को धन्य-धन्य कह रही थी, तो कोई उन्हें काम और रति के जोड़े की उपमा दे रही थी ॥२४॥

---

१. अमृतं हि संतापनाशि भवति परन्तु सा तद्रूपामृतपानं कृत्वा हृदि कामतप्ताभूत् इत्येव कौतुकं । २. इदम्

समाशतं[1] सति श्रेष्ठं विलासं सहितामुना ।
भुङ्क्ष्वेति प्रणिगद्य[2]ान्या लाजाञ्जलिमवाकिरत्[3] ॥२५॥

अन्वयार्थ–(अमुना सहिता) इस विमलमति के साथ (सति) रहते हुए (समाशतं) सैकड़ों वर्ष (श्रेष्ठं विलासं) श्रेष्ठ भोगों को (भुङ्क्ष्व) भोगो (इति) इस प्रकार (अन्या) अन्य स्त्री ने (प्रणिगद्य) कहकर (लाजाञ्जलिं) लाज/लाई को अञ्जलि में भरकर (अवाकिरत्) बिखेरा ।

मोटनं भञ्जनं जृम्भालस्यप्रेमजलोद्गमम् ।
तन्वन् नारीजनस्यैष प्राप स्वं सोत्सवं गृहम् ॥२६॥

अन्वयार्थ–(एषः) इस जिनदत्त ने (नारीजनस्य) नारीजन के (मोटनं) मोड़ने रूप (भञ्जनं) तोड़ने रूप (जृम्भालस्य-प्रेमजलोद्गमम्) जंभाई आलस्य प्रेमरूपी जल के उद्गम को (तन्वन्) विस्तृत करते हुए (सोत्सवं) उत्सव सहित (स्वं) अपने (गृहम्) घर को (प्राप) पहुँचा ।

तत्राध्यास्य चतुष्कं स गोत्रवृद्धाङ्गनाकृतम् ।
प्रतीच्छतिस्म[4] मांगल्यं कृतपूर्वजिनोत्सवः ॥२७॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (अपने घर में) (कृत-पूर्व-जिनोत्सवः) किया है पहले जिनेन्द्र भगवान की पूजा के उत्सव को जिसने ऐसे (सः) उस जिनदत्त ने (चतुष्कं) चौके पर (अध्यास्य) बैठकर (गोत्र-वृद्धाङ्गना-कृतम्) अपने वंश की वृद्ध स्त्रियों द्वारा की गई (मागल्यं) मंगल क्रियाओं को (प्रतीच्छतिस्म) स्वीकृत किया ।

ततो निवर्तिताशेष-विवाहान्तविधिः सुधीः ।
तारेश[5] इव रोहिण्या समं रेमे तयानिशम् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(ततः) इस के बाद (सुधीः) वह बुद्धिमान (निवर्तिताशेष-विवाहान्त-विधिः) विवाह के अंत की समस्त विधि को पूर्ण करने वाला वह जिनदत्त (रोहिण्या समं) रोहिणी के साथ (तारेश इव) चन्द्रमा के समान (तया) उस विमलमती के साथ (अनिशम्) निरन्तर (रेमे) रमण करने लगा ।

भुञ्जानस्य सुखं तस्य पञ्चेन्द्रिय-समाश्रयम् ।
जग्मुर्धर्माविरोधेन मुहूर्त्तमिव वासराः ॥२९॥

अन्वयार्थ–(धर्माविरोधेन) धर्म के अविरोध पूर्वक (पञ्चेन्द्रियसमाश्रयम्) पंचेन्द्रियों के आश्रित

किसी अन्य स्त्री ने कहा कि हे कुमार ! इस विमलमती के साथ रहते हुए सैकड़ों वर्ष, योग्य भोगों का उपभोग करो । ऐसा कहकर लाई को अंजलि में भर आशीर्वाद के रूप में ऊपर बिखेर दिया ॥२५॥

इस जिनदत्त ने नारीजन को मोड़ने, तोड़ने, जंभाई, आलस्य प्रेमरूपी जल के उद्गम को विस्तृत करते हुए, उत्सव सहित अपने घर में प्रवेश किया ॥२६॥वर-वधू के अपने घर आने पर गोत्र की वृद्धा स्त्रियों द्वारा पूरे गए चौक पर बैठकर जिनेन्द्र की पूजापूर्वक मांगल्य विधि को ग्रहण करते हुए सुख से रहने लगे ॥२७॥ अनन्तर समस्त विवाह की अन्तिम विधि सम्पादित की गई, सम्पूर्ण विधि विधान के बाद कुमार जिस प्रकार रोहणी के साथ चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार शुभ्र ज्योत्सना के समान सुन्दरी विमलमती के साथ भोग करता हुआ शोभित हुआ ॥२८॥

पञ्चेन्द्रियों के नाना विधि भोगों को भोगता था किन्तु धर्म क्रियाओं का उल्लंघन नहीं करता था

---

१. शतवर्षपर्यन्तम् । २. उक्त्वा । ३. अक्षिपत् । ४. जग्राह । ५. चन्द्रः ।

(सुखं) सुख को (भुञ्जानस्य) भोगने वाले (तस्य) उस जिनदत्त के (वासरः) दिन (मुहूर्त्तं इव) मुहूर्त्त के समान (जग्मुः) व्यतीत होने लगे।

विमुखो मुखमालोक्य याचकस्तस्य नो ययौ।
स विवेश सतां चित्ते विनयेन महामनाः ॥३०॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस जिनदत्त के (मुखं आलोक्य) मुख को देखकर (याचकः) मांगने वाले (विमुखः) खाली (नो ययौ) नहीं जाते थे (सः) उसने (महामनाः) महामनस्वी ने (विनयेन) विनय से (सताम्) सज्जन पुरुषों के (चित्ते) मन में (विवेश) प्रवेश किया था अर्थात् वह सत्पुरुषों का प्रीति भाजन बन गया।

हृदये पद-मासेदुरस्य पौराणिकी-कथाः।
पररामाविलासाढ्या न जातु विजितात्मनः ॥३१॥

अन्वयार्थ–(अस्य विजितात्मनः) इस जितेन्द्रिय जिनदत्त के (हृदये) हृदय में (पौराणिकी कथाः) पुराण संबंधी कथाओं ने (पदं) स्थान (आसेदुः) बनाया/प्राप्त किया किन्तु (पररामा-विलासाढ्याः) पर स्त्रियों के विलास से सहित (कथाः) कथाओं ने (जातु) कभी (पदं) स्थान को (न आसेदुः) प्राप्त नहीं किया।

जिनार्चाध्ययनासक्तः प्रभाते मध्यमेऽहनि।
संयतेभ्यः प्रदानेन स्वकाले भोगसेवया ॥३२॥
यावदास्ते सुखाम्भोधि-मध्यगो बुधवल्लभः।
तावदस्यान्यदा जाता शिरोऽर्त्तिः सहसा मनाक् ॥३३॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (प्रभाते) प्रातःकाल के समय में (जिनार्चाध्ययनासक्तः) जिनेन्द्र भगवान की पूजा और शास्त्राध्ययन में लीन रहता (मध्यमे अहनि) मध्याह्न काल में (संयतेभ्यः) साधु जनों के लिए (प्रदानेन) उत्कृष्ट दान द्वारा (स्वकाले) अपने योग्य काल में (भोगसेवया) भोगों के सेवन द्वारा वह (बुधवल्लभः) विद्वानों का प्रिय (सुखाम्भोधिमध्यगः) सुखरूपी समुद्र में निमग्न (आस्ते) रहता है (तावत्) तब (अस्य) इस जिनदत्त के (अन्यदा) अन्य समय (सहसा) अचानक (मनाक्)

अर्थात् धर्मानुकूल गृहस्थ धर्म का सेवन करते हुए उसके दिन मुहूर्त्त के बराबर बीतने लगे। वह दानियों में सदा अग्रसर था, उसके द्वार से याचक कभी भी खाली नहीं जाते थे। अपने विनय गुण द्वारा महामना जिनदत्त ने सज्जनों के चित्त में प्रवेश पाया था अर्थात् उसकी नम्रता से सत्पुरुष भी उसे हृदय से चाहते थे ॥३०॥ पौराणिक महापुरुषों की चरित्र कथाएँ, इसके हृदय में स्थान बनाये थीं अर्थात् सदा ही महापुरुषों की कथाओं को करता था, विषय भोगों की कथाओं से दूर रहता था। पर स्त्री की कथा वाच्छा तो स्वप्न में भी नहीं थी। यह मन और इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता था ॥३१॥

वह सुबह पञ्च परमेष्ठियों की पूजा और शास्त्रों के अध्ययन में लीन रहता हुआ, मध्याह्न में साधुओं को आहार दान देकर और अपने योग्य-काल में भोजन-पान आदि भोगों द्वारा परस्पर अव्याघात रूप से तीनों पुरुषार्थों का सेवन करते हुए, इसके सुख से दिन व्यतीत हो ही रहे थे कि एक

थोड़ी (शिरोर्त्तिः) शिर में पीड़ा (जाता) हो गई।

विनोदाय ततस्तस्य वयस्येन व्यधीयत।
प्रवृत्ताधीश-पादात-वारणाश्व-विमर्द्दनम् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (तस्य) उस जिनदत्त के (वयस्येन) मित्र ने (विनोदाय) मनोरंजन के लिए (प्रवृत्ताधीश-पादात-वारणाश्व-विमर्द्दनं) प्रारम्भ किए गए निर्धारित, समर्थ रथवाही, पदाति, हाथियों एवं घोड़ों की युद्ध क्रीड़ा को (व्यधीयत) किया।

देवनं[1] चतुरङ्गाणां रणं वा सजयाजयम्।
तत्रैव सोऽपि संसक्तः कौतुकात्समजायत ॥३५॥

अन्वयार्थ–(तत्र एव) वहाँ क्रीड़ा स्थल में ही (कौतुकात्) कौतुहल से (सः अपि) वह जिनदत्त भी (चतुरङ्गाणं) चतुरङ्ग सेना के (देवनं) क्रीड़ा/खेल में (वा) अथवा (सजयाजयम्) हार-जीत से सहित (रणं) युद्ध में (संसक्तः) आसक्त (समजायत) हो गया।

यावत्तत्रैव सञ्जाता रतिस्तस्य ततः कृतम्।
धूर्तैर्द्यूत-विशेषेषु क्रीडनं धन-लम्पटैः ॥३६॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (तत्रैव) उस क्रीड़ा में ही (तस्य) उस जिनदत्त के (रतिः) प्रेम (सञ्जाता) उत्पन्न हो गया (ततः) उसके बाद (द्यूतविशेषेषु) जुए की क्रीड़ा में विशेषज्ञ (धनलम्पटैः धूर्तैः) धन लम्पटी धूर्तों के द्वारा (क्रीडनं कृतं) द्यूत क्रीड़ा की गई।

अत्यासक्त्या समारब्ध-मधिकं सन्ततं ततः।
हारिताश्च प्रगल्भेन द्रव्यैकादशकोट्यः ॥३७॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (अत्यासक्त्या) अधिक आसक्ति से (अधिकं) अधिक (सन्ततं) निरन्तर (समारब्धं) प्रारंभ किये हुए जुए में (प्रगल्भेन) साहसी जिनदत्त के द्वारा (द्रव्यैकादश-कोट्यः) ग्यारह करोड़ मुद्राएँ (हारिताः) हारी गईं।

दिन अचानक ही इनके सिर में पीड़ा होने लगी ॥३२,३३॥ उस पीड़ा से जब इनका किसी कार्य में मन न लगने लगा तो इनके मित्रों ने इनके विनोदार्थ अधीश रणशूर पदाति, हस्ति एवं घोड़ों का परस्पर में युद्ध कराना प्रारंभ किया ॥३४॥ क्रीड़ा स्थल में ही कौतुहल से वह जिनदत्त भी चारों अंगों की क्रीड़ा में अथवा हार-जीत से सहित युद्ध में आसक्त हो गया ॥३५॥ जब इस क्रीड़ा में जिनदत्त का चित्त लग गया और उससे उनकी कुछ प्रसन्नता देखी, तो कुछ धनलंपटी धूर्तों ने जुआ खेलना प्रारंभ कर दिया ॥३६॥ बुरी बातों में मन बहुत जल्दी लग जाता है और उनके उपदेशक भी जगह-जगह मिल जाया करते हैं, इसलिए जुआरियों का जुआ देखते-देखते इनका मन भी उसके खेलने में फँस गया, इनके धन की तो कुछ कमी थी ही नहीं जो हारते हुए दुख होता और ऐसे खिलाड़ी नहीं थे जो जीतकर न हारते, इसलिए धीरे-धीरे इन्होंने अपना समस्त धन स्वाहा करना शुरू कर दिया और जिनदत्त ने अपनी ग्यारह करोड़ मुद्राएँ, उसी जुए के खेलने में हारकर जुआरियों को दे डालीं ॥३७॥

---

१. क्रीडनम्।

कोषाध्यक्षेण तातस्य वारिता धनयाचकाः।
सप्तकोट्यः समाकृष्टा वल्लभाकोशतस्ततः ॥३८॥

अन्वयार्थ–(तातस्य) पिता के (कोषाध्यक्षेण) खजांची के द्वारा (धनयाचकाः) धन को मांगने वाले (वारिताः) रोके गए (ततः) इसलिए इसके बाद (वल्लभाकोशतः) पत्नी के खजाने से (सप्तकोट्यः) सात करोड़ (समाकृष्टाः) मँगा लिए।

हारितास्तु निषिद्धास्ते याचकाः कोशपालिना।
गत्वा तैः कथितं तस्य यथा स्वं[1] न हि लभ्यते ॥३९॥

अन्वयार्थ–(तु) किन्तु वे सात करोड़ मुद्राएँ भी (हारिताः) हार गया (ते याचकाः) फिर वे याचक (कोशपालिना) कोषपाल के द्वारा (निषिद्धाः) रोक दिये गए (तैः) उन्होंने (गत्वा) जाकर (तस्य) उस जिनदत्त को (स्वं) धन (यथा) जैसे (न हि लभ्यते) प्राप्त नहीं हो रहा है यह (कथितं) उसको कहा।

वचनेन ततस्तेषां तुहिनेनेव[2] पंकजम्।
म्लानौ वदनमेतस्य संहृतं द्यूतकर्म च ॥४०॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (तेषां) उन याचकों के (वचनेन) वचन से (तुहिनेन) बर्फ के द्वारा (पंकजम् इव) कमल के समान (एतस्य) इसका (वदनम्) मुखकमल (मम्लौ) मलीन/मुरझा गया (च) और उसने (द्यूतकर्म) द्यूत-क्रीड़ा को (संहृतं) समेट लिया/समाप्त कर दिया।

येषा-मशेष-संसार - सौख्य-संपत्ति-शालिनी।
स्वभुजोपार्जिता लक्ष्मी-र्धन्यास्ते मानशालिनः ॥४१॥

अन्वयार्थ–(येषाम्) जिनकी (अशेषसंसारसौख्यसम्पत्तिशालिनी) संपूर्ण संसार की सुखरूपी सम्पत्ति से सुशोभित (स्वभुजोपार्जिता) अपनी भुजाओं से कमाई हुई (लक्ष्मीः) सम्पत्ति है (ते) वे (मानशालिनः) मानशाली (धन्याः) धन्य हैं।

[कोषाध्यक्ष द्वारा धन नहीं देने पर जिनदत्त का जुआ से विरक्त हो अपमान का अनुभव करना]

जब कुमार जिनदत्त की आज्ञा से नौकरों पर नौकर आना शुरु हुए और धन पर धन खर्च होना प्रारंभ हुआ, तो इनके पिता के खजांची को यह बात सहन न हुई। उसे इस बात का पूरा पता लग गया कि इतना धन दुष्कर्म के सिवाय अन्य कार्य में इतने जल्दी खर्च नहीं हो सकता, इसलिए और अधिक धन देना उचित न समझा एवं जिनदत्त के आज्ञाकारियों को धन देने की स्पष्ट मनाई कर दी। जब पिता के खजाने से धन मिलना बंद हो गया और जुआ खेलने का शौक कुछ कम न हुआ, तो जिनदत्त ने अपनी स्त्री के खजाने से धन मंगाना शुरु किया ॥३८॥ और उनको भी हार गया। कोषपाल द्वारा रोके गए याचकों ने जाकर जिनदत्त को सर्व वृतान्त सुनाया कि हमें धन प्राप्त नहीं हुआ। कोषाध्यक्ष ने धन देने से मना कर दिया है ॥३९॥ उनके वचनों को सुनते ही कुमार पर तुषारापात हो गया। जिस प्रकार तुषारापात से कमल म्लान हो जाते हैं, उसी प्रकार इस अपमान से कुमार का मुखकमल म्लान हो गया, उसने द्यूत- क्रीड़ा बंद कर दी और इस प्रकार विचारने लगा ॥४०॥ वस्तुतः इस संसार में वे ही पुरुष धन्य हैं, वे ही धनवान हैं और वे ही सुखी हैं, जो स्वयं अपने बाहुबल से धनोपार्जन करते हैं। वास्तव में उन्हीं की लक्ष्मी सार्थक है और वे ही मानशाली हैं ॥४१॥

---

१. धनम्। २. हिमेन।

परपुष्टा भवन्त्येव नूनं परिभवास्पदम्।
सहन्ते हि पिकाः[1] काक-चञ्चवा घात-कदर्थनम् ॥४२॥

अन्वयार्थ–(परपुष्टा) पराजीवी/दूसरों के द्वारा पुष्ट (नूनं) नियम से (परिभवास्पदम्) पराभव के स्थान/तिरस्कार के पात्र (भवन्ति एव) होते ही हैं (हि) क्योंकि (पिकाः) कोयलें (काकचञ्चवा) कौए की चोचों के द्वारा (घातकदर्थनम्) घातसे पीड़ा को (सहन्ते) सहन करते हैं।

प्रसादेन पितुः सर्वं पूर्यते मम वाञ्छितम्।
तथापीदं मनः खेद-दायकं मानभञ्जकम् ॥४३॥

अन्वयार्थ–(पितुः प्रसादेन) पिता के प्रसाद से (मम) मेरे (सर्वं) सभी (वाञ्छितं) इच्छित कार्य/मनोरथ (पूर्यते) पूर्ण होते हैं (तथापि) तो भी (इदं) यह द्यूत कर्म (मानभञ्जकं) मान को नष्ट करने वाला (मनः खेददायकं) मन को खेद-खिन्न करने वाला है।

युज्यते नोपभोगाय पुंसा-मुन्नत-चेतसाम्।
गोमिनी[2] गुरुपत्नीव यार्जिता पूर्वपूरुषैः ॥४४॥

अन्वयार्थ–(उन्नत चेतसाम् पुंसाम्) उन्नत चित्त वाले पुरुषों को (पूर्वपूरुषैः अर्जिता) पूर्व पुरुषों के द्वारा अर्जित (या) जो (गोमिनी) लक्ष्मी है वह (गुरु-पत्नी इव) गुरु-पत्नी के समान (उपभोगाय) उपभोग के लिए (न युज्यते) योग्य नहीं है।

यत्सुतेभ्यः समीहन्ते सन्तः सर्व-प्रकारतः।
सन्तान-पालनं तत्र हेतु-रर्थार्जनादिभिः ॥४५॥

अन्वयार्थ–(सन्तः) सज्जन पुरुष (अर्थार्जनादिभिः) धनोपार्जन आदि के द्वारा (यत्) जो (सुतेभ्यः) पुत्रों से (समीहन्ते) चाहते हैं (तत्र) उसमें (सर्वप्रकारतः) सब तरह से (संतान-पालनं) संतान का पालन करना (हेतुः) कारण है।

जो पर धन से पुष्ट हैं अर्थात् पराये धन से जीविका चलाते हैं, वे मेरे समान तिरस्कार के पात्र होते हैं। जैसे कोयल अपने बच्चों को काक के घोंसले में रख देती है, काकली उसे पालती है परन्तु जब यथार्थता: प्रकट होती है, तो काकों की चोचों का आघात उसे सहन करना पड़ता है ॥४२॥

यद्यपि पिताजी के प्रसाद से मेरे सकल मनोरथ पूर्ण होते हैं, मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है, सभी सुख साधन उपलब्ध हैं, तो भी यह जुआ मान-भङ्गकारक असह्य है, मन को दुःखित करने वाला है ॥४३॥

उन्नत चित्त वाले मनस्वियों के लिए पूर्व पुरुषों द्वारा संचित राज-वैभव, गुरु-पत्नी के समान भोगने योग्य नहीं है अर्थात् जिस प्रकार गुरु-पत्नी भोगने योग्य वस्तु नहीं है, उसी प्रकार परार्जित धन भी सत्पुरुषों द्वारा सेव्य नहीं है ॥४४॥

सज्जन लोग जो पुत्र आदिक को अपने द्वारा तन-मन से उपार्जन किये गए धन से, सर्व प्रकार पोषण करना योग्य बतलाते हैं, उसमें संतान को किसी प्रकार पाल-पोसकर बढ़ाकर देना ही हेतु है ॥४५॥

१. कोकिलाः । २. लक्ष्मीः

उदयेनेव यो भानो-र्बन्धूनां मुखपङ्कजम् ।
विकाशि कुरुते नास्य चरितेनापि नुः किमु ॥४६॥

अन्वयार्थ–(यः भानोः उदयेन इव) जो सूर्य के उदय के समान (बन्धूनां) बंधुओं के (मुखपङ्कजं) मुखरूपी कमल को (विकाशि न) विकसित नहीं करता (अस्य नुः) इस पुरुष के (चरितेन अपि) चरित्र से भी (किमु) क्या मतलब है ?

अलीक-व्यसनासक्त-चेतसा मयका[1] पुनः ।
तथाकृतं यथा नाहं शक्त[2]स्तात-मुखेक्षणे ॥४७॥

अन्वयार्थ–(पुनः) और (अलीक-व्यसनासक्त-चेतसा) झूठ आदि व्यसनों में आसक्त मन वाले (मयका) मैंने (तथाकृतं) वैसा/उस तरह कार्य किया है (यथा) जैसे/जिससे (अहम्) मैं (तातमुखेक्षणे) पिता के मुख को देखने में (न शक्तः) समर्थ नहीं हूँ ।

एके त एव जीवन्तु सतां मध्ये महौजसः ।
येषां जन्म न संजातं मानभङ्ग-मलीमसम् ॥४८॥

अन्वयार्थ–(महौजसः) महान् ओजस्वी/तेजस्वी (एके) मुख्य (ते एव) वे ही (सतां मध्ये) सज्जनों के बीच में (जीवन्तु) जीवित रहें (येषां) जिनका (जन्म) जन्म (मानभङ्गमलीमसम्) मानभंग से मलिन (न संजातं) नहीं हुआ ।

काले प्रदीयते यच्च विना प्रार्थनया न च ।
दीयते यच्च दुःखेन तददत्तसमं मतम् ॥४९॥

अन्वयार्थ–(यत् च) और जो (प्रार्थनया विना) प्रार्थना के बिना (च) और (काले) समय पर (न प्रदीयते) नहीं दिया जाता (यत् च) और जो (दुःखेन दीयते) दुःखपूर्वक दिया जाता है (तत्) वह (अदत्तसमं) बिना दिये के समान चोरी पापरूप (मतम्) माना गया है ।

जिस प्रकार नवीन सूर्य के उदय से कमल खिल जाते हैं, उसी प्रकार जिस पुरुष के उत्पन्न होने से, उसके सम्यक्चारित्र से कुटुंबियों के मन प्रफुल्लित न हुए, उस मनुष्य का वह जीवन, वह चारित्र किस काम का ? उससे उसके कुटुंबियों को दुःख होने से कोई फल नहीं होता ॥४६॥

हाय ! मैंने द्यूत सरीखे निंद्य कर्म में अपना मन लगा, बड़ा ही अनर्थ किया है । इसके बराबर मुझे इस समय कोई भी बुरा कार्य नहीं दिख रहा है । इस कार्य के करने से मैं अपने पिता को किसी भी प्रकार अपना मुँह दिखलाने योग्य नहीं हूँ तथा पिता का मुख भी देखने लायक नहीं हूँ ॥४७॥

संसार में एक वे ही लोग तो धन्य हैं और वे ही जीवित समझने के योग्य हैं, जिन्होंने अपने जन्म में कभी भी मानभंग का दुख नहीं उठाया ॥४८॥

जो द्रव्य नियत समय पर बिना याचना के प्राप्त न होकर याचना से ही प्राप्त होता है और जो दुःखपूर्वक यथाकथंचित्/जिस किसी तरह/जैसे-तैसे मिलता है, वह सब धन अदत्त बिना दिए हुए अर्थात् चोरी के धन समान गिना जाता है ॥४९॥

---

१. कुत्सितेन मया । २. समर्थः ।

उक्त्वा न दीयते येषा-मुक्त्वा बहु तथाल्पकम् ।
कालहानिः कृता दाने सन्ति ते प्रेषिता नराः ॥५०॥

अन्वयार्थ–(येषां) जिसका हिस्सा (न दीयते) नहीं दिया जाता (बहु उक्त्वा) बहुत कहकर (तथा अल्पकं) और अल्प/थोड़ा (दीयते) दिया जाता है (दाने) देने में (काल-हानिः) काल की हानि (कृता) की जाती है (ते नराः) वे मनुष्य (प्रेषिताः सन्ति) सेवक हैं ।

तावदेव नरो लोके सुराद्रि-शिखरोपमः ।
कस्यापि पुरतो यावन्न देहीति[1] प्रजल्पति ॥५१॥

अन्वयार्थ–(लोके) संसार में (तावत् एव) तब तक ही (नरः) मनुष्य (सुराद्रिशिखरोपमः) सुमेरुपर्वत के शिखर के समान उन्नत रहता है (यावत्) जब तक (कस्यापि) किसी के भी (पुरतः) आगे/सामने (देहिइति) मुझे दो इस प्रकार (न प्रजल्पति) नहीं बोलता ।

विना धनेन नार्घन्ति[2] विमलाः सकलाः क्रियाः ।
विहीना यौवनेनेव सभूषाः पण्ययोषितः[3] ॥५२॥

अन्वयार्थ–(यौवनेन विहीना) यौवन से रहित (सभूषाः) वस्त्रालङ्कारों से विभूषित (पण्य-योषितः इव) वेश्या के समान ही (धनेन विना) धन के बिना (सकलाः) सम्पूर्ण (विमलाः क्रियाः) निर्मल श्रावकों की पूजा दान आदि क्रियाएँ (न अर्घन्ति) सम्मानित/महत्वपूर्ण नहीं होतीं ।

कृतमेतेन तातादि-धनेन मम साम्प्रतम् ।
गत्वा क्वापि करोम्येष धनोपार्जनमुत्तमम् ॥५३॥

अन्वयार्थ–(एतेन) इस (तातादिधनेन) पिता आदि के धन ने (मम) मेरा (साम्प्रतम्) इस समय उचित/योग्य उपकार (कृतं) किया है किन्तु अब (एषः) यह मैं (वापि) कहीं भी (गत्वा) जाकर (उत्तमम्) श्रेष्ठ (धनोपार्जनम्) धन का उपार्जन (करोमि) करता हूँ ।

जिन लोगों को धन देने का वचन देकर भी धन नहीं दिया जाता है तथा ज्यादा कहकर काल हानि करके कम दिया जाता है, वे लोग सेवक कहलाते हैं । जिस प्रकार कोई अपने नौकरों के मान-अपमान का ख्याल नहीं करता, उसी प्रकार मेरे भी मानापमान का कोई ध्यान नहीं रखा गया ॥५०॥

यह मनुष्य संसार में तब तक ही प्रशंसनीय है, जब तक सुमेरुपर्वत की शिखर के समान उच्च है और तब तक ही कीर्तिशाली है, जब तक कि यह किसी के सामने इस तरह के दीन वचन नहीं बोलता, किसी चीज की याचना नहीं करता ॥५१॥

[धन की महिमा का विचार करते हुए धन कमाने की सोचना]

बिना धन के, इस संसार में अच्छे से अच्छे काम भी शोभित नहीं होते । जिस प्रकार वृद्धा-वेश्या चाहे कितना भी गहना पहन ले और बढ़िया-बढ़िया वस्त्र ओढ़ ले परन्तु यौवन के बिना उसकी कोई शोभा नहीं होती । उसी प्रकार निर्धन-गृहस्थ चाहे कैसी भी बढ़िया क्रियाएँ करे, धन के बिना वह कभी लोक में प्रशंसित नहीं होता । इसलिए अब मुझे इस मेरे पिता द्वारा उपार्जन किये गए मध्यम श्रेणि के धन से कोई काम नहीं । मैं कहीं परदेश में जाकर अवश्य ही उत्तम धन पैदा करूँगा ॥५३॥

---

१. 'देहि' इतिशब्दम् । २. न पूज्या भवन्ति । ३. वेश्याः ।

प्रियामेतां निधायाशु मन्दिरे पितुरुत्सुकां।
उपायं तं विधास्यामि[1] येन स्यात्कमलामला ॥५४॥

अन्वयार्थ–(पितुः मंदिरे) पिता के घर में (उत्सुकां) उत्सुक (एतां) इस (प्रियां) पत्नी को (आशु) शीघ्र (निधाय) रखकर/छोड़कर (तं) उस (उपायं) उपाय को (विधास्यामि) करूँगा (येन) जिससे (अमला) निर्मल (कमला) लक्ष्मी (स्यात्) हो।

विचिन्त्येति ततोऽलक्ष्य-वृत्तिरेष व्यवस्थितः।
कुतोऽपि ज्ञातवृत्तान्तस्तमाहूय पिताब्रवीत् ॥५५॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (इति विचिन्त्य) ऐसा विचार कर (अलक्ष्यवृत्तिः) गुप्तरीति वाला (एषः) यह जिनदत्त (व्यवस्थितः) अवस्थित था किन्तु (कुतः अपि) किसी भी तरह (ज्ञातवृत्तान्तः) जिनदत्त के इस वृतान्त को जानने वाले (पिता) पिता जीवदेव ने (तं आहूय) उसे बुलाकर (अब्रवीत्) कहा।

विषण्णोऽसि वृथा वत्स! किमेवं कुरु वाञ्छितम्।
धनैरेभिरहं पुत्र! नाम्नैवैषामधीश्वरः[2] ॥५६॥

अन्वयार्थ–(वत्स) हे पुत्र! तुम (किं) क्या (एवं) इस प्रकार (वृथा) व्यर्थ में (विषण्णः असि) खेद-खिन्न हो रहे हो (वाञ्छितम्) इच्छित कार्य (कुरु) करो (पुत्र) हे पुत्र! (एभिः धनैः) इस धन के द्वारा (अहं) मैं (नाम्ना एव) नाम से ही (एषां) इसका (अधीश्वरः) स्वामी हूँ।

निर्भर्त्सितो मया वत्स! कोशाध्यक्षः सहस्रशः।
यद्यन्यथा महाबुद्धे! स्पृशामि तव मस्तकम् ॥५७॥

अन्वयार्थ–(वत्स) हे पुत्र! (मया) मेरे द्वारा (सहस्रशः) हजारों बार (कोशाध्यक्षः) खजान्ची (निर्भर्त्सितः) डांटा गया है (महाबुद्धे!) हे महान् बुद्धिमान! (यदि अन्यथा) यदि अन्य प्रकार से हो तो मैं (तव) तुम्हारे (मस्तकम्) मस्तक को (स्पृशामि) स्पर्श करता हूँ।

यह जो मेरे साथ अर्द्धांगिनी धर्मपत्नी है, उसे तो इसके पिता के घर छोड़ आऊँगा और मैं तन-मन लगाकर निर्मल लक्ष्मी के उपार्जन करने का उद्योग करूँगा ॥५४॥

[पिता जीवदेव द्वारा पुत्र जिनदत्त को शिक्षा देना]

यद्यपि मनस्वी जिनदत्त इस प्रकार के सद्भावों से अपने मन की बात मन में ही छिपाकर रहने लगे, तो भी उनके इस वृतांत का पता उनके पिता को किसी प्रकार लग गया। उन्होंने इन्हें अपने पास बुलाया। पिता की आज्ञानुसार जब जिनदत्त इनके पास आए, तो वे इस प्रकार कहने लगे ॥५५॥

हे पुत्र! तुम क्यों व्यर्थ में दुखी होते हो, तुम्हें जो प्रिय हो, उसे अच्छी तरह पूरा करो। इस धन-धान्य आदि संपत्ति पर मेरा जो अधिकार तुम समझ रहे हो, वह नाम मात्र का है, इस समस्त वैभव के तुम ही अधिकारी हो ॥५६॥ प्यारे पुत्र! यद्यपि तुमने कोई बात नहीं कही है, तो भी तुम्हारे साथ कोषाध्यक्ष ने जो बर्ताव किया है, उसको मैंने यथावत् सुन लिया है। उसे सुनकर मैंने सैकड़ों और हजारों धिक्कारें खजान्ची को दीं, इसमें कुछ भी मिथ्या नही है। मैं तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर शपथ खाता हूँ, मैं जो कुछ भी तुमसे कह रहा हूँ, वह अक्षरशः सत्य है ॥५७॥

१. करिष्यामि। २. धनानाम्।

विनोदेनामुना किन्तु कुलकेतो ! न शोभते।
कृतं हि प्रथमं पुंसां महापापनिबन्धनम् ॥५८॥

अन्वयार्थ–(किन्तु) परन्तु (कुलकेतो !) हे कुल की ध्वजा स्वरूप कुल श्रेष्ठ ! (अमुना विनोदेन) इस विनोद से (न शोभसे) तुम शोभित नहीं होते हो (हि) क्योंकि (पुंसां) पुरुषों का यह (प्रथमं) प्रधान द्यूतकर्म (महापापनिबन्धनम्) महापाप का कारण (कृतम्) वर्णन किया गया है ।

कारयाशु जिनेन्द्राणां भवनानि महामते !
सुवर्णरुप्यरत्नैश्च प्रतिमाः पापनाशनाः ॥५९॥

अन्वयार्थ–(महामते !) हे महाबुद्धिमान ! (आशु) तुम शीघ्र (जिनेन्द्राणाम्) जिनेन्द्रों के (भवनानि) मंदिरों को (च) और (पापनाशनाः) पाप को नष्ट करने वाली (सुवर्णरूप्यरत्नैः) स्वर्ण, चाँदी और रत्नों के द्वारा (प्रतिमाः) प्रतिमाओं को (कारय) बनवाओ ।

गीतवादित्रनृत्यादि तत्रैव च दिवानिशम्।
चतुर्विधाय संघाय देहिदानं यथाविधि ॥६०॥

अन्वयार्थ–(तत्र एव) वहाँ ही तुम (दिवानिशम्) दिन-रात (गीतवादित्रनृत्यादि) गीत, वादित्र एवं नृत्य आदि (कारय) करो (च) और (चतुर्विधाय संघाय) चारों प्रकार के संघ के लिए (यथा-विधि) विधिपूर्वक (दानं) दान को (देहि) देओ ।

सिद्धान्त-तर्क -साहित्य-शब्द-विद्यादि-पुस्तकैः।
लेखयित्वा मुनीनां च दत्वा पुण्यं समर्जय ॥६१॥

अन्वयार्थ–(च) और (सिद्धांत-तर्कसाहित्य-शब्द-विद्यादि-पुस्तकैः) सिद्धांत, न्याय, साहित्य, व्याकरण, शब्दकोषादि और विद्या आदि की पुस्तकों को (लेखयित्वा) लिखवाकर (मुनीनां) मुनियों को (दत्वा) देकर (पुण्यं) पुण्य को (समर्जय) अर्जित करो ।

कूप-वापी-तडागानि प्रमदादि-वनानि च।
पुत्र ! सर्वाणि चित्राणि-यथाकामं विधापय[1] ॥६२॥

अन्वयार्थ–(पुत्र !) हे पुत्र ! (सर्वाणि चित्राणि) सभी प्रकार के कलापूर्ण (कूप वापी तडागानि)

परन्तु हे महाबुद्धिमान ! यह विनोद तुम्हें शोभा नहीं देता, तुम कुल की पताका हो, जिन महापुरुषों ने द्यूतक्रीड़ा की है, उन्हें वह महापाप का कारण ही सिद्ध हुआ है, यथा युधिष्ठिर आदि ॥५८॥

इसलिए यदि तुम्हें इसका उपयोग करना भी अभीष्ट है, तो तुम विशाल जिनेन्द्र भगवान के मंदिर बनवाओ, उनमें पाप विनाशक स्वर्ण, चाँदी और रत्नों से निर्मित मूर्तियाँ स्थापित करो ।

रात-दिन जिनेन्द्र भगवान की गाजे-बाजे के साथ पूजा करो एवं चारों प्रकार के संघ के लिए यथा विधि दान दो ॥६०॥

मुनियों के लिए सिद्धांत, न्याय, साहित्य, व्याकरण एवं शब्दकोष आदि विद्याओं के शास्त्र लिखवाकर भेट में अर्पण करके पुण्य का समार्जन करो ॥६१॥

कलापूर्ण कुए, बावड़ी, तालाब आदि खुदवाओ और विचित्र बाग-बगीचे लगवाओ । इनके करने

---

१. कारय ।

कुआं, बावड़ी, तालाब आदि को और (प्रमदादि-वनानि) प्रमदा आदि मनोहर क्रीड़ा गृह-उद्यानों को (यथाकामं) इच्छा अनुसार (विधापय) निर्माण कराओ।

विवेश मानसे तस्य न सा शिक्षा विलासिनी।
यतेरिव परं तेन शुश्रुवेऽधो-विलोकिना ॥६३॥

अन्वयार्थ–(अधोविलोकिना) नीचे की ओर देखने वाले (तस्य) उस जिनदत्त के (मानसे) मन में (सा शिक्षा) वह शिक्षा (यतेः विलासिनी इव) यति के स्त्री के समान (न विवेश) प्रविष्ट नहीं हुई (परं) किन्तु केवल (तेन) उसके द्वारा (शुश्रवे) सुनी गई।

चिन्तितं च पुनस्तेन नोपलम्भो भविष्यति।
यथा तथा विधास्यामि किं मे बहुविकल्पनैः ॥६४॥

अन्वयार्थ–(च) और (पुनः) फिर (तेन) उसने (चिन्तितं) विचार किया (यथा) जैसे (उपलम्भः) उलाहना (न भविष्यति) नहीं होगा (तथा विधास्यामि) उस तरह करूँगा (मे) मुझे (बहु-विकल्पनैः) बहुत विकल्पों से (किं) क्या मतलब ?

अनुमन्ये च तां तातभारतीमेवमस्त्विति।
प्रणम्य तं जगामासौ प्रेयसीसदनं[१] ततः ॥६५॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (तां) उस (तातभारतीं) पिता की वाणी को (एवं अस्तु) ऐसा ही हो (इति अनुमन्ये) ऐसा माना (च) और (तं) उन [पिता को] (प्रणम्य) प्रणाम कर (असौ) वह जिनदत्त (प्रेयसीसदनं) पत्नी के घर को (जगाम्) गया।

अभ्युत्थानादिकं कृत्वा तया ज्ञातं मनोगतम्।
व्यासक्त-मानसं चक्रे सविलास-कथान्तरैः ॥६६॥

अन्वयार्थ–(अभ्युत्थानादिकं) उठकर खड़े होना आसानादि प्रदान करना आदि को (कृत्वा) करके (तया) उसने (मनोगतं) मन के अभिप्राय अशान्ति को (ज्ञातं) जाना (सविलास-कथान्तरैः)

से तुम्हारी जगद् व्यापिनी कीर्ति होगी और तुम्हारा मन भी रंजित होगा ॥६२॥ पिता का यह उपदेश यद्यपि यथार्थ और हितकर था, तो भी जिस प्रकार मुनि के मन में विलासिनी स्त्री का प्रवेश नहीं होता उसी प्रकार वह, पुत्र जिनदत्त के मन में नहीं समाया। अपने विचारों की तरंगों में उस पर कुछ ध्यान न देकर, उन्होंने नीचे मुँहकर मात्र उस उपदेश को सुना ॥६३॥ पुनः उसने कृत दृढ़ निश्चयानुसार यही विचार किया कि इस प्रकार मुझे यथोचित उपलब्धि नहीं होगी। अनेकों विकल्पों से क्या प्रयोजन ? मैं वहीं करूँगा जिसे कि सोचा है ॥६४॥ तत्पश्चात् उस पिता की वाणी को ऐसा ही हो ऐसा माना और उनको प्रणाम कर वह पत्नी के घर गया ॥६५॥

[जिनदत्त का विमलमति पत्नी से विचार विमर्श]

विमलमती पति की परिचर्या करने में बड़ी ही चतुर थी। उसे शास्त्रोक्त और लौकिक पत्नी के समस्त कर्त्तव्य मालूम थे इसलिए ज्यों ही वासस्थान आए हुए पति को देखा, तभी उठकर आसानादि प्रदान किया और मन के अभिप्राय को जानकर अशांत मन को विलास से सहित, अन्य पुराण-पुरुषों

---

१. स्त्रीगृहम्

विलास से सहित अन्य कथाओं के द्वारा (व्यासक्त-मानसं) मन को बहलाने का प्रयास (चक्रे) किया।

क्षणान्तरं ततः स्थित्वा तयेति किल चिन्तितम्।
नयामि किल वेश्म स्व-मेतं वैचित्त्यहानये॥६७॥

अन्वयार्थ–(ततः) अथानन्तर (क्षणान्तरम्) कुछ समय (स्थित्वा) ठहरकर (तया) उसने (इति) इस प्रकार (चिन्तितं) विचार किया (एतम्) इनकी (वैचित्त्यहानये) मनोव्यथा को दूर करने के लिए (किल) निश्चित ही (स्वम् वेश्म) अपने घर को (नयामि) ले जाती हूँ।

ऊचे तयार्यपुत्राद्य मयामा[1] भवतो मम।
पित्रा सुप्रहिता लातुं तत्र किं क्रियतामिति॥६८॥

अन्वयार्थ–(तया ऊचे) उस विमलमती ने कहा (आर्यपुत्र!) हे आर्यपुत्र! (अद्य मया अमा) आज मेरे साथ (भवतः) आपको (मम पित्रा) मेरे पिता ने (लातुम्) लाने के लिए (सुप्रहिता) समाचार भेजा है (तत्र) वहाँ इस विषय में (किं क्रियतां इति) क्या किया जाये?

प्रापयामि पितुर्गेह-मत एव मिषादिमाम्।
विभाव्येति बभाणे मां, युक्तमेवं वरानने॥६९॥

अन्वयार्थ–(अतएव) इसलिए ही (इमाम्) इसको (मिषात्) बहाने से (पितुः गेहं) पिता के घर (प्रापयामि) पहुँचाता हूँ (इति विभाव्य) ऐसा विचार कर (बभाणे) बोला (वरानने) हे सुंदर मुखी! (माम्) मुझे (एवं) इस प्रकार करना (युक्तं) ठीक है।

आपृच्छ्येति ततस्तात-मनुज्ञातौ गतौ सुखम्।
परां जनेन संप्राप्तौ चम्पां चारुरु-गोपुराम्॥७०॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (तातं) पिता को (आपृच्छ्य) पूछकर (अनुज्ञातौ) आज्ञा मिलने पर (सुखंगतौ) सुख को प्राप्त हुए (जनेन) मनुष्य के साथ (चारुरु-गोपुराम्) सुंदर विशाल मुख्य दरवाजे वाली (परां) उत्कृष्ट (चम्पां) चम्पापुरी को (संप्राप्तौ) प्राप्त हुए।

की कथाओं के द्वारा बहलाने का प्रयास किया॥६६॥

[जिनदत्त को विमलमति द्वारा अपने पीहर ले जाना]

इस प्रकार कुछ क्षण स्थित रहकर उस पतिव्रता ने विचार किया, इनके मन के विषाद को दूर करने के लिए कुछ समय के लिए, अपने पिता के घर ले जाना उचित होगा। क्योंकि वहाँ जाने से स्वयं इनका व्यथित चित्त शांत हो जायेगा॥६७॥ प्यारे आर्यपुत्र! आज मेरे पिता के घर से आप और मुझे दोनों को शीघ्र बुलाने का समाचार आया है। कहिए इसमें आपकी क्या सम्मति है? जो उचित समझें वह करें॥६८॥ समयोचित वार्ता को सुनकर वह भी विचारने लगा, ठीक ही होगा इसी बहाने से इसे इसके पिता के घर छोड़कर, मैं स्वतंत्र अपने कार्य को सिद्ध कर सकूंगा। वह बोला हे सुंदर मुखी! वस्तुतः तुम्हारा विचार युक्ति संगत है। हमें चम्पा नगरी चलना चाहिए॥६९॥ तदनन्तर वह अपने पिता के समीप गया एवं ससुराल जाने के लिए पूछा। पिता जी ने भी उसके मन बहलाव के उद्देश्य से जाने की आज्ञा दे दी। पिता की अनुमति प्राप्त कर उसे परम-सुख हुआ। कुछ श्रेष्ठजनों के साथ प्रस्थान किया और शीघ्र ही विशाल सुन्दर गोपुरों से शोभित चम्पापुर में जा पहुँचे॥७०॥

---

१. मया सह।

ज्ञातवृत्तस्ततो श्रेष्ठी विमलो मुदितो गृहम् ।
निन्ये स्वयं परं प्रीत्या तत्रास्थाद्दिन-पञ्चकम् ।।७१।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (ज्ञातवृत्तः) जान लिया है पूर्व वृतांत को जिसने ऐसा (विमलः श्रेष्ठी) विमल सेठ (मुदितः) आनन्दपूर्वक उसे (गृहम्) घर को (निन्ये) ले आया (स्वयं परं प्रीत्या) स्वयं परम प्रीतिपूर्वक (तत्र दिन-पञ्चकं) वहाँ पर पाँच दिन तक (अस्थात्) ठहरा ।

अन्येद्युर्गतवानेष क्रीडितुं प्रियया सह ।
प्रमदोद्यानमुद्दाम - काम - विश्राममन्दिरम् ।।७२।।

अन्वयार्थ–(एषः) यह जिनदत्त (अन्येद्युः) अन्य दिन (प्रियया सह) प्रिय पत्नी के साथ (क्रीडितुं) क्रीड़ा के लिए (प्रमदोद्यान-मुद्दाम-काम-विश्राम-मन्दिरम्) बड़े हुए काम के विश्राम का घर ऐसे प्रमद नामक उद्यान को (गतवान्) गया ।

मञ्जुगुञ्ज्दलिव्रात - बद्धतोरणमालिके ।
मन्दगन्धवहोद्[१]भूत - कामिनीकुन्तलालके ।।७३।।
सुगन्धकुसुमामोद - मत्तकोकिलकोमले ।
अनल्प-फल-सम्भार - नम्र-सर्व-महीरुहे ।।७४।।
चिरं चिक्रीड तत्रासौ सर्वेन्द्रियसुखावहे ।
क्रीडाद्रिदीर्घिका-वल्ली - विटपादिमनोहरे ।।७५।।विशेषकं।।

अन्वयार्थ–(मञ्जुगुञ्जदलिव्रात-बद्धतोरण-मालिके) सुंदर कर्णप्रिय गुञ्जार शब्द करने वाले भ्रमरों के समूह से वेष्टित अनेक बंधी हुई तोरण-मालाओं वाले शोभित (मन्दगन्धवहोद्धूत-कामिनी-कुन्तलालके) मंद-मंद सुगंधित पवन के वेग से कामनियों के केशों के गुच्छों व घुँघरुओं की चंचलता वाले (सुगंध-कुसुमामोद-मत्त-कोकिल-कोमले) सुगंधित पुष्पों के आमोद पराग से मत्त कोकिलाओं के कोमल मधुर गान से युक्त (अनल्प-फलसम्भार-नम्र-सर्वमहीरुहे) अनेक फलों के भार से झुके हुए सभी वृक्षों वाले (क्रीडाद्रिदीर्घिका-वल्लीविटपादि-मनोहरे) क्रीड़ापर्वत, वापिका, लता, वृक्ष आदि से मनोहर

[जिनदत्त का औषधि के प्रभाव से अदृश्य हो वहाँ से विमलमति को छोड़ अन्यत्र जाना]

सेठ विमलचन्द्र को जिनदत्त के मन अशांत होने का कारण पहले से ही मालूम हो चुका था इसलिए उन्होंने अपने जामाता का बड़ा ही सत्कार किया और स्वागतपूर्वक अपने घर ले जाकर उन्हें प्रेम से ठहराया । वे वहाँ अपनी प्रिया के साथ पाँच दिन तक ठहरे ।।७१।। एक दिन वह अपनी प्राण प्यारी के साथ प्रमद नामक उद्यान में क्रीड़ार्थ गया । यह मनोहर विस्तृत एवं सुसज्जित बाग साक्षात् कामदेव के मंदिर के सदृश था ।।७२।। उसमें विशाल-विशाल काम मंदिर बने थे । सुंदर कर्ण प्रिय शब्द करने वाले भ्रमरों के समूह से वेष्टित अनेक तोरण शोभित हो रहे थे, सुंगधित पवन अपने वेग से कामिनियों के केशों को व घुँघरुओं को चंचल करता था ।।७३।। सुगंधित पुष्पों के आमोद सुगन्ध से कोकिलाएँ मत्त हो कोमल गायन करती थीं एवं अनेक फलों के भार से सभी वृक्ष नम्र हो रहे थे ।।७४।।

क्रीड़ापर्वत, वापिका, लता एवं वृक्ष आदि से मनोहर, सभी इन्द्रियों को सुख देने वाले उस उद्यान

---

१. पवनः ।

(सर्वेन्द्रिय-सुखावहे) सभी इन्द्रियों को सुख देने वाले (तत्र) वहाँ उस उद्यान में (असौ) उस जिनदत्त ने (चिरं) चिरकाल तक (चिक्रीड) क्रीड़ा करता रहा।

भ्राम्यताथ ततस्तेन तत्रादर्शि महौषधिः।
शिखायां धारितादृश्यं या करोति नरं क्षणात् ॥७६॥

अन्वयार्थ–(अथ ततः) और तत्पश्चात् तब (भ्राम्यता तेन) भ्रमण करते हुए उस जिनदत्त ने (तत्र) वहाँ (महौषधिः) महान् औषधि (आदर्शि) देखी (या) जो (शिखायां धारिता) चोटी में धारण की गई (नरं) मनुष्य को (क्षणात्) क्षणभर में (अदृश्यं) अदृश्य (करोति) करती है।

अस्ति यद्यपि सर्वाङ्ग-सौख्यं मम निकेतनम्।
तथापि पितुरुत्सृज्य स्थातुमत्र न युज्यते ॥७७॥

अन्वयार्थ–(यद्यपि) यद्यपि (मम) मेरा (निकेतनम्) घर (सर्वाङ्गसौख्यं) सभी प्रकार के सुखों वाला (अस्ति) है (तथापि) तब भी (पितुः उत्सृज्य) पिता को छोड़कर (अत्र) यहाँ सुसराल में (स्थातुं) रहना (न युज्यते) उपयुक्त नहीं है।

अक्षमेयं[1] वियोगं च सोढुं यद्यपि मामकम्।
दन्दह्यते तथाप्येष मानभङ्गो मनोऽनिशम् ॥७८॥

अन्वयार्थ–(च) और (यद्यपि) यद्यपि (इयं) यह विमलमति (मामकम्) मेरे (वियोगं) वियोग को (सोढुं) सहन करने के लिए (अक्षमा) असमर्थ है (तथापि) तो भी (एषः) यह (मानभङ्गः) मानभङ्ग (मनः) मन को (अनिशं) निरन्तर (दन्दह्यते) बार-बार जलाता है।

पद्मा न यावदद्यापि विहिता वशवर्तिनी।
तावदेते विषायन्ते विषया मम सर्वथा ॥७९॥

अन्वयार्थ–(अद्यापि) आज भी (यावत्) जब तक (पद्मा) लक्ष्मी (वशवर्तिनी न विहिता) वश में रहने वाली नहीं की (तावत्) तब तक (एते) ये (विषयाः) इन्द्रियों के विषय (मम) मुझे (सर्वथा) सब तरह से (विषायन्ते) विष के समान प्रतीत होते हैं।

में जिनदत्त ने चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥७५॥

इसके बाद उस जिनदत्त ने वहाँ भ्रमण करते हुए, महान् औषधि देखी जो चोटी में धारण करने से मनुष्य को क्षण में अदृश्य करती है ॥७६॥

यद्यपि मुझे यहाँ किसी प्रकार की कोई तकलीफ नहीं है, सब प्रकार से सब तरह के सुख मिल रहे हैं, तो भी अपने घर को छोड़ ससुर के घर रहना सर्वथा अनुचित है ॥७७॥

हाँ यह अवश्य है कि छाया के समान यह प्रिया मेरा वियोग सहन करने में अशक्य होगी, तो भी मानभङ्ग का कष्ट उससे भी अधिक है, यह अग्नि के समान मेरे हृदय को रात-दिन जला रहा है ॥७८॥

जब तक लक्ष्मी मेरे अधीन न होगी, मैं धनाढ्य न होऊँगा तभी तक ये भोगे गए विषय, विष के समान ही भयंकर मालूम पड़ेंगे, इसलिए लक्ष्मी को वश में करने के लिए समस्त दुख सह लेना भी योग्य है ॥७९॥

---

१. अक्षमा इयं।

तिष्ठन्तमत्र मां माम कीदृशं किल बुध्यते।
इत्यादि बहु सम्भाव्य तेनादायि महौषधिः ॥८०॥

अन्वयार्थ–(अत्र) यहाँ ससुराल में (तिष्ठन्तम्) रहते हुए (माम्) मुझे (माम) मेरे पक्ष के संबंधी (कीदृशं) कैसा (किल बुध्यते) मानते हैं (इत्यादि बहु सम्भाव्य) इत्यादि बहुत विचार कर (तेन) उस जिनदत्त ने (महौषधिः) महौषधि (आदायि) ग्रहण कर ली।

शिखाग्रे तां ततो बद्ध्वा भूत्वादृश्यस्ततो नृणाम्।
जगाम क्वापि साप्येवं विललाप तदुज्झिता ॥८१॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (तां) उस महौषधि को (शिखाग्रे) चोटी के अग्र भाग में (बद्ध्वा) बांधकर (ततः) इसके बाद (नृणां) मनुष्यों के (अदृश्यः भूत्वा) अदृश्य होकर (क्वापि जगाम) कहीं भी चला गया (तदुज्झिता) उससे छोड़ी हुई (सा अपि) वह [विमलमती] भी (एवं) इस प्रकार (विललाप) विलाप करने लगी।

प्राणनाथं[१]मपश्यन्ती सा ददर्श दिशोऽखिलाः।
तप्तासन्तमसेनेव चक्रवाकीव केवला ॥८२॥

अन्वयार्थ–(सा) उसने (प्राणनाथं अपश्यन्ती) प्राणनाथ/प्रियपति को नहीं देखते हुए (तमसेन इव) अंधकार के द्वारा ही मानो (चक्रवाकी इव) चकवी के समान (केवला) सिर्फ (तप्ता सन्) दुःखी होते हुए (अखिलाः दिशाः) सभी दिशाएँ (ददर्श) देखीं।

त्वद्दृष्टिजीविता नाथ! त्वत्पाद-कुलदेवता।
स्वभावप्रेमसंसक्ता हा मुक्तास्मि कथञ्चन ॥८३॥

अन्वयार्थ–(नाथ!) हे नाथ! मैं (त्वद्दृष्टिजीविता) आपकी कृपा दृष्टि से जीवित (त्वत्पाद-कुलदेवता) तुम्हारे चरणों की कुल देवी (स्वभावप्रेमसंसक्ता) स्वाभाविक प्रेम से आसक्त (हा) कष्ट है (कथञ्चन) किस तरह (मुक्तास्मि) छोड़ी गई हूँ।

यहाँ रहते हुए ससुराल में मुझे मेरे पक्ष के संबंधी कैसा मानते हैं इत्यादि बहुत विचार कर उस जिनदत्त ने वह महान् औषधि ग्रहण कर ली ॥८०॥ तत्क्षण उसने उस महान् औषधि को शिखा में बांध लिया और उसी समय अदृश्य हो उपस्थित जनों के देखते-देखते ही कहीं अन्यत्र चला गया तथा परित्यक्ता विमलमती एकाकी विलाप करने लगी ॥८१॥

[जिनदत्त के वियोग में विमलमति का विलाप]

जिनदत्त को न आए जब बहुत देर हो गई और आने की आशा सर्वथा जाती रही, तो विमलमती को बड़ा ही दुख हुआ और मानो अंधकार के द्वारा चकवी के समान वियोग से व्याकुल होती हुई सभी दिशाओं में आशा भरी दृष्टि से देखने लगी।

हाय! मेरे जीवनाधार नाथ! ऐ मेरे हृदय मंदिर के आराध्य देव! हा! स्वाभाविक प्रेम के भंडार आप कहाँ चले गए? मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया? जिससे रुष्ट हो मुझे आपने छोड़ दिया ॥८३॥

---

१. प्रियं।

केलि-लीलां विहायाशु मुखचन्द्रं प्रदर्शय।
मनःकुमुदमाम्लान-मार्यपुत्र! विकाशय[१] ॥८४॥

अन्वयार्थ–(आर्य-पुत्र) हे आर्य पुत्र! (केलिलीलां) खेल के स्वाँग, मजाक को (आशु) शीघ्र (विहाय) छोड़कर (मुखचन्द्रं) मुखरूपी चन्द्रमा को (प्रदर्शय) दिखलाएँ (अम्लानं) मलिनता रहित निर्मल (मनः कुमुदं) मनरूपी कुमुद को (विकाशय) विकसित करें।

मनो मे नवनीताभं[२] तप्तं विरह-वह्निना।
विलीनमिव हा पश्चात्-किमागत्य करिष्यसि ॥८५॥

अन्वयार्थ–(मे मनः) मेरा मन (विरहवह्निना) विरहरूपी अग्नि के द्वारा (नवनीताभं) मक्खन के समान (तप्तं) तपे हुए और (विलीनं) नष्ट हुए (इव) की तरह हो रहा है (हा) खेद है (पश्चात्) बाद में (आगत्य) आकर (किं) क्या (करिष्यसि) करोगे?

ता लतास्तरवस्ते ते क्रीडागास्ते[३] विहङ्गमाः।
न जानामि गताः क्वापि दृष्टिं बद्धैव वक्त्रभः ॥८६॥

अन्वयार्थ–(अपि) और (ताः लताः) वे लताएँ, (ते तरवः) वे तरुवर, वृक्ष (ते क्रीडागाः) वे क्रीड़ा पर्वत (ते विहङ्गमाः) और वे पक्षीगण (क्व गताः) कहाँ गए (न जानामि) मैं नहीं जानती (वक्त्रभः एव) तुम्हारे मुख की प्रभा ने ही मेरी (दृष्टिं) दृष्टि को (बद्धा) बांधा है।

सस्नेहस्तादृशी प्रीतिश्चाटुकाराश्च ते प्रभो!।
विश्रम्भः स च दाक्षिण्यं तदद्य सकलं गतम् ॥८७॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (प्रभो!) हे स्वामिन्! आपकी (तादृशी प्रीतिः) उस प्रकार की प्रीति (ते चाटुकाराः) वे चाटुकारिताएँ (सः सस्नेहः विश्रम्भः) वह स्नेहयुक्त विश्वास (च) और (तद्) वह (दाक्षिण्यं) दयालुता/सुजनता/कृपालुता/नम्रता/शिष्टता (अद्य) आज (सकलं) सभी (गतं) चले गए।

नहीं! नहीं! आप ऐसे कठोर न थे, अवश्य ही इस समय आप मेरे साथ हँसी कर रहे हैं। प्राणनाथ! कृपा कर अब आप शीघ्र ही आइए। बहुत हँसी हो चुकी अब और अधिक वह नहीं सही जाती, बिना विलम्ब के मुझे अपना मुखचंद्र दिखाकर प्रफुल्लित कीजिए ॥८४॥

मेरा मन मक्खन के समान कोमल है, वह इस समय आपकी विरहरूपी अग्नि से तपाया जा रहा है, यदि वह सर्वथा विलीन/विदीर्ण ही हो गया, तब फिर आपका आना ही किस काम का होगा, इसलिए हे प्राणनाथ! शीघ्र आइए और इस संतप्त करने वाली विरहाग्नि को अपने संयोगरूपी जल से बुझाकर शीघ्र शांत कीजिए ॥८५॥

हे देव! वे लताएँ, वे वृक्ष समूह, वे क्रीड़ा पर्वत सरोवर, वे चहकते पक्षी समूह आदि न जाने कहाँ चले गए? मुझे कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो रहा है। मैं तो केवल मात्र आपके मुखचंद्र की ओर ही दृष्टिबद्ध हूँ ॥८६॥ हे प्रभो! आपको मेरे ऊपर बड़ा ही स्नेह था, बड़ी ही मुझ में प्रीति थी, मुझे बहुत ही अच्छा मानते थे। किसी कारण वश मेरे रुष्ट हो जाने पर, आप सैकड़ों चाटु वचन कहा करते थे, वह विश्वास और दयालुता आज सभी कहाँ चले गये? ॥८७॥

---

१. प्रफुल्लय। २. हैयङ्गवीनसमं। ३. क्रीडापर्वतः।

आश्वासयति मामत्र को विना भवताधुना।
विरहार्तां विभावर्यां[1] भानुनेव सरोजिनीम् ॥८८॥

अन्वयार्थ–(विभावर्यां) रात्रि में (सरोजिनीं) कमलिनी को (भानुना इव) सूर्य के समान (अधुना) इस समय (विरहार्तां) विरह से दुखी (माम्) मुझे (भवता विना) आपके बिना (अत्र) यहाँ पर (कः) कौन ? (आश्वासयति) आश्वासन देवे।

यत्पुरा विहितं नूनं संयुक्तानां वियोजनम्।
दुःसहोऽयं समायातो विपाकस्तस्य कर्मणः ॥८९॥

अन्वयार्थ–(यत् पुरा) जो पहले (नूनं) निश्चित रूप से (संयुक्तानां) संयोगी प्रेमियों का (वियोजनम्) वियोग (विहितं) किया है (तस्य कर्मणः) उस कर्म का (अयं) यह (दुःसहः) असहनीय (विपाकः) फलोदय (समायातः) आया है।

जन्मान्तरेऽपि संभूतिः स्त्रीत्वेन भविता यदि।
तदाजननिरेवास्तु मा वियोगः प्रियैरमा[2] ॥९०॥

अन्वयार्थ–(यदि) अगर (जन्मान्तरे अपि) अगले जन्म में भी (स्त्रीत्वेन) स्त्रीरूप में (संभूतिः) उत्पत्ति (भविता) हो (तदा) तब (अजननिः एव अस्तु) कुमारी ही रहूँ जिससे (प्रियैः अमा) प्रिय के साथ (वियोगः) वियोग (मा) नहीं (अस्तु) हो।

दीयतां दर्शनं पत्युः समस्ता वनदेवताः।
दुःखसागर-मग्नाया उद्धारः क्रियतां मम ॥९१॥

अन्वयार्थ–(समस्ताः) सभी (वनदेवताः) वन के देवता (मम) मुझे (पत्युः) पति के (दर्शनं) दर्शन को (दीयताम्) देवें (दुःख-सागर-मग्नायाः) दुखरूपी सागर में डूबी हुई (मम) मेरा (उद्धारः) उद्धार (क्रियतां) करें।

आपके बिना मुझे अपना कोई नहीं दिख रहा है। आप मुझको समय-समय पर धैर्य दिलाते थे, परन्तु अब आपके यहाँ न रहने से, मैं रात्रि में सूर्य के बिना कमलिनी के समान शोकग्रस्त हो गई हूँ ॥८८॥ अवश्य ही उन्हें किसी ने हर लिया है और वह हरने वाला कोई नहीं, मेरा पूर्वकृत कर्म ही है क्योंकि मैंने पूर्वभव में संयोगी प्रेमियों का वियोग किया होगा, उसका ही यह कुफल है, जो मुझे प्रिय वियोगजन्य दुःख मिला है ॥८९॥ हा ! स्त्री पर्याय बड़ी ही खराब है। इसमें महान् दुःख है। इसके समान निंद्य कोई पर्याय नहीं। इसमें मेरा अब कभी जन्म न हो और यदि किसी प्रकार हो भी जाये तो कुमारी ही रहूँ, जिससे प्रिय का वियोग न हो। संसार में प्रिय-वियोग के समान कोई पदार्थ दुःखद नहीं है, इसलिए इसका न होना ही अच्छा है ॥९०॥ अयि वन देवताओं ! मुझ पर दया करो, मेरी दीन प्रार्थना की तरफ ध्यान दो। मुझे पति का दर्शन दें और मेरा उद्धार करें। मैं शोक सागर में डूबी जा रही हूँ। मेरी इस अवस्था पर क्या आपको करुणा नहीं आती ? मेरा इस समय सहायक कोई नहीं है। दीन-दुखिया, निःसहाय का सहायक बनना आपका कर्त्तव्य है ॥९१॥

---

१. निशि। २. सह।

विलापमिति कुर्वाणा सानीता पितुरन्तिकम् ।
सखीजनेन वाष्पाम्भः स्नापितस्तनमण्डला ॥९२॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (विलापम्) विलाप को (कुर्वाणा) करती हुई (वाष्पाम्भः-स्नापित-स्तनमण्डला) अश्रुजल से नहाए हुए स्तनमण्डल वाली (सा) वह विमलमती (सखीजनेन) सखीजनों के द्वारा (पितुः अन्तिकं) पिता के पास (नीता) लाई गई ।

वार्त्तां निशम्य तां तातस्तामाश्वास्याब्रवीददः[1] ।
धर्मदानरता पुत्रि ! तिष्ठात्रैव जिनालये ॥९३॥

अन्वयार्थ—(तां) उस (वार्त्तां) वियोग-वार्ता को (निशम्य) सुनकर (तातः) पिता (ताम् आश्वास्य) उसको आश्वासन देकर/समझाकर (अदः) यह (अब्रवीत्) बोले (पुत्रि !) हे पुत्री ! (धर्मदानरता) धर्मदान में लीन रहते हुए (अत्र एव) यहाँ ही (जिनालये) जिनमंदिर में (तिष्ठ) रहो।

सार्द्धमार्याभिरार्याभिः सखीभिः स्वजनैर्वृता ।
तावत्तिष्ठसुते ! यावत् तदन्वेषण-मारभे ॥९४॥

अन्वयार्थ—(आर्याभिः आर्याभिः सार्द्धम्) श्रेष्ठ आर्यिकाओं से और(स्वजनैः वृता) स्वजनों से घिरी हुई (सखीभिः सार्द्धम्) सखियों के साथ (सुते !) हे पुत्री ! (तावत्) तब तक (तिष्ठ) रहो (यावत्) जब तक (तद्) उस जिनदत्त की (अन्वेषणम्) खोज को (आरभे) प्रारंभ करते हैं ।

स्थापयामास तत्रैतां सान्त्वयित्वा समुद्यताम् ।
दाने श्रुते जिनार्चायां वैयावृत्ये यथोचिते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(एताम्) इस विमलमती को (सान्त्वयित्वा) सान्त्वना देकर (दाने) दान (श्रुते) शास्त्राध्ययन (जिनार्चायां) जिनपूजा (यथोचिते) और यथोचित (वैय्यावृत्ये) वैयावृत्ति में (समुद्यताम्) संलग्न कर (तत्र) वहाँ जिनालय में (स्थापयामास) ठहराया ।

[पतिवियोग के बाद पिता द्वारा पुत्री को समझाकर अपने जिनालय में रखना]

इस प्रकार विलाप करती हुई अश्रु जल से नहाए हुए स्तनमण्डल वाली वह विमलमती, सखी जनों के द्वारा पिता के पास लाई गई ॥९२॥

उस वियोग-वार्ता को सुनकर पिता विमलमती को आश्वासन देते हुए बोले, हे पुत्री ! तुम धर्मदान में लीन रहते हुए यहाँ जिनमंदिर में रहो ॥९३॥

श्रेष्ठ आर्यिकाओं की संगति करो । अपनी सखियों के साथ धर्म की चर्चा कर और पात्रदान आदि भी किया करो । हम लोग तेरे पति की तलाश में हैं, यदि वे कहीं मिल जाएँगे, तो अवश्य उनका तेरे साथ संयोग होगा ॥९४॥

पिता विमलचंद्र का जब पुत्री विमलमती ने यह सांत्वना भरा उपदेश सुना और उसकी यथार्थता समझी, तो जिस किसी तरह धैर्य धारण किया और जिनपूजा, शास्त्र-पठन, सदुपदेश श्रवण, वैय्यावृत्यकरण आदि शुभ क्रियाओं में अपना चित्त लगाकर रहने लगी ॥९५॥

---

५. इदं ।

गवेषितश्च[1] यत्नेन पक्षद्वयजनैरयम् ।
सर्वतोऽपि च नालोकि[2] ततस्तस्थे यथायथम् ।।९६।।

अन्वयार्थ—(च) और (ततः) इसके बाद (पक्षद्वयजनैः) दोनों पक्षों के मनुष्यों द्वारा (अयम्) यह [जिनदत्त] (यत्नेन) यत्नपूर्वक (सर्वतः) सभी ओर से (गवेषितः) खोजा गया (अपि) तो भी (न अलोकि) नहीं दिखा (यथायथं) तब सब लोग जैसे-तैसे (तस्थे) ठहर गए ।

अथासौ जिनदत्तोऽपि प्रापद्दधिपुरंपुरम् ।
दृष्टं प्रविशता तत्र तेनोद्यानं मनोहरम् ।।९७।।

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (असौ) यह (जिनदत्तः अपि) जिनदत्त भी (दधिपुरं) दधिपुर नाम के (पुरं) नगर को (प्रापत्) प्राप्त हुआ/पहुँचा (तत्र) वहाँ (प्रविसता) प्रवेश करते हुए (तेन) उसने (मनोहरं) सुन्दर (उद्यानं) उद्यान को (दृष्टं) देखा ।

तस्य मध्ये विवेशासौ विश्रामाय ददर्श च ।
गुल्मवल्लीद्रुमांस्तत्र सर्वानप्यवकेशिनः[3] ।।९८।।

अन्वयार्थ—(असौ) इस जिनदत्त ने (विश्रामाय) विश्राम के लिए (तस्य मध्ये) उस [उद्यान] के बीच में (विवेश) प्रवेश किया (च) और (तत्र) वहाँ (सर्वान् अपि) सभी (गुल्मवल्लीद्रुमान्) गुच्छों लताओं और वृक्षों को (अवकेशिनः) फूल-पत्रों से रहित रुण्ड (ददर्श) देखा ।

अहो वनमिदं केन हेतुनाभवदीदृशम् ।
क्रियमाणेऽपि सेकादौ यावदित्थमचिन्तयत् ।।९९।।

अन्वयार्थ—(अहो !) आश्चर्य है (इदं वनं) यह वन (केन हेतुना) किस कारण से (सेकादौ) सिंचाई आदि (क्रियमाणे अपि) किए जाने पर भी (ईदृशं) इस प्रकार/ऐसा (अभवत्) हुआ है (यावत्) जब तक (इत्थं) ऐसा/इस प्रकार (अचिंतयत्) विचार करता है ।

तावत्तत्र समायातः परीतः पत्तिभिः[4] पुरात् ।
जंपानस्थः[5] समुद्राख्यः सार्थवाहो धनाधिपः ।।१००।।

अन्वयार्थ—(तावत्) तब तक (पत्तिभिः) पदातियों से (परीतः) व्याप्त (जंपानस्थः) गाड़ी पर

[जिनदत्त की खोज में असफलता और जिनदत्त का दधिपुर के उद्यान में पहुँचना]

जिनदत्त के पिता और ससुर पक्ष के पुरुषों ने जब इनकी खोज करना प्रारंभ की और कहीं पता न पाया, तो वे भी विचारे मौन साधकर भाग्य के भरोसे रहने लगे ।।९६।। जिनदत्त औषधि के प्रभाव से अदृश्य हो चलते-चलते दधिपुर नामक नगर में पहुँचे और वहाँ एक बाहर के विशाल उद्यान को देखा ।।९७।। उस जिनदत्त ने विश्राम के लिए उस उद्यान के मध्य में प्रवेश किया, वहाँ जाकर सभी वल्ली/बेल, लताओं, गुच्छों और वृक्षों को फूल-पत्रों से रहित रुण्ड देखा ।।९८।। इस प्रकार की दशा देखकर वह विचारने लगा, अहो ! यह बगीचा सिंचाई आदि किए जाने पर इस प्रकार दुर्दशा को प्राप्त क्यों है ? ।।९९।। वह इस प्रकार आश्चर्य से सोच रहा था कि उसी समय नगर से परिकर सहित एक धनाढ्य समुद्रदत्त नाम का व्यापारी वहाँ आ पहुँचा, यही इस उद्यान का मालिक था ।।१००।।

---

१. अन्वेषितः २. अदर्शि । ३. वन्ध्यान् । ४. पदातिभिः ५. यानविशेषः

स्थित (समुद्राख्यः) समुद्र नामक (धनाधिपः) धन का स्वामी/धनाढ्य (सार्थवाहः) वैश्य/व्यापारी (पुरात्) नगर से (तत्र) वहाँ (समायातः) आया ।

अयमप्राकृताकारः कोऽपि पान्थ इति क्षणम् ।
विचिन्त्यावाचि तेनासौ कुतो यूयं समागताः ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(अप्राकृताकारः) अस्वाभाविक आकार वाला (अयम्) यह (कः अपि) कोई (पांथः) पथिक है (इति) इस प्रकार (असौ) वह समुद्रदत्त (क्षणं) क्षणभर (विचिन्त्य) विचार कर (तेन) उस जिनदत्त से (अवाचि) बोला (यूयं) आप (कुतः) कहाँ से (समागताः) आए हैं ?

भणितं च कुमारेण भ्राम्यन् भूमि-मितस्ततः ।
क्षेमादिकं परीपृच्छ्य[1] ज्ञात्वोत्तमगुणं च तम् ॥१०२॥
उक्तं तेन ततो भद्र दृष्टं वनमिदं त्वया ।
अस्ति कश्चिदुपायो वा येनेदं फलवद्भवेत् ॥१०३॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(च) और (कुमारेण) कुमार जिनदत्त ने (भणितं) कहा (इतस्ततः) यहाँ-वहाँ (भूमिं भ्राम्यन्) पृथ्वी पर घूमता हुआ यहाँ आया हूँ (तं) उस जिनदत्त को (उत्तमगुणं ज्ञात्वा) उत्तम गुणवाला जानकर (क्षेमादिकं) कुशलक्षेम आदि (परीपृच्छ्य) पूछकर (ततः) इसके बाद (तेन उक्तं) उसने कहा (भद्र !) हे भद्र ! (त्वया) तुम्हारे द्वारा (इदं) यह (वनं) वन (दृष्टं) देखा गया है (वा) और (कश्चित् उपायः) कोई उपाय (अस्ति) है (येन) जिससे (इदं) यह [वन] (फलवद्) फलवाला (भवेत्) हो जाये ।

विज्ञाताशेषवृक्षायु - र्वेदोऽवादीदसावदः ।
नन्दनाभं करोम्येष विलम्बेन विना वनम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ–(विज्ञाताशेषवृक्षायुर्वेदः) जान लिया है सम्पूर्ण वृक्षों को जीवित करने का उपाय जिसने ऐसा (असौ) यह जिनदत्त (अवादीत्) बोला (एषः) यह मैं (विलम्बेन विना) विलम्ब के बिना (अदः) इस (वनम्) वन को (नन्दनाभं) नन्दन वन के समान (करोमि) करता हूँ ।

अस्वाभाविक आकृति वाले अज्ञात पुरुष को उद्यान में देखकर, उसने विनय से पूछा हे भद्र ! आप कौन हैं और इस समय कहाँ से आ रहे हैं ? ॥१०१॥

उसके प्रश्नानुसार कुमार ने उत्तर दिया, हे भाई ! पृथ्वी पर इधर-उधर विचरण करता हुआ मैं यहाँ आया हूँ । यह सुनकर उसे उत्तम कुलीन एवं गुणवाला ज्ञातकर कुशलक्षेम पूछी । तत्पश्चात् बोला हे भद्र ! आपने इस उद्यान को देखा क्या कोई उपाय है, जिससे कि यह फलवान हो सके ? ॥१०२,१०३॥

[सेठ के निवेदन पर जिनदत्त के द्वारा उद्यान को हरा भरा करना]

सार्थवाह का प्रश्न सुनकर कुमार ने वृक्ष वनस्पति विज्ञान द्वारा वृक्षों की आयु आदि का विज्ञान लगाया, यह वनस्पति विज्ञान में निष्णात था । अतः कहने लगा–मैं अतिशीघ्र इस वन को

१. पृष्ट्वा ।

हृष्टात्मना ततस्तेन सामग्री सकला कृता ।
दोहदादिकमादाय कुमारेणापि तत्कृतम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (हृष्टात्मना) प्रसन्न मन वाले (तेन) उस समुद्रदत्त सेठ ने (सकला) सम्पूर्ण (सामग्री) सामग्री (कृता) इकट्ठी की (कुमारेण अपि) कुमार ने भी (दोहादादिकं) दोहद आदि को [फल आने के समय पौधों की इच्छा जैसे अशोकवृक्ष चाहता है कि तरुणियाँ उसे पैर से ठोकर मारें, बकुल बकौली का वृक्ष चाहता है कि उसके ऊपर मदिरा के कुल्ले किए जाएँ] (आदाय) लेकर (तत्कृतम्) वह कार्य किया ।

पुलकैरिव रागस्य स्तवकैः क्वापि रेजिरे ।
अशोकाः[१] कामिनी-पाद-ताडनेन समुद्गतैः ॥१०६॥

अन्वयार्थ–(अपि) तथा (क्व) कहीं पर (अशोकाः) अशोक वृक्ष (कामिनी-पाद-ताडनेन) कामिनियों के पाद प्रहार से (समुद्गतैः) उत्पन्न हुए (रागस्य पुलकैः इव) राग के रोमाञ्चों के समान (स्तवकैः) गुच्छों के द्वारा (रेजिरे) सुशोभित हो रहे थे ।

विभिदे क्वापि वाणेन वाणेनेव मनोभुवः ।
पुष्पपुंखभृता तत्र वियुक्तानां मनो भृशम् ॥१०७॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (पुष्पपुंखभृता) पुष्पों की पंखुड़ियों से भरे (वाणेन) बाण वृक्ष के द्वारा (मनोभुवः) कामदेव के (वाणेन इव) बाण के समान (वियुक्तानां) वियोगियों के (मनः) मन को (भृशम्) अत्यधिक (विभिदे) वेध रहा था ।

कटाक्षैर्लक्षितः पूर्वं पुरन्ध्रीणां यदादरात् ।
उवाह तिलकस्तेन तिलकत्वं[२] वनश्रियः ॥१०८॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (पूर्वं) पहले (आदरात्) आदर से (पुरन्ध्रीणां) स्त्रियों के (कटाक्षैः लक्षितः) कटाक्षों के द्वारा देखा गया (तेन) उससे (तिलकः) तिलक वृक्ष ने (वनश्रियः) वन की शोभा (तिलकत्वं) तिलकपने को (उवाह) धारण किया ।

नन्दन वन के समान रमणीक कर दूँगा ॥१०४॥ यह सुनकर उसे परमानन्द हुआ और कुमार के कथनानुसार समस्त साधन-सामग्री लाकर उपस्थित कर दी । कुमार ने अविलम्ब उस सामग्री को लेकर उपवन की काया पलट कर दी ॥१०५॥

[जिनदत्त के वनस्पति विज्ञान सम्बन्धि कौशल]

उसमें पहले जो अशोक-वृक्ष सूखे खड़े थे, वे अब कामिनी-स्त्रियों के पाद-ताड़न से उत्पन्न पुलकों के समान गुच्छों से शोभित जान पड़ने लगे ॥१०६॥ जो बाण-वृक्ष रुण्ड मात्र खड़े थे, वे कामदेव के बाण के समान पति, वियुक्त-स्त्रियों के मन को भेदने वाले पुष्प और पंखों से युक्त हो गये ॥१०७॥ जो तिलक-वृक्ष पहले नाम मात्र के ही तिलक थे, वे अब पुश्चली स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से आहत हो पुष्पित होने के कारण, वास्तव में वे वन लक्ष्मी के तिलक हो गए थे ॥१०८॥

---

१. स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः शीधुगण्डूषसेकात् पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम् । मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पकं वक्रवाताच्चुतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥१॥ २. स्वामित्वं ।

विचकास कुचाभोग-सङ्गगात् कु-रबकः[१] स्त्रियः।
यथा तथा कृतः सोऽपि भृङ्गैः सु-रवकस्तदा[२] ॥१०९॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (स्त्रियः) स्त्रियों के (कुचाभोगसङ्गात्) स्तनमंडल की संगति से (कु-रबकः) खोटे रव/शब्द करने वाला/कुरवक वृक्ष (विचकास) विकसित किया (तथा) वैसे ही (तदा) तब (सः अपि) वह उद्यान भी (भृङ्गैः) भौंरों द्वारा (सुरवकः) अच्छे रव/शब्द वाला/गुनगुन के सुरीले शब्द युक्त (कृतः) किया गया।

प्रमदामद्यगण्डूषो वकुलैर्यः पपे पुरा।
प्रवृद्ध-कुसुमामोदै-रुद्गीर्ण इव शोभितः ॥११०॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (वकुलैः) वकौली के वृक्षों द्वारा (पुरा) पहले (प्रमदा-मद्य-गण्डूषः) स्त्रियों के मदीले रसों का कुल्ला (पपे) पिया गया था वह (प्रवृद्ध-कुसुमामोदैः) बड़े हुए फूलों की पराग सुगन्ध आदि से (उद्गीर्णः इव) उगलते हुए के समान (शोभितः) सुशोभित हो रहा है।

कृतारार्तिकमाङ्गल्य-दीपकैरिव चम्पकैः।
विशतो रतिनाथस्य तत्र पुष्पैर्विराजितम् ॥१११॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (चम्पकैः पुष्पैः) चम्पक के पुष्पों द्वारा (विशतः) प्रवेश करते हुए (रतिनाथस्य) रतिनाथ/कामदेव की (कृतारार्तिकमाङ्गल्य-दीपकैः) की गई आरति के मंगलदीपों के (इव) समान (विराजितं) सुशोभित थे।

उत्कर्षो गुणसम्पर्के जातेनाशुचिजन्मना।
यदाप्तं कुंकुमेनौच्चैः कामिनीमुखमण्डनम् ॥११२॥

अन्वयार्थ–(अशुचिजन्मना जातेन) अशौच जन्म से उत्पन्न होने से (कुंकुमेन) कुंकुम/केशरवृक्ष ने (गुणसम्पर्कैः) सुगन्धि आदि गुणों के सम्बन्ध द्वारा (यत्) जो (उच्चैः उत्कर्षः) उच्च उत्कर्ष (आप्तं) प्राप्त किया अतः वह (कामिनी-मुख-मण्डनम्) कामिनियों के मुख का श्रृंगार हुआ।

जो कु-रवक पहले वास्तव में कुत्सित रव करने वाले पुष्प न होने से भद्दे लगने वाले थे, वे ही अब स्त्रियों के स्तन संसर्ग से आहत हो पुष्पित होने के कारण गुंजारते हुए भ्रमरों के शब्दों से, सु-रवक–सुंदर रव/शब्द वाले हो गए ॥१०९॥

जो वकुल-वृक्ष पहले बिल्कुल शुष्क (नीरस) थे, वे ही अब प्रमदाओं द्वारा किए गए मद रस के कुल्लों से सीचें गए कुसुमों की सुगंधि से पहले पीए गए मदिरा रस को उगलते हुए के समान जान पड़ते थे ॥११०॥

जो चंपक-वृक्ष पहले रुंड-मुंड खड़े थे वे पुष्पों से युक्त होने के कारण प्रवेश करते हुए काम के स्वागतार्थ जलाए गए मंगलदीपों के समान शोभित होने लगे ॥१११॥

जो कुंकुम-वृक्ष पहले अशुचिता से उत्पन्न होने के कारण अस्पृश्य थे, वे ही पुष्पों से सुगंधित हो जाने के कारण अति उत्कर्ष को प्राप्त, कामिनियों के मुखों के श्रृंगार हो गए ॥११२॥

---

१. भ्रमरैः। २. श्रेष्ठशब्दयुक्तः कृतः।

चक्रे कण्टकिभिस्तत्र सरजस्कैः खलैरिव।
सुगन्धगुणयोगेन केतकैर्मस्तके पदं ॥११३॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ उद्यान में (कण्टकिभिः) कांटों वाली (सरजस्कैः) पुष्प परागरूपी धूली सहित और (सुगन्ध-गुण-योगेन) सुगंध रूप-गुण के संयोग से (केतकैः) केतकी के द्वारा (खलैः इव) दुर्जनों के समान (मस्तके) शिर पर (पदं) स्थान को (चक्रे) धारण किया।

सेकधूपनपूजादि-योग्यं यद्यस्य भूरुहः।
विधाय तत्तदा तस्य तेनाकारि [1]विदोच्चता ॥११४॥
सविभ्रमा[2] कृता तत्र जातपुष्पफलोद्भवा।
समस्तापि कुमारेण वनस्पतिनितम्बिनी ॥११५॥
माकन्दकलिकास्वाद-कलकूजितकोकिलं।
सुगन्धि-कुसुमामोद - सुख-लब्ध-मधुव्रतम् ॥११६॥
माधवीमण्डपोपान्त-क्रीडत्कामुकयुग्मकम्।
नागवल्लीकृताश्लेष - सफलक्रमुकद्रुमम् ॥११७॥
नभोवतीर्णसंभ्रान्त - किन्नरीकलगीतिभिः।
त्यक्तदूर्वाङ्कुरास्वाद - कुरङ्गक-कदम्बकम् ॥११८॥
लतान्तरचलच्चारु - सारिकाशुकजल्पनैः।
उत्कर्णचकितानेक-सङ्केतस्थाभिसारिकम् ॥११९॥
तरुमूलसमासन्न - ध्यानासक्ततपोधनम्।
तद्भक्तिभावितायात - खेचरामरमानवम् ॥१२०॥
नितान्तफलसम्भार - भज्यमानमहीरुहम्।
रतान्तश्रम-संहार - कारिचारु-प्रभंजनम् ॥१२१॥
तथाविधं तदालोक्य चक्रे चैत्रोत्सवानसौ।
पूजयामास सद्वस्त्र-भूषणाद्यैश्च तं सदा ॥१२२॥ (कुलकं)

अन्वयार्थ–(यद् भूरुहः) जो वृक्ष (यस्य) जिस (सेकधूपनपूजादियोग्यं) सिंचन, धूप देना, सत्कार आदि के योग्य था (तस्य) उसका (तत् विधाय) वह करके (तदा) तब (तेन विदा) उस विद्वान् जिनदत्त ने (उच्चता) योग्य कार्य (अकारि) किया (तत्र) वहाँ पर (कुमारेण) जिनदत्त कुमार ने (समस्तापि) सभी (वनस्पतिनितम्बिनी) वनस्पतिरूपी स्त्री (जातपुष्प-फलोद्भवा) उत्पन्न हुए पुष्प व

वहाँ उद्यान में कांटों वाली पुष्प परागरूपी धूली सहित और सुगंध रूप-गुण के संयोग से केतकी ने दुर्जनों के समान शिर पर स्थान को धारण किया अर्थात् केतकी के पुष्प फूल गए ॥११३॥ इसी प्रकार अन्य बहुत से जो वृक्ष खराब हालात में थे, वे जिनदत्त द्वारा अपने-अपने योग्य सिंचन, धूप देना, सत्कार आदि कारणों के मिल जाने से प्रफुल्लित हो गए ॥११४॥ जिनदत्त द्वारा इस प्रकार जब, वह

---

१. ज्ञानिना। २. कटाक्षयुक्ता पक्षिभ्रमणयुक्ता च। ३. सिंदुवारः। ४. "वासन्ती माधवी त...इत्यमरः। ५. पूगीफलम्।

फलों की उत्पत्ति वाली (सविभ्रमा) कटाक्षों व पक्षियों के संचार से युक्त (कृता) की (माकन्द-कलिका-स्वाद-कल-कूजित-कोकिलं) आम्र की कलियों के आस्वादन से मधुरध्वनि युक्त कोयलों से व्याप्त (सुगन्धि-कुसुमामोद-सुख-लब्धव्रतं) सुरभित फूलों की पराग सुगंधि से सुखी भौंरों वाले (माधवी- मण्डपोपान्त-क्रीडत्कामुक-युग्मके) माधवी लताओं के मण्डप के पास खेलते हुए कामी युगल वाले और (नागवल्ली-कृताश्लेष-सफल-क्रमुक-द्रुमम्) नागवृक्ष की बेलरियों के द्वारा किए गए आलिंगन से फल सहित सुपाड़ी के वृक्ष के समूह वाले (त्यक्त-दूर्वाङ्कुरास्वाद-कुरङ्गक-कदम्बकम्) छोड़ दिया है दूवा के अंकुरों के स्वाद को जिन्होंने ऐसे मृग समूह वाले और (नभोवतीर्ण-संभ्रान्त-किन्नरी-कल-गीतिभिः) आकाश में उतरे हुए सम्भ्रम को करने वाले किन्नरियों के सुंदर गीतों से व्याप्त (लतान्तर-चलच्चारु-सारिका-शुकजल्पनैः) लताओं के मध्य चलते हुए सुंदर सारिका और तोतों के शब्द से (उत्कर्ण-चकितानेक-सङ्केतस्थाभिसारिकम्) खड़े कानों से चकित हुई अनेक संकेत स्थानों में स्थित अभिसारिकाओं [वेश्याओं] से व्याप्त (तरुमूलसमासन्नध्यानासक्ततपोधनम्) वृक्षों के नीचे बैठे हुए ध्यान में आसक्त मुनि जहां पर हैं (तद्भक्तिभावितायात-खेचरामरमानवम्) उनकी भक्ति से सहित आए हुए विधाधर देव और मानवों से युक्त (नितान्तफलसंभारभज्यमान-महीरुहम्) अत्यधिक फलों के भार से टूटते हुए व झुके हुए वृक्ष वाले (रतान्त-श्रमसंहारकारिचारु-प्रभंजनम्) रतिक्रीड़ा के श्रम का संहार करने वाली सुंदर वायु जहां बह रही थी (तदा) तब (तथा-विधं) इस प्रकार के मनोहारी उद्यान को (आलोक्य) देखकर (असौ) उस समुद्रदत्त सेठ ने (चैत्रोत्सवान्) चैत्र के उत्सवों को (चक्रे) किया (च) और (तम्) उस जिनदत्त को (सद्वस्त्रभूषणाद्यैश्च) सुन्दर वस्त्र और आभूषणों के द्वारा (सदा) हमेशा (पूजयामास) सम्मानित किया ।

राजादि-जनविख्यातो नारीनेत्रालि-पङ्कजः ।
जिनदत्तोभवत्तत्र जिनधर्मपरायणः ॥१२३॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (राजादिजनविख्यातः) राजा आदि जनों में प्रसिद्ध (नारिनेत्रालि-

---

उद्यान फल और पुष्पों से शोभित कर दिया गया, तो वहाँ आ-आकर सुंदर पक्षीगण किलोलें करने लगे ॥११५॥ आम्र की कलियों के भक्षण करने से मत्त हुई कोकिलाएँ मधुर-मधुर शब्द करने लगीं । सुगंधित पुष्पों की सुगंधि से, भ्रमर सुखकारी मोदवर्धक गुंजार करने लगे ॥११६॥ माधवी लताओं के मंडप में कामी लोग क्रीड़ा करने लगे । नागवल्ली के आलिंगन करने से सुपारी के वृक्ष सफल जान पड़ने लगे ॥११७॥ आकाश से देखने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए किन्नरियों के गीतों से मृगगण वशीभूत हो दूर्वा भक्षण छोड़ स्तब्ध होने लगे ॥११८॥ लताओं के मध्य सुंदर मैनाएँ चहकने लगीं, तोते भी उनके स्वर से होड़ लगाने लगे । इससे अनेक अभिसारिकाएँ संकेत स्थानों में स्थित सावधान हो कान खड़े कर सुनने लगीं ॥११९॥ वृक्षों के नीचे तपस्वियों को ध्यान में मग्न देख खेचर, भूचर और अमरगण एकत्रित होने लगे ॥१२०॥ अधिक फलों के भार से झुक-झुक कर वृक्षों की डालियाँ टूटने लगीं और रति के श्रम को हरण करने वाली सुंदर पवन बहने लगी ॥१२१॥ जब समस्त उद्यान इस प्रकार मनोहारी हो गया, तो सेठ समुद्रदत्त को अति आनंद हुआ । उसने उसकी खुशी में एक चैत्रोत्सव कराया और जिनदत्त को उसमें सद्वस्त्राभूषण आदि से महा-सत्कार युक्त किया ॥१२२॥

वहाँ राजा आदि जनों में प्रसिद्धि को प्राप्त, नारियों के नेत्ररूपी भौंरों के लिए कमल स्वरूप

पङ्कजः) नारियों के नेत्ररूपी भौंरों के लिए कमल स्वरूप (जिनदत्तः) जिनदत्त (जिनधर्मपरायणः) जैनधर्म में अग्रसर हो लीन (अभवत्) हुआ।

उपेन्द्रवज्रा (११ वर्ण)

ततो महात्मा वननायकेन पुत्रः स मेने मदनोपमानः[1]।
धृतः स्वगेहे गुणरत्नकोशः सर्वज्ञ-धर्मामृतपानपुष्टः ॥१२४॥

अन्वयार्थ–(ततः) तदनन्तर (सः) वह (मदनोपमानः) कामदेव की उपमा का धारक (सर्वज्ञ-धर्मामृतपान-पुष्टः) सर्वज्ञ के धर्मरूपी अमृत के पीने से पुष्टि को प्राप्त (गुणरत्नकोशः) गुणरूपी मणियों की खान (महात्मा) महान् आत्मा (सः) वह जिनदत्त (वन-नायकेन) वन के स्वामी समुद्रदत्त सेठ के द्वारा (पुत्रः) पुत्र रूप से (मेने) माना गया तथा (स्वगेहे) अपने गृह में (धृतः) रखा।

उपेन्द्रवज्रा

अथान्यदा चिन्तितवानितीदं स्थातुं न मे सद्मनि युज्यतेऽस्य।
न यावदद्याप्यभिसारिकेव कृता भ्रमन्ती स्ववशे मया श्रीः ॥१२५॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (अन्यदा) अन्य समय में (इदं) यह (इति) इस प्रकार (चिन्तितवान्) चिंतन करने लगा (अद्य) आज (यावत्) जब तक (अभिसारिका इव) वेश्या के समान (श्रीः अपि) लक्ष्मी भी (मया) मेरे द्वारा (स्ववशे कृता) अपने वश में की हुई (न भ्रमन्ती) नहीं घूमती है तब तक (मे) मेरा (अस्य) इसके (सद्मनि) घर में (स्थातुं) रहना (न युज्यते) योग्य नहीं है।

विना न दानेन समस्ति धर्मः सुपुष्कलेनापि धनेन कामः।
विना धनं नो व्यवसायतोऽस्ति त्रिवर्गमूलं तदिदं स्वमेव ॥१२६॥

अन्वयार्थ–(दानेन विना) दान के बिना (धर्मः न समस्ति) धर्म नहीं है (सुपुष्कलेन धनेन विना) पर्याप्त धन के बिना (कामः न) कामपुरुषार्थ नहीं होता (धनं विना) धन के बिना (व्यवसायतः नो अस्ति) व्यवसाय अर्थात् अर्थ पुरुषार्थ भी नहीं होता है (अपि) और (तद् इदं) वह यह (स्वं एव) धन

जिनदत्त जैनधर्म में लीन/परायण हुआ ॥१२३॥

[सेठ समुद्रदत्त द्वारा जिनदत्त को अपने घर ले जाना]

तत्पश्चात् सर्वज्ञ प्रभु जिनेन्द्र भगवान के धर्मामृत से पुष्ट, गुणरूपी रत्नों का भण्डार, धर्मशील उस कुमार को वन नायक ने पुत्रवत् अपने घर में स्थान दिया, उसने समझा मेरे घर में साक्षात् कामदेव अवतरित हुआ है, यहाँ वह नाना सुखों का अनुभव करने लगा तथा अपनी धर्मध्यान, साधना में तत्पर रहा परन्तु पराश्रित वृत्ति मनस्वियों को भला कैसे भाती? ॥१२४॥ नहीं! मुझे इस सेठ के घर में रहना बिल्कुल उचित नहीं है। मैं जिस उद्देश्य से परदेश भ्रमण कर रहा हूँ, वह अभी पूरा नहीं हुआ है। वेश्या के समान चंचल लक्ष्मीरूपी स्त्री अभी तक मेरे वश में नहीं हुई है और इसको वश करना, मेरा प्रधान कर्त्तव्य है ॥१२५॥ क्योंकि धन के बिना मनुष्य के धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकते। अतः न तो इसके बिना मनुष्य दान से धर्म ही उपार्जन कर सकते हैं, न

---

१. मदनस्य उपमान अर्थात् मदनादपि श्रेष्ठः।

ही (त्रिवर्गमूलं) धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों का मूल कारण है ।

उपेन्द्र वज्रा

अवोचि तेनेति ततः स तातः प्रयच्छ भाण्डं जलयात्रया नः ।
यामो यदादाय विचित्ररत्नं द्वीपं जवात्सिंहलशब्दपूर्वम् ।।१२७।।

अन्वयार्थ–इसलिए (तेन) उस समुद्रदत्त सेठ से (सः) जिनदत्त ने (इति अवोचि) इस प्रकार कहा (तातः) हे पिता (नः) मुझे (भाण्डं) बर्तन (विचित्ररत्नं) अनेक प्रकार के रत्नों को (प्रयच्छ) दीजिए (यदादाय) जिनको लेकर मैं (जवात्) शीघ्रता से (जल-यात्रया) जलयात्रा से (सिंहलशब्दपूर्वम्) सिंहल शब्द है पहले जिसके ऐसे सिंहल नामक (द्वीपं) द्वीप को (यामः) जाऊँ ।

पृथ्वी छन्दः

निशम्य तदुदीरितं भणति सार्थवाहो मुदा ।
मयैव सह गम्यतां यदि समस्ति बुद्धिर्धने ।।
ततः प्रगुणिताखिलोचितविचित्रभाण्डैः समं ।
जनैर्बहुविधैरिमौ मुदितमानसौ प्रस्थितौ ।।१२८।।

अन्वयार्थ–(तदुदीरितं) उसके वचनों को (निशम्य) सुनकर (सार्थवाहः) समुद्रदत्त सेठ (मुदा) प्रसन्नता से (भणति) कहता है (यदि) अगर तेरी (बुद्धिः) मति (धने) धन में (समस्ति) है (ततः) तो (मया) मेरे (सह) साथ (एव) ही (गम्यतां) चलिएगा (प्रगुणिताखिलोचित-विचित्र-भाण्डैः) बड़े, सभी के योग्य, नाना प्रकार के बर्तनों और (बहुविधैः जनैः समं) बहुत प्रकार के मनुष्यों के साथ (मुदित- मानसौ) प्रसन्न मन वाले (इमौ) इन समुद्रदत्त और जिनदत्त दोनों ने (प्रस्थितौ) प्रस्थान किया ।

इसके बिना अभीष्ट पदार्थों का संग्रहकर काम ही सिद्ध हो सकता है और न इसके बिना किसी तरह का व्यवसाय कर अर्थ ही उपार्जन कर सकते हैं, इसलिए सबसे पहले तीनों पुरुषार्थों के मूलभूत धन का पैदा करना ही कार्यकारी है ।।१२६।।

जब इस प्रकार जिनदत्त के मन में धन पैदा करने का पूर्वभाव फिर उदय हो आया, तो उन्होंने सेठ समुद्रदत्त से बर्तन और अनेक रत्नों को मांगा और जहाज द्वारा समुद्र यात्रा करते हुए सिंहल द्वीप जाने का विचार प्रकट किया ।।१२७।।

समुद्रदत्त सेठ ने जब जिनदत्त के उक्त प्रकार से वचन सुने, तो उसने कहा महाभाग ! यदि आपकी धन उपार्जन करने की इच्छा है, तो मेरे साथ क्यों न चलिएगा । मैं भी सिंहल द्वीप में विचित्र-विचित्र बर्तनों को ले शीघ्र ही जाना चाहता हूँ जिसे सुनकर जिनदत्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों जन बहुत से मनुष्यों के साथ सिंहलद्वीप की ओर रवाना हो गए ।।१२८।।

।। इति श्रीभगवद् गुणभद्राचार्य्यविरचिते जिनदत्तचरित्रे तृतीयः सर्गः ।।

।। इस प्रकार श्रीयुत गुणभद्र आचार्य द्वारा रचित जिनदत्त चरित में तीसरा सर्ग पूर्ण हुआ ।।

चतुर्थ सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथ प्राप्तौ पयोराशे-रुपान्तं क्रमयोगतः ।
तावपास्तश्रमौ शीत-वेलावनसमीरणौ ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) अथानन्तर (तौ) जिनदत्त और समुद्रदत्त वे दोनों (क्रम-योगतः) क्रमशः (पयोराशेः उपान्तं) समुद्र के पासवर्ती प्रदेश को (प्राप्तौ) प्राप्त हुए तब (शीतवेला-वन-समीरणौ) वन के ठंडे किनारे व जलवायु ने (अपास्तश्रमौ) उनको थकावट रहित कर दिया ।

कृत्वा पूजादिकं तत्रा-रूढौ पोतं शुभे दिने ।
प्राप वेगात्तटं सोऽपि प्रेरितः शुभ-वायुना ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ समुद्र तट पर वे दोनों (पूजादिकं) पूजा आदि को (कृत्वा) करके (शुभे दिने) शुभ दिन में (पोतं) जहाज पर (आरूढौ) सवार हुए (अपि) और (सः) वह जहाज भी (शुभ-वायुना) अनुकूल वायु से (प्रेरितः) प्रेरित हुआ (वेगात्) वेग से (तटं) तट को (प्राप) प्राप्त हुआ ।

ततोऽवतीर्य हृष्टौ तौ झगित्येव समागमत् ।
प्रविष्टौ च ततो द्वीपं पूर्वोदितममा[1] जनैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद, (हृष्टौ) हर्ष को प्राप्त/प्रसन्न होते हुए (तौ) वे दोनों (अवतीर्य) उतरकर (झगिति एव) शीघ्र ही (जनैः अमा) मनुष्यों के साथ (पूर्वोदितं) पूर्व कथित स्थान में (समागमत्) सकुशल आ गए (च) और (ततः) इसके बाद (द्वीपे) द्वीप में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट हुए ।

आवासिता जनास्तत्र बहिरन्तर्यथायथम् ।
कुमारः श्रावकमन्यो वृद्धैकस्या गृहे स्थितः ॥४॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ उस द्वीप में (बहिः अन्तः) बाहर व अन्दर (यथायथं) यथायोग्य

[जिनदत्त व समुद्रत्त का व्यापार के लिए सिंहलद्वीप की और प्रस्थान]

सेठ समुद्रदत्त और जिनदत्त व्यापार करने की तीव्र इच्छा से सिंहलद्वीप की तरफ रवाना हो क्रमशः समुद्र की तट भूमि पर पहुँचे । वहाँ शीतल किनारे व वन की वायु ने उनको श्रम रहित कर दिया ॥१॥ और वहाँ समुद्र तट पर शुभ-मुहूर्त, शुभ-दिन में जिनेन्द्र भगवान की पूजा आदि कर उन्होंने जहाज द्वारा यात्रा करनी प्रारंभ कर दी । जिस दिन इन दोनों व्यापारियों ने समुद्र यात्रा प्रारंभ की, भाग्यवश उसी दिन से हवा उनके अनुकूल बहने लगी । जिससे कि ये अपने समस्त धन-धान्य के साथ सुरक्षित रीति से शीघ्र ही सिंहलद्वीप जा पहुँचे ॥२॥ उसके बाद प्रसन्न होते हुए वे दोनों उतरकर शीघ्र ही मनुष्यों के साथ पूर्व कथित स्थान में सकुशल आ गए और उसके बाद द्वीप में प्रविष्ट हुए ॥३। वहाँ पहुँच कर इन्होंने अपने साथ के मनुष्यों को यथायोग्य स्थान पर भीतर और बाहर ठहरा दिया एवं श्रावकाचारी कुमार जिनदत्त सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म के गाढ़ भक्त होने के कारण, एक श्राविका

---

१. सह ।

(जनाः) अन्य लोग (आवासिताः) वसाए/रुकाए गए (श्रावक-मन्यः कुमारः) श्रावक के समान मान्य जिनदत्त कुमार (वृद्धैकस्याः गृहे) एक वृद्धा/बूढ़ी माता के घर में (स्थितः) ठहर गया।

विविक्ताहारपानादि-बुद्ध्या सार्थेशसम्मताः[1]।
क्रियादिकं ततः कर्तुं प्रवृत्ताः सकला जनाः ।।५।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (विविक्ताहार-पानादिबुद्ध्या) पवित्र आहार, पानादि की बुद्धि से (सार्थेश-सम्मताः) व्यापारियों के स्वामी समुद्रदत्त सेठ से आदेश को प्राप्त (सकलाः जनाः) सभी मनुष्य (क्रियादिकं) स्नान आदि क्रियाओं को (कर्तुं) करने के लिए (प्रवृत्ता) प्रवृत्त हुए।

योऽथ राजा पुरस्तस्य मेघवाहन-संज्ञितः।
विजया-कुक्षि-सम्भूता तत्सुता श्रीमतीत्यभूत् ।।६।।

अन्वयार्थ–(अथ) और (यः) जो (पुरः) नगर था उस का (मेघवाहन-संज्ञितः) मेघवाहन नाम का (राजा) राजा (अभूत्) था (तस्य) उसकी (विजया-कुक्षि-सम्भूता) विजया नाम की रानी के उदर से उत्पन्न (श्रीमति इति) श्रीमती इस नाम की (तत्सुता) उसकी पुत्री (अभूत्) थी।

प्राप्तापि यौवनं कामा-मोघास्त्रं सौम्यदर्शना।
सेन्दुमूर्तिरिवांकेन रोगेणातिकदर्थिता ।।७।।

अन्वयार्थ–(सा) वह (सौम्यदर्शना) देखने में सौम्य (कामामोघास्त्रं) काम के अमोघ अस्त्र (यौवनं) जवानी को (प्राप्ता अपि) प्राप्त होती हुई भी (अङ्केन) कलंक से (इन्दुमूर्तिः इव) चन्द्रबिम्ब के समान (रोगेण) रोग से (अति कदर्थिता) अत्यन्त दुखी थी।

यथा यः सन्निधौ तस्याः कोऽपि स्वपिति याति सः।
यमवेश्म ततस्तस्यां निर्विण्णाः जनकादयः ।।८।।

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (यः) जो (कः अपि) कोई भी (तस्याः) उस कन्या के (सन्निधौ)

सम आचरण वाली वृद्धा के घर में ठहर गए ।।४।। उसके बाद पवित्र आहार, पानादि की बुद्धि से व्यापारियों के स्वामी समुद्रदत्त सेठ से आदेश को प्राप्त सभी मनुष्य स्नान आदि क्रियाओं को करने में संलग्न हो गए ।।५।।

[जिनदत्त द्वारा मेघवाहन राजा की कन्या श्रीमति की व्याधि दूर करना]

जिस नगर में जाकर ये लोग ठहरे थे और जहाँ इन्होंने अपने माल बर्तन-भांडे बेचना चाहे थे, वहाँ का राजा मेघवाहन था, इसकी विजया नाम की एक रानी थी और उससे श्रीमती नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी ।।६।। राजपुत्री श्रीमति उस समय युवावस्था के प्रारंभ में पैर रख चुकी थी, इसका रूप बड़ा सुंदर और सौम्य था परन्तु जिस प्रकार चंद्रमा अल्प कलंक से दूषित होने के कारण निंदनीय गिना जाता है, उसी प्रकार यह भी एक रोग से आक्रांत होने के कारण लोगों को भयंकर मालूम पड़ती थी ।।७।। और वह रोग यह था कि कोई मनुष्य इसके समीप सोता था, वह ही यमराज के घर का अतिथि बन जाता था, पुत्री की यह अवस्था देख घर के सब माता-पिता आदि इससे

---

१. आदिष्टाः।

समीप में (स्वपिति) सोता था (सः) वह (यमवेश्म) यम के घर [मृत्यु को] (याति) प्राप्त होता था (ततः) इसलिए (तस्यां) उसके विषय में (जनकादयः) माता-पिता आदि (निर्विण्णाः) विरक्त हो गए थे।

प्रासादे सुन्दरे साध्वी सा बहिः स्थापिता ततः।
अभ्यर्थितश्च भूपेन पौरलोकः सगौरवम् ॥९॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (सा) वह (साध्वी) कुलीन कन्या (सुन्दरे) सुंदर (बहिः प्रासादे) बाहरी महल में (स्थापिता) ठहराई गई (च) और (भूपेन) राजा के द्वारा (पौरलोकः) नगर निवासीजन (सगौरवम्) गौरव सहित (अभ्यर्थितः) सूचित किये गए।

केनापि पूर्वपापेन ममेयं देहजाजनि।
आनयामि ततो यावत्-कुतोऽपि भिषजं[1] जनाः ॥१०॥

अन्वयार्थ–(केन अपि) किसी भी (पूर्वपापेन) पूर्व पापोदय से (मम) मेरी (इयं) यह (देहजा) पुत्री (अजनि) उत्पन्न हुई है (ततः) इसलिए (यावत्) जब तक (कुतः अपि) कहीं से भी (भिषजं जनं) वैद्यजन को (आनयामि) बुलाता हूँ।

[2]प्रतिसद्मतोऽतो यातु प्रत्यहं चैकमानवः।
वस्तुमस्या[3] गृहे चैवं सा मेने जनताखिला ॥११॥

अन्वयार्थ–(अतः) और इसलिए तब तक (प्रत्यहं) प्रतिदिन (प्रतिसद्मतः) प्रत्येक घर से (एक-मानवः) एक मनुष्य (वस्तुं) बसने के लिए (अस्याः गृहे) इसके घर में (यातु) प्राप्त हो/लाया जाये (सा) वह सूचना/आज्ञा (अखिला जनता) सभी जनता ने (मेने) मानी।

अथान्येद्युः समागत्य नापितेनेति भाषिता।
कुमार-सन्निधौ वृद्धा तवाद्याजनि वारकः[4] ॥१२॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (अन्येद्युः) अन्य समय (कुमार-सन्निधौ वृद्धा) कुमार के पास में बैठी हुई वृद्धा (नापितेन) नाई के द्वारा (समागत्य) आकर (इति भाषिता) इस प्रकार बोली गई अर्थात् नाई ने वृद्धा से इस प्रकार कहा (अद्य) आज (तव) तुम्हारा (वारकः) बारी/अवसर (आजनि) आया है।

विरक्त हैरान/परेशान हो चुके थे ॥८॥ एक सुन्दर उच्चमहल बनवाकर उसे अलग ही रख छोड़ा था, राजा द्वारा सभी पुरवासियों को सूचित कर दिया गया कि कोई भी इसे नीरोग कर मेरे गौरव का पात्र बने ॥९॥ हे पुरजनों! मेरे पूर्व जन्म के पाप से एक पुत्री उत्पन्न हुई है और वह भयानक रोग से आक्रांत है, इसलिए जब तक कोई उपयुक्त वैद्य को बुलाता हूँ ॥१०॥ तब तक प्रतिदिन प्रत्येक घर से एक मनुष्य श्रीमति राजकुमारी के महल में रहने के लिए भेजा जाये, यह सूचना सभी जनता ने मानी ॥११॥ इसी नियम के अनुसार जिस समय जिनदत्त वृद्धा के पास बैठे थे, उसी समय एक नाई आया और वृद्धा को लक्ष्य कर कहा वृद्धे! राजाज्ञानुसार तुम्हारे पुत्र की आज बारी है। उसे यथासमय तुम राजपुत्री के घर भेज देना ॥१२॥

---

१. वैद्यम् जनम्। २. प्रतिसद्मतते। ३. वसति कर्त्तुम्। ४. अवसरः।

सा निशम्य वचस्तस्य रुरोद करुणं तथा।
वयसां[१] शल्यितं चेतो यथाङ्गणकणादिनाम्[२] ॥१३॥

अन्वयार्थ—(तथा) और (सा) वह वृद्धा (तस्य) उस नाई के (वचः) वचनों को (निशम्य) सुनकर (करुणं) करुणापूर्वक (रुरोद) रोने लगी (यथाङ्गण-कणादिनाम्) जैसे आंगन के कणों का भक्षण करने वाले (वयसां) पक्षियों का (शल्यितं) कील से बेधित (चेतः) चित्त हो।

हे धातर्भर्तृशून्याहं हताशा दुःखपूरिता।
सन्दर्शनेन जीवामि सुतवक्त्रस्य केवलम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(हे धातः) हे विधाता! (अहं) मैं (भर्तृशून्या) पति से विहीन (हताशा) हत भागिनी (दुःख-पूरिता) दुःख से भरी (केवलं) सिर्फ (सुत-वक्त्रस्य) पुत्र के मुख के (सन्दर्शनेन) देखने से ही (जीवामि) जीवित हूँ।

सहते न तदप्येष विधाता विदधे किमु।
इत्यादि विलपन्ती सा तेनावाचि महात्मना ॥१५॥

अन्वयार्थ—(तदपि) तो भी (विधाता) ब्रह्मा (न सहते) सहन नहीं करता (एषः) यह भाग्य ने (किमु) क्या (विदधे) किया (इत्यादि विलपन्ती) इत्यादि प्रकार से विलाप करती हुई (सा) वह वृद्धा (तेन) उस (महात्मना) महान् आत्मा/उत्तमात्मा जिनदत्त के द्वारा (अवाचि) कही गई अर्थात् जिनदत्त ने उस वृद्धा से कहा।

समग्र-दुःख-सम्भार - लीला-लुण्टन-लम्पटे[३] ।
मातर्मय्यपि सत्येवं पुत्रे किमिति रोदिषि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(मातः) हे माता! (समग्र-दुःख-सम्भार-लीला-लुण्टन-लम्पटे) सम्पूर्ण दुख के अतिभार की लीला को लूटने में आसक्त (एवं) इस प्रकार (मयि) मुझ जैसे (पुत्रे सति अपि) पुत्र के होने पर भी तुम (किं) क्यों (इति) इस तरह (रोदिषि) रोती हो?

और वह वृद्धा उसके वचन को सुनकर करुणापूर्वक रोने लगी जैसे आंगन के कणों का भक्षण करने वाले पक्षियों का कील से बेधित चित्त हो ॥१३॥

हे भगवन्! मैं पति विहीन हूँ, मेरी आशाएँ निराशा में परिणत हो चुकी हैं, दुःख से पीड़ित हूँ, तो भी केवल पुत्र का मुख देखने मात्र से जीवित हूँ ॥१४॥

इस समय कुटिल भाग्य ने उस पुत्र के साथ भी यह क्या स्वांग रचा है, आज वह भी काल कवलित हो जायेगा। इस प्रकार करुणाजनक रुदन सुनकर वह महामना कुमार इसका कारण पूछने लगा ॥१५॥

वह बोला—हे माता! मैं तुम्हारे समस्त दुःखों को नष्ट करने में समर्थ हूँ, मेरे रहते हुए अपने पुत्र के लिए क्यों इस प्रकार विलाप करती हो? ॥१६॥

---

१. पक्षिणां। २. पृथ्वीकणभक्षकाणां। ३. नाशन।

अहं तत्र गमिष्यामि त्वं तिष्ठ सुखिताम्बिके[1] ।
तयाभाणि युवां पुत्र वाम-दक्षिण-चक्षुषी ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अम्बिके) हे माँ! (अहं) मैं (तत्र) वहाँ (गमिष्यामि) जाऊँगा (त्वं) तुम (सुखिता) सुखपूर्वक (तिष्ठ) रहो (तया) उस वृद्धा ने (अभाणि) कहा (युवां) तुम दोनों मेरी (वाम-दक्षिण- चक्षुषी) बाईं व दाईं आंख हो ।

तत्कस्य सह्यतां नाशः किञ्च कामाकृतिर्भवान् ।
कुलकेतुर्महासत्त्वो मत्प्राणैरपि जीवतु ॥१८॥

अन्वयार्थ—(किञ्च) और तुम दोनों में से (तत्) उस (कस्य) किसका (नाशः) विनाश (सह्यतां) सहन किया जाये (भवान्) आप (कामाकृतिः) कामदेव के सदृश शरीरधारी (कुलकेतुः) कुल के लिए ध्वजारूप (महासत्वः) महान् शक्तिशाली (मत्प्राणैः अपि) मेरे प्राणों के द्वारा भी (जीवतु) जीवित रहो ।

चिन्तितं च कुमारेण जातेनापि हितेन किम् ।
येनापत्कर्दमे मग्ना नोद्धृताः प्राणधारिणः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(च) और (कुमारेण) जिनदत्त कुमार ने (चिन्तितं) विचार किया (हि) कि निश्चित ही (तेन जातेन अपि) उसके जन्म लेने से भी (किं) क्या मतलब है (येन) जिसके द्वारा (आपत्कर्दमे) आपत्तिरूपी कीचड़में (मग्नाः) फँसे हुए (प्राणधारिणः) प्राणधारी जीव (न) नहीं (उद्धृता) उद्धार/निकाले जाते ।

स्वफलैः प्रीणयन्त्येव[2] पान्थसार्थान् द्रुमा अपि ।
यत्र तत्रोपकाराय यतनीयं न किं नृभिः[3] ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ (द्रुमाः) वृक्ष (अपि) भी (स्वफलैः) अपने फलों द्वारा (पान्थ-सार्थान्) राहगीरों को (एव) नियम से (प्रीणयन्ति) प्रसन्न/उपकृत करते हैं (तत्र) वहाँ (किं) क्या (नृभिः)

हे माता! उसे तुम मत भेजो। उसके भेजने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं ही वहाँ चला जाऊँगा और राजाज्ञा का पालन करने वाली तुझे बनाऊँगा। जिनदत्त के ये परोपकार परिपूर्ण वचन जब उस बुढ़िया ने सुने, तब वह बोली—बेटा! वह और तुम दोनों ही मेरे पुत्र हो। जिस प्रकार मनुष्य की दाईं और बाईं दोनों आँखें प्रिय होती हैं। उसी प्रकार मुझे तुम दोनों ही बराबर प्रिय हो ॥१७॥

मैं तुममें से किसका नाश चाह सकती हूँ बल्कि तुममें ये विशेषताएँ हैं कि तुम मेरे पुत्र से अधिक कामदेव के समान सुंदर व महागुणी कुल के भूषण हो, इसलिए तुम्हें तो अपने प्राण गंवा कर भी मुझे जिलाना इष्ट है ॥१८॥

संसार में उसी पुरुष का जन्म लेना सार्थक है। वही वास्तव में मनुष्य पर्याय का श्रेष्ठफल प्राप्त करता है, जो कि विपत्तियों से विपन्न लोगों का उद्धार कर उन्हें सुख से संपन्न कर देता है ॥१९॥

मार्गचारी पथिकों को अपने मधुर-रसीले फल प्रदान कर वृक्षगण भी उन्हें संतुष्ट करते हैं तो

---

१. मातः २. प्रसन्नयन्ति। ३. मनुष्यैः।

मनुष्यों द्वारा (उपकाराय) उपकार के लिए (न यतनीयं) प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

प्राणनाशेऽपि कर्त्तव्यं परेभ्यः सुधिया हितम्।
आशाः सुगन्धयत्येव दह्यमानोऽपि चन्दनः ॥२१॥

अन्वयार्थ–(सुधिया) श्रेष्ठ बुद्धिमान द्वारा (प्राणनाशे अपि) प्राणनाश होने पर भी (परेभ्यः) दूसरों का (हितं) भला (कर्त्तव्यं) करना चाहिए (दह्यमानः) जलता हुआ (अपि) भी (चन्दनः) चन्दन (आशाः) दिशाओं को (सुगन्धयति एव) सुगन्धित ही करता है।

स्ववाचा प्रतिपन्ना च जरतीयं मयाम्बिका।
उपेक्षितुं न युक्तातः सदुःखा सुतजीविता ॥२२॥

अन्वयार्थ–(च) और (स्ववाचा) अपने वचन से (मया) मेरे द्वारा (प्रतिपन्ना) आश्वासन को प्राप्त हुई है (अतः) इसलिए (सदुःखा) दुख से सहित (सुतजीविता) पुत्र से जीवित (इयं) यह (जरती) बेचारी (अम्बिका) माता (उपेक्षितुं) उपेक्षा के (युक्तं न) योग्य नहीं है।

इत्यालोच्योपरोधेन महता जननी तदा।
भणितः तेन सावादीन्-महासत्त्वैवमस्त्विति ॥२३॥

अन्वयार्थ–(इत्यालोच्य) इस प्रकार विचार कर (तेन) उस जिनदत्त ने (महता) अत्यधिक (उपरोधेन) आग्रहपूर्वक (भणितः) कहा (तदा) तब (सा) वह (जननी) माता (अवादीत्) बोली (महासत्व) हे बलशालिन्! (इति) इस प्रकार (एवं अस्तु) ऐसा ही हो।

ततः स्नातोऽनुलिप्तश्च सर्वाभरणभूषितः।
पुष्प-ताम्बूल-सद्गन्ध - दिव्य-वस्त्रविराजितः ॥२४॥
वसुनन्द-कृपाणाभ्यां भ्राजमान-भुजद्वयः।
विद्याधर-कुमारो वा[1] प्रतस्थे राज -वर्त्मना ॥२५॥ (युग्मं)

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद वह (स्नातः) स्नान किया हुआ (च) और (अनुलिप्तः) विलेपन से

क्या मनुष्यों के द्वारा मनुष्य का उपकार नहीं किया जाये? अवश्य ही करना चाहिए ॥२०॥ परोपकार की दीक्षा से दीक्षित हो यदि उसके पालने में प्राण तक भी चले जायें, तो कोई डर नहीं, उसे भंग न होने देना चाहिए। चंदन में यह एक आश्चर्यजनक गुण है, वह स्वयं जलकर भी दिशाओं को सुगंधित कर देता है और अपने परोपकारित्व का ज्वलंत उदाहरण लोगों को देकर भस्म हो जाता है ॥२१॥ जो मैं पहले वृद्धा को वचन दे चुका हूँ, उसके दुःख दूर करने की अटल प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। उससे मुझे कभी विचलित न होना चाहिए। अवश्य ही इस दुःखिनी वृद्धा का दुख दूर कर देना, मेरा परम-कर्त्तव्य है ॥२२॥ इस प्रकार तर्कणा कर उसने स्वयं जाने का आग्रह किया, तब उस वृद्धा माँ ने बहुत कुछ रोकने की चेष्टा की किन्तु उसको दृढ़ निश्चयी देख उसे कहना पड़ा कि हे महाबलवान! ऐसा ही हो ॥२३॥ बुढ़िया माता की सम्मति पाकर जिनदत्त ने स्नान किया, सुगंधित द्रव्य से शरीर का लेप किया, समस्त आभूषण पहने और पुष्प,

१. अत्र "वा" शब्द इवार्थे।

युक्त (सर्वाभरणभूषितः) संपूर्ण आभूषणों से विभूषित (पुष्पताम्बूलसद्गन्धदिव्य-वस्त्रविराजितः) फूल, पान, सुगंध, मनोहर वस्त्रों से सुशोभित होता हुआ (वसुनन्दकृपाणाभ्यां) वसुनन्द/बाजूबन्द और कृपाण/ तलवार के द्वारा (भ्राजमानभुजद्वयः) सुशोभित है दोनों भुजाएँ जिसकी ऐसे उस जिनदत्त ने (विद्याधरकुमारः वा) विधाधर कुमार के समान (राजवर्त्मना) राजमार्ग से (प्रतस्थे) प्रस्थान किया।

कौतुकाक्षिप्तचेतोभि - र्ददृशे सकलैर्जनैः।
प्रासाद-शिखरारूढ-नारीभिश्च यथा स्मरः ॥२६॥

अन्वयार्थ–(सकलैः जनैः) संपूर्ण मनुष्यों के द्वारा (च) और (प्रासादशिखरारूढ़नारीभिः) महलों के शिखरों पर आरोहित नारियों के द्वारा (कौतुकाक्षिप्त-चेतोभिः) कौतूहल में डाले गए हृदयों से (स्मरः यथा) कामदेव जैसा (ददृशे) देखा गया।

राज्ञाप्यमुं समालोक्या - प्राकृताकारधारिणम्।
पार्श्वस्थाः गदिताः कोऽयं क्व चायाति महाद्युतिः ॥२७॥

अन्वयार्थ–(राज्ञा अपि) राजा ने भी (अप्राकृताकारधारिणम्) अस्वाभाभिक/विशेष वेशभूषा को धारण करने वाले (अमुम्) इस जिनदत्त को (समालोक्य) देखकर (पार्श्वस्थाः) बगल में बैठे हुए मनुष्यों से (गदिताः) कहा (अयं) यह (महाद्युतिः) महाकान्ति वाला (कः) कौन है (च) और (क्व) कहाँ से (आयाति) आया है ?

कुमार्याः सदने वस्तु-मिति तैः समुदीरितम्।
निशम्य स्वं शुशोचासौ धिगस्तु मम जीवितम् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(तैः) पास में बैठे मनुष्यों ने (समुदीरितं) विनयपूर्वक कहा (कुमार्याः) राजकुमारी के (सदने) महल में (वस्तुं इति) बसने/रहने के लिए आया है (असौ) उस राजा ने (इति) इस प्रकार (स्वं) स्वयं (निशम्य) सुनकर (शुशोच) सोचा (मम) मेरे (जीवितं) जीवन को (धिगस्तु) धिक्कार हो।

तनुजाव्याजतः सेयं काल-रात्रिर्गृहे मम।
अजनिष्ट जगच्छ्रेष्ट - नर-रत्न-विनाशिनी ॥२९॥

अन्वयार्थ–(सा) वह (इयं) यह (मम) मेरे (गृहे) घर में (तनुजा-व्याजतः) पुत्री के बहाने से

पान/ताम्बूल, दिव्यवस्त्र, गंध आदि से सन्नद्ध हो चलने की तैयारियाँ करने लगे। चलते समय साथ में इन्होंने शस्त्र लेना भी योग्य समझा/वसुनंद और कृपाण इन दो शस्त्रों को दोनों हाथ में ले राजपुत्री के महल की ओर चल दिए ॥२४,२५॥ वीर वेश में सज-धज कर राजमार्ग से जाते हुए युवा जिनदत्त को संपूर्ण मनुष्यों के द्वारा और महलों के शिखरों पर आरोहित नारियों के द्वारा कामदेव के समान देखा गया ॥२६॥ राजा ने भी अस्वाभाभिक वेशभूषा को धारण करने वाले इस जिनदत्त को देखकर बगल में बैठे हुए मनुष्यों से कहा–यह महाकान्ति वाला कौन है और कहाँ से आया है ? ॥२७॥ निकटस्थ जन समूह ने राजा से कहा, हे नृपतिवर ! यह आपकी राजकुमारी के सदन में जाने के लिए आया है यह सुनते ही स्वयं राजा विचारने लगा कि मेरे जीवन को धिक्कार हो ॥२८॥

हाय ! मुझ सरीखे नीच-पापी-पुरुषों का जीना इस संसार में बड़ा ही निकृष्ट है। मैं राजा नहीं

(जगच्छ्रेष्टनर-रत्नविनाशिनी) संसार के श्रेष्ठ मनुष्यरूपी रत्नों को नष्ट करने वाली (काल-रात्रिः) यमरात्रि के समान (अजनिष्ट) उत्पन्न हुई है ।

अहो ! प्रकृतिचापल्य - मीदृशं मानुषायुषः ।
येनैषोपि महावीरो रात्रावेव विनंक्ष्यति ।।३०।।

अन्वयार्थ–(अहो !) आश्चर्य है ! (मानुषायुषः) मनुष्यों की आयु की (प्रकृति चापल्यं) स्वाभाविक की चपलता (ईदृशं) इस तरह की है कि (येन) जिसके द्वारा (एषः) यह (महावीरः अपि) महान् वीर भी (रात्रौ एव) रात्रि में ही (विनंक्ष्यति) विनष्ट हो जायेगा ।

अहो श्लाघ्यं कथं राज्यं मादृशां पाप-कर्मणाम् ।
ईदृशामपराधेन विना यत्र विनाशनम् ।।३१।।

अन्वयार्थ–(अहो) आश्चर्य है ! (मादृशां) मुझ जैसे (पापकर्मणाम्) पाप कर्मों को करने वाले मनुष्यों या राजाओं का (राज्यं) राज्य (कथं) कैसे (श्लाघ्यं) प्रशंसनीय है ? (यत्र) जहां पर (अपराधेन विना) अपराध के बिना (ईदृशम्) इस जैसे मनुष्यों का (विनाशनम्) विनाश होता है ।

रक्षात्मानं महाभाग निज-माहात्म्य-योगतः ।
त्वादृशो हि महासत्त्वो दुर्ल्लभो भुवने यतः ।।३२।।

अन्वयार्थ–(महाभाग) हे महाभाग्य ! (निज-माहात्म्ययोगतः) अपनी महिमा के योग से (आत्मानं) स्वयं को (हि) निश्चित ही (रक्ष) सुरक्षित करो (यतः) क्योंकि (भुवने) लोक में (त्वादृशः) तुम्हारे जैसा (महासत्वः) महाशक्तिशाली (दुर्लभः) दुर्लभ है ।

इत्थं सम्भावितो राज्ञा दृष्टिगोचरमाप सः ।
कुमारीभवनं भव्यो भूतसंघातभीतिदम् ।।३३।।

अन्वयार्थ–(राज्ञा) राजा के द्वारा (इत्थं) इस प्रकार (सम्भावितः) सम्यग्भाव से युक्त/विचारित (सः) वह (भव्यः) भव्य जिनदत्त (भूत-संघात-भीतिदम्) प्राणी समूह को भय उत्पन्न करने वाले (दृष्टिगोचरं) दृष्टि के विषयभूत (कुमारीभवनं) राजकुमारी के महल को (आप) प्राप्त हुआ ।

कषायी हूँ, मैंने अपनी पुत्री के छल से इस जगह कालरात्रि बनवा रखी है । हा ! इसमें आकर प्रतिदिन संसार के श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुरुष अपना जीवन सर्वस्व खो देते हैं ।।२९।। अरे ! यह मनुष्य पर्याय बड़ी ही चंचल है । इसकी आयु बहुत ही कम है । देखो इस समय सबके मन को मोहने वाला यह युवा जो दिख रहा है, वह ही आज रात्रि में काल के गाल में पहुँचकर सर्वदा के लिए आंखों से ओझल हो जायेगा ।।३०।। राज्य की लोग प्रशंसा करते हैं परन्तु मुझ सरीखे पापकर्मियों के लिए वह सर्वथा निदंनीय है। मैं बड़ा ही अन्यायी हूँ, अपराध होने पर दंड देना लोगों को उचित है परन्तु मैं बिना ही अपराध के प्रतिदिन एक मनुष्य को काल के गाल में पहुँचा देता हूँ ।।३१।। अयि महाभाग ! तू अपनी आकृति से कोई विशेष पुण्यशाली मालूम पड़ रहा है । तू अपने ही प्रभाव से अपनी रक्षा करना । तुझ सरीखे संसार में बहुत कम मनुष्य पाए जाते हैं ।।३२।। राजा के इस प्रकार विचार करने पर, इतने में ही उस भव्य जिनदत्त ने प्राणी समूह को भय उत्पन्न करने वाले कुमारी के महल

आरुरोहततस्तत्र प्रथमां भूमिमुन्नताम् ।
आलुलोके च तत्रासौ दिक्चतुष्कं शनैः शनैः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (तत्र) वहाँ पर (उन्नताम्) ऊँची (प्रथमां भूमिम्) पहली भूमि पर (आरुरोह) चढ़े (च) और (तत्र) वहाँ पर (असौ) उसने (शनैः-शनैः) धीरे-धीरे (दिक्चतुष्कं) चारों दिशाओं का (आलुलोके) निरीक्षण किया ।

द्वितीयस्या-मसौ दृष्टा चारु-पल्यङ्क-सङ्गता ।
सविकासविषादिभ्यां दृग्भ्यां द्वारावलोकिनी ॥३५॥

अन्वयार्थ—(असौ) उस जिनदत्त ने (द्वितीयस्याम्) दूसरी मंजिल पर (चारु-पल्यङ्क-सङ्गता) सुंदर पलंग पर बैठी हुई (सविकास-विषादिभ्यां) हर्ष और विषाद से युक्त (दृग्भ्यां) नेत्रों से (द्वारावलोकिनी) दरवाजे की ओर देखने वाली राजकुमारी को (दृष्टा) देखा ।

तत्रालोक्य दिशः सर्वास्तदासन्ने व्यवस्थितः ।
स तल्पेऽनल्पकल्याण-भाजनस्थामुवाच सः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ पर (सः) उस जिनदत्त ने (सर्वाः दिशः) सभी दिशाओं और (अनल्प-कल्याण-भाजनस्थां) अनेक कल्याणों की पात्ररूप उस राजकुमारी को (आलोक्य) देखकर (तदासन्ने तल्पे) उसके पास वाली शय्या पर (व्यवस्थितः) बैठता हुआ/विशेषरूप से स्थित होता हुआ (सः) वह जिनदत्त उससे (उवाच) बोला ।

सापि संभाषणात्तस्या[१]-मंस्तात्मानं मृगेक्षणा ।
कृतकृत्यमिवात्मानं हृष्टः सोऽपि तदीक्षणात् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(सा) उस (मृगेक्षणा अपि) मृगनयनी ने भी (संभाषणात्) संभाषण से (तस्य) उस जिनदत्त को (आत्मानं) अभिन्न आत्मीय-जनरूप (अमंस्त) माना (सः अपि) वह जिनदत्त भी (तदीक्षणात्) उसके देखने से (हृष्टः) हर्षित होता हुआ (आत्मानं) अपने आप को (कृतकृत्यं इव) कृतार्थ के समान मानने लगा ।

को देखा ॥३३॥ उसी समय वह प्रासाद के उन्नत प्रथम भाग में प्रविष्ट हुआ और वहाँ पर उसने धीरे-धीरे चारों दिशाओं का निरीक्षण किया ॥३४॥

वे उसकी दूसरी मंजिल पर चढ़े और वहाँ सुंदर सेज पर बैठी हुई एक कुमारी को देखा । यह कुमारी उत्सुक खेद-खिन्न चित्तवाली थी । इसके नेत्र विस्तृत किन्तु विषाद युक्त थे और द्वार की तरफ किसी के आगमन की आशा कर देख रही थी ॥३५॥

कुमार ने जब इसे देखा तो उन्होंने आकृति से इसे राजपुत्री समझा और इसलिए इसके पास की शय्या पर बैठकर बातचीत करने लगा ॥३६॥

उस मृगनयनी ने भी बातचीत से उस जिनदत्त को, अभिन्न आत्मीय जनरूप माना । वह जिनदत्त भी उसके देखने से हर्षित होता हुआ, अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥३७॥

---

१. अमन्यत ।

ताम्बूलादिकमादाय तया दत्तं विचक्षणः ।
पृष्टः प्रारब्धवानेष कथां कर्णसुधास्पदाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(तया) तब उस कन्या ने (ताम्बूलादिकं) पान आदि को (आदाय) लेकर (दत्तं) उसको दिया और (एषः) यह चतुर जिनदत्त (विचक्षणः पृष्टः) पूछा गया अर्थात् उस कन्या ने जिनदत्त से पूछा तथा (कर्णसुधास्पदां) कानों को अमृत स्थानीय अर्थात् अमृत के समान कोई (कथां) कथा को (प्रारब्धवान्) प्रारंभ किया ।

यावत्तस्याः समायाता निद्रा मुद्रितचेतसः ।
हुङ्कारस्य विरामेण सुप्तां ज्ञात्वोत्थितश्च सः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक (मुद्रित-चेतसः) रुकी हुई चित्तवृत्ति वाली (तस्याः) उसको (निद्रा) नींद (समायाता) आ जाती है (च) और तब (हुँकारस्य) हुँ-हुँ करने के (विरामेण) विराम से, उसे (सुप्तं) सोई हुई (ज्ञात्वा) जानकर (सः) वह जिनदत्त (उत्थितः) उठता है ।

चिन्तितं च किमत्राहो मरणे कारणं नृणाम् ।
किमेषा पूतना प्रायः किं वा रक्षोविजृम्भितम् ॥४०॥

अन्यद्वास्तु यथाकाम-मप्रमत्तो भवाम्यहम् ।
जागरूको न यो लोके तस्करैर्मुष्यते ध्रुवम् ॥४१॥ (युग्मं)

अन्वयार्थ—(च) और उसने (चिन्तितं) विचार किया (अत्र) यहाँ पर (अहो) आश्चर्य है ! (नृणां) मनुष्यों के (मरणे) मरण में (किं कारणं) क्या कारण है (किं एषा) क्या यह (पूतना प्रायः) पूतना की बाधा है (वा) अथवा (किं) क्या (रक्षोविजृम्भितं) राक्षस की चेष्टा है (वा) अथवा (अन्यत्) अन्य कोई दूसरा कारण (अस्तु) हो (अहं) मैं तो भी (यथाकामं) इच्छानुसार (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित/सावधान (भवामि) होता हूँ (यः) जो (लोके) लोक में (जागरुकः) सावधान (न) नहीं है (ध्रुवं) निश्चित ही वह (तस्करैः) चोरों द्वारा (मुष्यते) लूटा लिया जाता है ।

राजकुमारी ने जब इन्हें चतुर और मनोहर पाया, तो तांबूल आदि से इनका आदर-सत्कार किया और रात्रि बिताने की इच्छा से कथा पूछी, कुमार ने राजकुमारी के प्रश्नानुसार सुनने में मनोहारी कथा कहना प्रारंभ किया ॥३८॥

अधिक रात्रि हो जाने से कथा सुनते-सुनते जब राजपुत्री सो गई और हुँकार देना बंद कर दिया तो जिनदत्त अपने आसन से उठे ॥३९॥

एवं न जाने क्या कारण है ? जो इसके समीप सोने से मनुष्य काल के गाल में फँस जाते हैं ? क्या यह पूतना या किसी राक्षस का काम है ? तथा और कोई भी कारण हो, अब मुझे शीघ्र सावधान हो जाना चाहिए । प्रमाद त्याग कर सजग रहना होगा, क्योंकि जो जागरूक नहीं रहते उन्हें चोर-डाकू निश्चित रूप से ठग लेते हैं ॥४०,४१॥

इत्यालोच्य समानीय मृतकं पृष्ठभूमितः।
आरोप्य शयनीये च प्रच्छाद्य वरवाससा ॥४२॥
प्रदीपच्छायया तस्थौ स्तम्भान्तरितविग्रहः।
उत्खातधौतखड्गोसौ[1] दत्तदृष्टिरितस्ततः ॥४३॥
यावत्तावन्मुखे तस्या जिह्वाद्वितयमुद्गतम्।
कम्पमानं ज्वलद्वह्नि - शिखाभं भयदायकम् ॥४४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस तरह (आलोच्य) विचार कर (पृष्ट-भूमितः) महल के पीछे की भूमि से (मृतकं) मुर्दे को (समानीय) सम्यक् रीति से लाकर (शयनीये) शय्या पर (आरोप्य) आरोपित कर (च) और (वरवाससा) श्रेष्ठ वस्त्र से (प्रच्छाद्य) ढांककर (ततः) उसके बाद (प्रदीपच्छायया) दीपक की छाया द्वारा (स्तम्भान्तरित-विग्रहः) खम्बे से शरीर को छिपाने वाला और (उत्खात-धौतखड्गः) निकाली हुई चमकीली/स्वच्छ तलवार वाला तथा (इतः ततः) इधर-उधर (दत्तदृष्टिः) दृष्टि को देने वाला (असौ) वह जिनदत्त (यावत्) जब तक (तस्थौ) स्थित होता है (तावत्) तब तक (तस्याः मुखे) उसके मुख में (कम्पमानं) काँपती हुईं (ज्वलद्वह्नि-शिखाभं) जलती हुई अग्नि शिखा के समान (भयदायकं) भय को देने वाली (जिह्वा-द्वितयं) दो जीभें (उद्गतं) प्रकट हुईं।

तदालोक्य स्मितं तेन मनाग्विदित-हेतुना।
निर्जगाम ततो मन्दं वदनादुद्भटा फणा ॥४५॥

अन्वयार्थ—(तत् आलोक्य) उसको देखकर (विदित-हेतुना) जाना है कारण को जिसने ऐसे (तेन) उस जिनदत्त ने (मनाक्) थोड़ा (स्मितं) मुस्कराया/हँसा (ततः) तत्पश्चात् उसी क्षण (वदनात्) मुख से (मन्दं) धीरे-धीरे (उद्भटा फणा) बड़ा फन (निर्जगाम) निकला।

क्रमेण च ततः काले कालदण्ड इवापरः।
निश्चक्राम महाभोगो गुञ्जाक्षो भीष(क्ष)णः फणी ॥४६॥

अन्वयार्थ—(ततः काले) उस समय (अपरः) दूसरे (कालदण्डः) यम के दण्ड के (इव) समान (क्रमेण) क्रम से (महाभोगः) विशाल फणधारी (भीक्षणः) प्रतिक्षण (गुञ्जाक्षः) गुमची के

यह विचार कर महल के पीछे की भूमि पर गए और वहाँ से एक मुर्दे को उठाकर ले आए और अपनी शय्या पर ढककर सुला दिया ॥४२॥ तथा स्वयं दीपक की छाया में खम्भे से छिपकर हाथ में तलवार ले, सावधान हो ठहर गया। जिनदत्त इस प्रकार चारों तरफ दृष्टि दौड़ा-दौड़ाकर देख रहे थे ॥४३॥ कि थोड़ी देर बाद राजपुत्री के मुख से एक साथ निकलतीं हुईं, दो जीभें दिखलाई दीं। ये जीभें जलती हुई अग्नि के समान जाज्वल्यमान थीं इधर-उधर लहरा रही थीं और देखने वाले को भय करने वाली थीं ॥४४॥ ज्यों हि इन दोनों को कुमार ने देखा त्यों हि अपनी शंका का समाधान होते देख वे मुस्कराए और उत्सुकतापूर्वक सावधानी से उसे देखने लगे, उन दोनों जीभों के बाद एक फण निकला ॥४५॥ उस समय दूसरे यम-दण्ड के समान क्रम से विशाल फणधारी गुमची के समान

---

१. स्वच्छखड्गः।

समान लाल नेत्र वाला (भीषणः) भयंकर (फणी) सर्प (निश्चक्राम) निकला ।

तत्तल्पतः समुत्तीर्य समारुह्यापरे शनैः ।
दशतिस्म शिरोदेशे यावत्तत्र स्थितं शवम् ॥४७॥

अन्वयार्थ–(तत्तल्पतः) उसकी शय्या से (समुत्तीर्य) उतरकर (शनैः) धीरे-धीरे (अपरे) दूसरी शय्या पर (समारुह्य) चढ़कर (यावत्) जब तक (तत्र स्थितं) वहाँ स्थित (शवं) शव को (शिरोदेशे) मस्तक प्रदेश में (दशतिस्म) काटता है ।

तावदागत्य वेगेन निहतोऽहिर्दयोज्झितः(तं)[1] ।
तथा यथा पपातासा-वष्टखण्डो महीतले ॥४८॥

अन्वयार्थ–(तावत्) तब तक निर्भय जिनदत्त ने (वेगेन) शीघ्रता से (आगत्य) आकर (यथा) जैसे (दयोज्झितः) दया से रहित (अहिः) साँप (निहतः) पटका/भगाया (तथा) वैसे ही (असौ) वह (अष्टखण्डः) आठ खण्ड वाला (महीतले) भूतल पर (पपात) गिरा ।

भूषाकरण्डिकामध्य-वर्तिनं[2] तं विधाय सः ।
अपनीय शवं कोशस्-थापितासिः सुखस्थितः ॥४९॥

अन्वयार्थ–(सः) उसने (तं) उसको (भूषाकरण्डिका-मध्यवर्तिनं) आभूषणों की पेटी के मध्य में स्थित (विधाय) करके (शवं) मुर्दे को (अपनीय) अलग कर (असिः) तलवार भी (कोशस्थापिता) म्यान में रख ली और (सुखस्थितः) सुखपूर्वक स्थित हो गया ।

कन्यकापि गते व्याधौ सुखिताभूत्कृशोदरी ।
सुष्वाप च समुद्भूत - निराकुलतनुस्तदा ॥५०॥

अन्वयार्थ–(तदा) उस समय (व्याधौ गते) व्याधि [शारीरिक पीड़ा] के चले जाने पर (कन्यका अपि) वह कन्या भी (सुखिता) सुख से सहित (अभूत्) हो गई (च) और (समुद्भूतनिराकुलतनुः) अच्छी तरह से उत्पन्न हुई निराकुलता से युक्त शरीर वाली (कृशोदरी) वह बाला (सुष्वाप) सो गई ।

लाल नेत्र वाला भयंकर सर्प निकला ॥४६॥

समस्त शरीर निकल आने के बाद वह सर्प कुमारी की शय्या पर से उतरकर धीरे-धीरे पास की शय्या पर गया और वहाँ पड़े हुए मुर्दे को अपने तीक्ष्ण दाँतों से काटने लगा ॥४७॥

दया रहित सर्प के इस व्यापार से चकित हो जिनदत्त शीघ्र ही उसके पास आए और अपने हाथ की तलवार से उसको पटका/भगाया जिससे भूतल पर गिरते ही उसके आठ टुकड़े हो गये ॥४८॥

इसके बाद कुमार ने कुमारी की जो पेटी थी उसमें तो उन साँप के टुकड़ों को रख दिया । मुर्दे को दूर हटा अपनी तलवार म्यान में बंद कर ली और स्वयं सुखपूर्वक स्थित हो निश्चिंत हो गये ॥४९॥

व्याधि विहीन कन्या भी सुख निद्रा में निमग्न हो गई । वह कृशोदरी आनन्द से सोती रही क्योंकि वेदना का शमन हो चुका था ॥५०॥

---

१. दयोज्झितं २. आभरणपेटिका ।

प्रबुद्धाथ ततः प्रातः पवनेन धुतांशुका[1] ।
नीलाब्ज-रेणु-गर्भेण रत-क्लम-मुषा स्त्रियाम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(अथ ततः) अथानन्तर (नीलाब्जरेणुगर्भेण) नीलकमलों की पराग से गर्भित/मिश्रित (स्त्रियाम् रतक्लम-मुषा) स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के खेद को हरने वाली (प्रातः पवनेन) उषाकालीन वायु से (धुतांशुका) कम्पित वस्त्र वाली वह बाला (प्रबुद्धा) प्रबोध को प्राप्त हुई/जाग गई ।

उत्थिता चिन्तयामास किमिदं ननु कारणम् ।
सुखितानि ममाङ्गानि येनाभूदुदरं लघु ॥५२॥

अन्वयार्थ–(उत्थिता) जाग्रत हुई उसने (चिन्तयामास) विचार किया कि (ननु इदं) निश्चित ही यह (किं कारणं) क्या कारण है (येन) जिससे (मम) मेरा (उदरं) पेट (लघु) हल्का (अभूत्) हो गया और (अङ्गानि) सभी अङ्ग (सुखितानि) सुखी हो गए ।

उत्साहः कोऽपि सम्पन्नो गतो व्याधिर्दुरन्तकः ।
दुःखान्त-दायको नून - मयञ्चात्र महाद्‌भुतः ॥५३॥

अन्वयार्थ–(दुरन्तकः) दुखदायक (व्याधिः) बीमारी (नूनं) निश्चित ही (गतः) चली गई (अत्र) इस विषय में (अयं) यह कुमार ही (दुःखान्तदायकः) दुख के अन्त को देने वाला है (च) और (महाद्‌भुतः) महान् अद्‌भुत (कोपि) कोई (उत्साहः) उत्साह (सम्पन्नः) उत्पन्न हुआ ।

सत्येव नृत्वसामान्ये केचिदेवंविधा भुवि ।
परोपकारिणः सन्ति ग्रहाणां भानुमानिव ॥५४॥

अन्वयार्थ–(नृत्व-सामान्ये) मनुष्यपना सामान्य होने पर भी (भुवि) पृथ्वी पर (ग्रहाणां) ग्रहों में (भानुमान् इव) सूर्य के समान (केचित्) कोई (एवंविधाः) इस प्रकार के (परोपकारिणः) परोपकारी (सन्ति) होते हैं ।

अथानन्तर नीलकमलों की पराग से मिश्रित स्त्रियों की रतिक्रीड़ा के खेद को हरने वाली प्रातःकालीन वायु से कम्पित वस्त्र वाली वह बाला जाग गई ॥५१॥

उसी समय राजकुमारी की निद्रा भंग हुई, आज उसे तन्द्रा नहीं थी अपितु स्फूर्ति थी, वह विचारने लगी क्या कारण है कि मेरे समस्त अङ्गों में सुख का संचार हो रहा है, उदर भी हल्का हो, पतला हो गया ॥५२॥

मेरी दुःखदायक बीमारी चली गई, उत्साह भी आज अन्य दिनों से अधिक है और इस विषय में दुख के अन्त को देने वाला यह महान् आश्चर्यकारी कुमार ही है ॥५३॥

अहा ! इस संसार में यद्यपि सकल-सूरत में सब मनुष्य प्रायः एक समान दिखते हैं परन्तु उनमें गुणी, परोपकारी विरले ही होते हैं, जिस प्रकार समस्त ग्रह एक से हैं परन्तु उनमें जो सूरज की महिमा है, वह किसी की नहीं है ॥५४॥

---

१. कम्पितवस्त्रा ।

किंचास्य दर्शनादेव ममानन्दस्तथाजनि।
यथामृतरसेनेव संसिक्ता सर्वतस्तनुः ॥५५॥

अन्वयार्थ–(किञ्च) और क्या (अस्य) इस महानुभाव के (दर्शनात् एव) दर्शन से ही (मम) मेरे लिए (तथा) इस प्रकार (आनंदः) आनंद (अजनि) उत्पन्न हुआ है (यथा) जैसे (इव) मानो (अमृत-रसेन) अमृत रस द्वारा (सर्वतः) सब ओर से (तनुः) शरीर (संसिक्ता) सींचा गया हो।

विचिन्त्येति पप्रच्छासौ प्राञ्जलिर्जनवल्लभम्।
सस्मिता तं सलज्ञा च प्रसन्नाधीरलोचना ॥५६॥

अन्वयार्थ–(असौ) उस राजकुमारी ने (विचिन्य) विचार कर (जनवल्लभं) उस जनप्रिय जिनदत्त कुमार को (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़े (सस्मिता) मुस्कराती हुई (सलज्ञा) लज्ञायुक्त (च) और (प्रसन्ना-धीरलोचना) प्रसन्न व अधीर नयन वाली कुमारी ने (इति) इस प्रकार (पप्रच्छ) पूछा।

नाथानुमानतो ज्ञातो-नुभावस्तव[1] यद्यपि।
किं वृत्तमद्य यामिन्यां[2] तथापीदं निवेदय ॥५७॥

अन्वयार्थ–(नाथ) हे स्वामिन्! (तव) तुम्हारा (यद्यपि) जो भी (अनुभावः) प्रभाव है वह (अनुमानतः) अनुमान से (ज्ञातः) जाना गया है (तथापि) तो भी (अद्य) आज (यामिन्यां) रात्रि में (किं वृत्तं) क्या प्रवृत्ति/घटना हुई (इदं) यह (निवेदय) कहिए।

तेनावाचि त्वमेवात्र विज्ञा सुतनु! किं ब्रुवे।
जानामि किन्तु वक्त्रात्ते श्रोतुं चेतः समुत्सुकम् ॥५८॥

अन्वयार्थ–(तेन) उसने (अवाचि) कहा (हे सुतनु) हे सुंदरी! (अत्र) इस विषय में (किं ब्रुवे) क्या कहूँ (त्वं एव) तुम ही (विज्ञा) विशिष्ट ज्ञानवाली हो (जानामि) जानती हूँ (किंतु) परन्तु (ते वक्त्रात्) तुम्हारे मुख से (श्रोतुं) सुनने के लिए (चेतः) चित्त (समुत्सुकः) अति उत्सुक है।

वस्तुतः इस विभूति रूप मानव को देखते ही मुझे इतना आनंद हुआ मानो अमृत रस से ही मेरा सम्पूर्ण शरीर अभिसिंचित कर दिया गया हो ॥५५॥

इसके बाद उस जनप्रिय जिनदत्त कुमार से राजकुमारी ने अपनी निरोगता से प्रसन्न हो, लज्ञाभरी दृष्टि से हाथ जोड़कर पूछा ॥५६॥

हे स्वामिन्! यद्यपि मैं यह समझती हूँ कि वह सब नीरोगता आदि आपकी कृपा का फल है, तो भी रात्रि में जो कुछ वृतांत हुआ, उसे सुनाकर मुझे कृतार्थ कीजिए ॥५७॥

उस जिनदत्त ने कहा- हे सुन्दरी! इस विषय में क्या कहूँ? तुम ही विशिष्ट ज्ञानवाली हो। तब राजकुमारी बोली- मैं जानती हूँ परन्तु तुम्हारे मुख से सुनने के लिए चित्त अति उत्सुक है ॥५८॥

हे मोहिते! यदि ऐसा है तो स्वयं की आभूषणों की पेटी खोलकर देखो, राजकुमारी ने ज्यों ही

---

१. प्रभावः। २. निशायां।

यद्येवं दृश्यतां मुग्धे स्वालङ्कारकरण्डिका।
तामुद्घाटयते यावत् तावद्दृष्टो भुजङ्गमः[1] ॥५९॥

अन्वयार्थ–(मुग्धे) हे मोहिते! (यद्येवं) यदि ऐसा है तो (स्वालङ्कारकरण्डिका) स्वयं की आभूषणों की पेटी (दृष्यतां) देखो (यावत्) जब तक (तां) उस पेटी को (उद्घाटयते) खोलती है (तावत्) तब तक उसमें (भुजङ्गमः) सांप (दृष्टः) देखा।

सर्प सर्पेति जल्पन्ती सा ततोऽपसृता जवात्।
मा भैषीरिति तेनोक्तं विशालाक्षि! विचेतनः[2] ॥६०॥

अन्वयार्थ–(सा) वह राजकुमारी (सर्प सर्प) सर्प है-सर्प है ऐसा (जल्पन्ती) बोलती हुई (ततः) वहाँ से (जवात्) वेग से (अपसृता) दूर हुई/भागी तब (तेन) उसने (उक्तं) कहा (विशालाक्षि) हे विशाल लोचने! (इति) इस तरह (मा भैषीः) मत डरो (विचेतनः) यह सर्प चेतन रहित मृत है।

विश्रब्धायास्ततस्तस्या-स्तेनाकथि यथाविधिः।
वृत्तान्तं स्तिमिताक्षी सा-श्रौषीद्विधुवती[3] शिरः ॥६१॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तस्याः) इस कन्या के (विश्रब्धायाः) विश्वास को प्राप्त होने पर (तेन) उस जिनदत्त ने (यथाविधि) विधिपूर्वक (वृत्तान्तं) वृत्तान्त को (अकथि) कहा तथा (सा) उस (स्तिमिताक्षी) गीले नेत्रों वाली स्थिरलोचना ने (शिरः) शिर को (विधुवती) हिलाते हुए (अश्रौषीत्) सुना।

अन्तरेऽत्र समायातः तदुदन्त-बुभुत्सया[4]।
तदध्यक्षस्तथालोक्य समुवाच महीपतिम् ॥६२॥

अन्वयार्थ–(अत्र) यहाँ इसी के (अंतरे) बीच में (तदुदन्तबुभुत्सया) उस समाचार को जानने की इच्छा से (तदध्यक्षः) उस महल का रक्षक/मुखिया (समायातः) आया (तथा) और (महीपतिम्) राजा को (आलोक्य) देखकर (समुवाच) बोला।

यथा वर्द्धस्व राजेन्द्र दृष्ट्या दोषविवर्जिता।
अभूत्सुता महावीरः कुशली स च तिष्ठति ॥६३॥

अन्वयार्थ–(राजेन्द्र) हे राजन्! (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त होओ (यथा) जैसे (दृष्ट्या) भाग्य

पिटारी खोली, त्यों ही उसमें सर्प देखा ॥५९॥ निरीक्षण करते ही ओह! सर्प-सर्प, इस प्रकार चीखती हुई उससे शीघ्र ही दूर भागी। हँसकर कुमार ने कहा हे विशाल नयने! डरो मत वह तो अचेतन है ॥६०॥ उसके बाद इस कन्या के विश्वास को प्राप्त होने पर उस जिनदत्त ने विधिपूर्वक वृत्तान्त को कहा, उस स्थिरलोचना ने शिर को हिलाते हुए सुना ॥६१॥ जिनदत्त राजपुत्री को रात्रि का वृतांत सुना ही रहे थे कि इसी बीच में महल का अध्यक्ष वृतांत जानने के लिए आया और इनका समस्त समाचार जानकर उसने राजा से निवेदन कर दिया ॥६२॥

हे राजेन्द्र! आप वृद्धि को प्राप्त होवें, राजश्री बढ़े, देखो आपकी पुत्री रोग मुक्त हो गई और वह

१. सर्पः। २. मृतः। ३. कम्पयन्ती। ४. ज्ञातुमिच्छया।

से (सुता) पुत्री (दोषविवर्जिता) बीमारी से रहित (अभूत्) हो गई (च) और (सः) वह (महावीरः) महाबलशाली कुमार (कुशली तिष्ठति) कुशलतापूर्वक है।

इत्याकर्ण्य जगामासा दत्वास्मै प्रचुरं धनम्।
आरुह्य हस्तिनं वेगाज्-जनैः कतिपयैरसौ॥६४॥

अन्वयार्थ–(असौ) उस राजा ने (इति आकर्ण्य) इस प्रकार के समाचार को सुनकर (अस्मै) उस गृहरक्षक के लिए (प्रचुरं) अत्यधिक (धनं) धन उपहार (दत्वा) देकर (हस्तिनं) हाथी पर (आरुह्य) सवार होकर (वेगात्) शीघ्रता से (कतिपयैः जनैः) कुछ लोगों के साथ पुत्री के पास (जगाम) गया।

अभ्युत्तस्थे कुमारेण दृष्टिगोचरमागतः।
भूपस्तेनापि हृष्टेन सप्रसादं विलोकितः॥६५॥

अन्वयार्थ–जब (कुमारेण) कुमार के द्वारा (भूपः) राजा (दृष्टिगोचरं आगतः) दृष्टि गोचरपने को प्राप्त हुआ/आंखों के सामने आ गया तब उनके (अभ्युत्तस्थे) सम्मुख खड़े हो गए फिर (हृष्टेन तेन अपि) हर्षित उस राजा ने भी (सप्रसादं) प्रसन्नता के साथ कुमार को (विलोकितः) देखा।

उपविष्टस्ततो राजा तां ददर्श स्व-देहजाम्[1]।
स्वर्भानुनेव[2] निर्मुक्तां पार्वणेन्दु-तनुं यथा॥६६॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (उपविष्टः) बैठे हुए (राजा) राजा ने (यथा) जिस प्रकार (स्वर्भानुना) राहु के द्वारा (निर्मुक्तां) छोड़ी गई (पार्वणेन्दुतनुं) पूर्णमासी के चन्द्रबिम्ब के (इव) समान (तां) उस (स्वदेहजां) अपनी पुत्री को (तथा) उस प्रकार (ददर्श) देखा।

मुहुर्मुखं तनूजाया मुहुस्तस्य महामतेः।
तृप्तिं जगाम नो पश्यंस्-तदानीं नरनायकः॥६७॥

अन्वयार्थ–(तदानीं) उस समय (नरनायकः) राजा (तनूजायाः) पुत्री के और (तस्य महामतेः) उस बुद्धिमान जिनदत्त के (मुखं) मुँह को (मुहुः मुहुः) बार-बार (पश्यन्) देखते हुए (तृप्तिं) तृप्ति को (नो जगाम) प्राप्त नहीं हुआ।

महाबलशाली कुमार कुशलतापूर्वक है॥६३॥ उस राजा ने इस प्रकार के समाचार सुनकर उस गृहरक्षक को अत्यधिक धन दिया और वह शीघ्रता से हाथी पर सवार हो कुछ लोगों के साथ पुत्री के पास गया॥६४॥ राजा को अपने पास आता देख उसके सत्कार के लिए जिनदत्त उठे और हर्षित राजा ने भी उन्हें सम्मान की दृष्टि से प्रसन्नता के साथ देखा॥६५॥ तदनन्तर संतुष्ट एवं प्रमुदित बैठे हुए राजा ने अपनी पुत्री को रोग रहित देखा मानो राहु के ग्रास से बचकर पूर्णिमा का चाँद ही उदित हुआ हो॥६६॥ वह विस्मय से स्फारित नेत्रों द्वारा कभी पुत्री को और कभी कुमार को बार-बार देखने लगा। उस महात्मा कुमार को बारम्बार निहार कर उसे तृप्ति ही नहीं हो रही थी॥६७॥

---

१. स्वपुत्रीम्। २. राहुणा।

पप्रच्छ च महाबुद्धे किमद्याजनि चेष्टितम् ।
रात्रावत्र कुमारेण दर्शितं पन्नगादिकम् ॥६८॥

अन्वयार्थ–(च) और राजा ने (पप्रच्छ) पूछा (महाबुद्धे) हे महाबुद्धिमान! (अत्र) यहाँ (अद्य) आज (रात्रौ) रात्रि में (किं) क्या (चेष्टितम्) घटना (अजनि) हुई (कुमारेण) कुमार ने मरे हुए (पन्नगादिकम्) सर्प आदि को (दर्शितं) दिखाया ।

कथितश्च ततः सर्वं कुमार्या जनकाय तत् ।
अहो चित्रमसम्भाव्यं विधेर्विलसितं भुवि ॥६९॥

अन्वयार्थ–(च) और (ततः) इसके बाद (तत् सर्वं) वह सब (कुमार्या) राजकुमारी ने (जनकाय) पिता के लिए (कथितः) कहा (भुवि) पृथ्वी पर (अहो चित्रं) अरे! आश्चर्य है (विधेर्विलसितं) भाग्य की लीला (असंभाव्यं) विचित्र चिंतन से परे है ।

उपकारः कृतोऽनेन सोऽयं मम महात्मना ।
कुलकीर्त्तिः प्रतापो मे राज्यं येनाशु दीपितम्[1] ॥७०॥

अन्वयार्थ–(अनेन महात्मना) इस महान् आत्मा के द्वारा (मम उपकारः) मेरा उपकार (कृतः) किया गया (सः) वह (अयं) यह (मे) मेरा (राज्यं) राज्य (कुलकीर्तिः) कुल की प्रसिद्धि और (प्रतापः) प्रताप (येन) जिसके द्वारा (आशु) शीघ्र (दीपितम्) प्रकाशित हुआ ।

ददाम्यस्मै सुतामेनां वल्लीमिव मनोभुवः[2] ।
अतोऽपि गुणसम्भार-भूषितः को भविष्यति ॥७१॥

अन्वयार्थ–(मनोभुवः) कामदेव की (वल्लीम्) लता के (इव) समान (एनां सुतां) इस राजपुत्री को (अस्मै) इसके लिए (ददामि) देता हूँ (अतः अपि) इससे भी अधिक (गुणसंभारभूषितः) गुणों के समीचीन भार से भूषित/सद्गुणी (कः भविष्यति) कौन होगा ?

विस्मय से आतुर राजा ने आश्वस्त हो, कुमार से निवेदन किया- हे महाबुद्धिमान् ! आज रात्रि को यहाँ क्या घटना हुई, किस प्रकार आप जयशील हुए, कन्या रोग-मुक्त किस प्रकार की इत्यादि प्रश्न पूछे ? उत्तर में विनम्र कुमार ने भी रात्रि में घटित घटना के साथ पेटी/करण्डी में स्थापित नागराज के शव को दिखाया एवं किस प्रकार तलवार के वार से उसे प्राण विहीन किया इत्यादि वृतान्त ज्ञात कराया ॥६८॥ उस समय कुमारी, राजा से कहने लगी अहो ! संसार में भाग्य की लीला बड़ी विचित्र है, शुभरूप भाग्योदय होने पर असम्भव कार्य भी सुलभता से सम्भव हो जाते हैं ॥६९॥ इस महा पुण्यशाली सत्पुरुष ने मेरा महान् उपकार किया है, इसने मेरी कुलकीर्ति, प्रताप और राज्य की रक्षा की है । आज मेरा राज वैभव और जीवन इसके द्वारा प्रकाशित हुआ है ॥७०॥ उपर्युक्त भावों से अभिव्याप्त राजा विचार करता है, यह मेरी कन्या कामदेव की लता के समान है, इसे इस कुमार को ही देना चाहिए । भला इससे बढ़कर इस पुत्री की शोभा बढ़ाने वाला और कौन गुणों का भण्डार नररत्न होगा ? ॥७१॥

---

१. प्रकाशितं । २. कामस्य ।

कुमारस्य मुखे न्यस्या संहृता तरला स्थिरा।
अलक्षप्रसरा दृष्टि-र्यथास्याश्च विकासिनी ॥७२॥
यथा गण्डस्थलोद्भूता मन्दाः स्वेदोदविन्दवः।
म्लानरागाः समुच्छ्वासै-र्यथा वाधरपल्लवः ॥७३॥
वाग्वृत्तिः स्खलिता कम्प-रोमांचोऽसावधानता।
सखीष्वस्यास्तथा व्यक्तं कुमारेऽजनि मानसम् ॥७४॥विशेषकं॥

अन्वयार्थ-(च) और (यथा) जैसे (कुमारस्य मुखे) कुमार के मुख पर (संहृता) संकोचित (तरला) चञ्चल (स्थिरा) स्थिर (अलक्ष्य-प्रसरा) अप्रत्यक्ष रूप से फैलने वाली (यथा विकासिनी) यथानुरूप विकास को प्राप्त (अस्याः) इस कुमारी की (दृष्टिः) नजर (न्यस्या) पड़ी (तथा) वैसे ही (गण्डस्थलोद्भूताः) गालों के मध्य में उत्पन्न (मन्दाः) अल्प (स्वेदोद- विन्दवः) पसीने की बूँदें (समुच्छ्वासैः) गर्म श्वांसों द्वारा (म्लानरागाः) मलिन लालिमा वाले (अधर-पल्लवः) ओंठरूपी पल्लव (स्खलिता वाग्वृत्तिः) स्खलित वचन प्रवृत्ति (कम्परोमांचा) कम्पन व रोमांच सहित (असावधानता) असावधानी (वा) और (सखिषु) सखियों में भी (अस्याः) इस श्रीमती की (कुमारे) कुमार के विषय में (व्यक्तं मानसं) स्पष्ट मानसिकता (अजनि) उत्पन्न हुई है।

यथा चिन्तितमेवेदं सम्पन्नं मम साम्प्रतम्।
समाकृष्टोऽथवा पुण्यै-रयमस्याः समागतः ॥७५॥

अन्वयार्थ–(यथा) जिस प्रकार (मम) मैंने (चिन्तितं) विचार किया था (साम्प्रतं) इस समय (इदं) यह (एव) ही (सम्पन्नं) सम्पादित हुआ (अथवा) और (अयं) यह कुमार (अस्याः) इसके (पुण्यैः) पुण्यों से (समाकृष्टः) खिंचा हुआ (समागतः) आया है।

तथा प्रत्युपकारोऽय-मेतेनास्य भविष्यति।
कन्यारत्नमिदं चैतत्-सम्बन्धेनैव बन्धुरम् ॥७६॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (एतत्सम्बन्धेन) इस विवाहरूप सम्बन्ध से (एव) ही (अस्य) इस

इसके सिवा इस मेरी पुत्री की लालसा भी, इस युवा के साथ विवाह करने की मालूम पड़ रही है। देखो! जिस प्रकार अन्य लोगों की दृष्टि इस कुमार के मुख पर पड़ रही है, उससे एक भिन्न प्रकार की विकसित और कुछ संकोच को प्राप्त इसकी दृष्टि भी इसके मुख की ओर है ॥७२॥ कुछ-कुछ सूक्ष्म पसीने की बूँदें भी इसके गंडस्थल पर चमक रही हैं। गर्म-गर्म उच्छ्वासों से इसके अधरपल्लव भी म्लान हो रहे हैं। वाणी के भी बोलने में स्खलना खासी प्रतीत हो रही है। कंपन, रोमाञ्च भी इसके शरीर में उत्पन्न हो रहे हैं, यह अपनी असावधानता भी प्रकट कर रही है। इसके सिवा इसकी सखियों में भी इस बात की यथेष्ट चर्चा हो रही है इसलिए भी कुमार में इसके आसक्त होने की मानसिकता मालूम पड़ती है।७३,७४॥ अस्तु! चाहे जो कुछ हो जैसा मैंने अपने मन में विचारा था वैसा ही यह वर मेरी पुत्री के पुण्य से आकृष्ट हो यहाँ आ गया है ॥७५॥ मैं समझता हूँ इसके उपकार का प्रत्युपकार अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता, कन्यारत्न समर्पण करने से ही हो सकता

कुमार का (अयम्) यह (प्रत्युपकारः) प्रत्युपकार (भविष्यति) होगा (च) और (तथा) उसी प्रकार (इदम्) इस (बन्धुरम्) सुन्दर (कन्यारत्नम्) कन्यारूपी रत्न को (एतेन) इस कुमार के साथ विवाहता हूँ।

विधिरेवाथवा विश्व-वैचित्र्यं विस्मयावहम्।
विदधाति नरस्तत्र केवलं याति साक्षिताम् ॥७७॥

अन्वयार्थ–(अथवा) अथवा (विस्मयावहम्) आश्चर्य को करने वाला (विधिः एव) भाग्य ही (विश्ववैचित्र्यं) विश्व की विचित्रता/नाना रूपता को (विदधाति) करता है (तत्र) उस विषय में (नरः) मनुष्य (केवलं) सिर्फ (साक्षिताम्) साक्षीभाव को (याति) प्राप्त होता है।

इत्यादि बहु सम्भाव्य कुमाराय कृशोदरी।
वितीर्णा भूभुजा तस्मै सोऽप्यमस्तोपरोधतः ॥७८॥

अन्वयार्थ–(अपि) तथा (सः भूभुजा) उस राजा ने (इत्यादि बहु) इस भाँति अनेक प्रकार से (सम्भाव्य) विचार कर (अम्) शीघ्र (तस्मै कुमाराय) उस कुमार के लिए (कृशोदरी) कृश उदर वाली कन्या (अस्तोपरोधतः) विरोध रहित (वितीर्णा) समर्पित कर दी।

विधाय विधिना तस्याः कुमारः पाणिपीडनम्।
पंचेन्द्रियसुखं तस्थौ भुञ्जानः सहितस्तया ॥७९॥

अन्वयार्थ–(कुमारः) कुमार (तस्याः) उस कुमारी का (विधिना) विधिपूर्वक (पाणिपीडनं) पाणिग्रहण (विधाय) करके (तया सहितः) उसके साथ (पंचेन्द्रियसुखं) पाँच इन्द्रियों के सुख को (भुञ्जानः) भोगता हुआ (तस्थौ) ठहर गया।

छायेव सापि तस्याभू-दविभिन्ना मनस्विनः।
चक्रे तेनापि विज्ञात-जैनधर्मक्रमादिति ॥८०॥

अन्वयार्थ–(तस्य मनस्विनः) उस मनस्वी की (सा अपि) वह राजकुमारी भी (छाया इव) छाया के समान (अविभिन्ना) अभिन्न रूप (अभूत्) हो गई (इति तेनापि) इस प्रकार उस जिनधर्म

है, फिर यह जोड़ी सुंदर भी है ॥७६॥ चित्र-विचित्र पदार्थों के संयोग कराने वाले भाग्य ने ही संबंध रचा है, वह ही इस विवाह विधि को भी पूरी करेगा क्योंकि सबका कर्ता-धर्ता विधि (कर्म) ही है, मनुष्य तो केवल उसमें साक्षी के बतौर पड़ जाता है ॥७७॥

राजा मेघवाहन ने इस प्रकार ऊहापोह कर अपना मंतव्य स्थिर कर लिया और अपनी पुत्री का शुभ-मुहूर्त में कुमार जिनदत्त के साथ विवाह कर गुणज्ञता का परिचय दिया ॥७८॥

शुभ-मुहूर्त, लग्न और दिन में नृपति ने अपनी कन्या का उस बुद्धिमान, गुणशाली, रूपयौवन सम्पन्न कुमार के साथ उल्लास पूर्वक पाणिग्रहण-संस्कार कराया। कुमार भी उस अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी को पाकर संतुष्ट होता हुआ, पाँचों इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ ठहर गया ॥७९॥

[जिनदत्त द्वारा राजकुमारी को उपदेश दे जैन बनाना]

उस मनस्वी जिनदत्त की वह राजकुमारी भी छाया के समान अभिन्न रूप हो गई, जिनदत्त जैनधर्म के प्रबल पंडित थे। इन्होंने उसे भी सर्वज्ञप्रणीत धर्म से संस्कारित करना चाहा इसलिए

विज्ञाता ने भी उसको (क्रमात्) क्रम से (विज्ञातजैनधर्मा) जैनधर्म जानने वाली (चक्रे) किया ।

मिथ्यात्वं त्यज तन्वंगि संसारार्णवपातकम् ।
भज भव्य-जनाभीष्टं सम्यक्त्वं मुक्ति-हेतुकं ।।८१।।

अन्वयार्थ–(तन्वंगि) हे कृशांगी ! (संसारार्णव-पातकम्) संसाररूपी समुद्र में गिराने वाले (मिथ्यात्वं) मिथ्यात्व को (त्यज) छोड़ो (भव्यजनाभीष्टं) भव्यजनों को सब प्रकार से इष्ट (मुक्ति-हेतुकम्) मुक्ति के कारण (सम्यक्त्वं) सम्यक्त्व को (भज) प्राप्त करो ।

अदेवे देवताबुद्धि - रगुरौ गुरु-सम्मतिः ।
अतत्त्वे तत्त्वसंस्था च तथावादि जिनेश्वरैः ।।८२।।

अन्वयार्थ–(अदेवे) कुदेव में अथवा जो देव नहीं हैं उन काल्पनिक देवों में (देवता बुद्धिः) देवता की बुद्धि करना/ होना अर्थात् वीतरागी देव को छोड़कर रागी-द्वेषी देव को मानना (अगुरौ) कुगुरु में (गुरुसम्मतिः) गुरु की मान्यता (च) और (अतत्त्वे) अतत्त्व में (तत्त्वसंस्था) तत्त्व की सम्यक्श्रद्धा (तथा) उस तरह (जिनेश्वरैः) जिनेश्वरों के द्वारा मिथ्यात्व का स्वरूप (अवादि) कहा गया है ।

सुभ्रु ! विभ्रान्त-चेतस्का देहिनो देवतादिषु ।
वासयन्ति हि सप्तापि नरकाणि निरन्तरम् ।।८३।।

अन्वयार्थ–(सुभ्रु !) हे सुन्दर भ्रकुटी वाली ! (देवतादिषु) देवता आदि में (विभ्रान्तचेतस्काः) विशेष/विविध प्रकार से भ्रान्तचित्त वाले (देहिनः) प्राणी (हि) नियम से (निरन्तरम्) निरन्तर (सप्त अपि) सातों ही (नरकाणि) नरकों को (वासयन्ति) निवास बनाते हैं ।

लोकद्वयेऽपि यानीह सन्ति दुःखानि सुन्दरि ।
जायते भाजनं जन्तुस्तेषां मिथ्यात्व-मोहितः ।।८४।।

अन्वयार्थ–(सुन्दरि !) हे सुन्दरी ! (इह लोकद्वये अपि) यहाँ इन दोनों लोकों में ही (यानि) जो (दुःखानि) दुख (सन्ति) हैं (तेषां) उन दुखों का (मिथ्यात्वमोहितः) मिथ्यात्व से मोहित (जन्तुः) प्राणी (भाजनं) पात्र (जायते) होता है ।

मिथ्यात्व के त्यागपूर्वक वे उसे वास्तविक सद्धर्म का इस प्रकार उपदेश देने लगे ।।८०।। एक दिन कुमार समझाने लगा, हे कृशांगी ! तुम मिथ्यात्व का त्याग करो, यह मिथ्यात्व संसाररूपी सागर में डुबोने वाला है । सम्यग्दर्शन समस्त अभीष्टों की सिद्धि कराने वाला, मोक्ष का कारण है, तुम इसे धारण करो ।।८१।। अदेव/कुदेव में देव बुद्धि रखना अर्थात् रागी/द्वेषी देव को सच्चा देव मानना, आरम्भ, परिग्रही, विषय कषायी कुगुरु/अगुरु को सच्चा गुरु मानना, अतत्त्व में तत्त्व की श्रद्धा करना यह मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया ।।८२।। संसार में जो प्राणी देवता आदि के विषय में इस प्रकार भ्रान्त चित्त हैं अर्थात् विपरीत मान्यता रखते हैं, वे निरन्तर सातों नरकों के पात्र होते हैं ।।८३।। हे सुन्दरी ! इहलोक और परलोक में जितने भी दुःख हैं, विपत्तियाँ हैं, वे सर्व संकट प्राणियों को मिथ्यात्व के उदय से होते हैं ।।८४।।

निःशेष-दोष-निर्मुक्तो मुक्तिकान्ता-स्वयम्बरः ।
लोकालोकोल्लसज्ज्ञानो देवोऽस्तीह जिनेश्वरः ॥८५॥

अन्वयार्थ—(इह) इसलोक में (निःशेष-दोष-निर्मुक्तः) सम्पूर्ण दोषों से रहित (मुक्ति-कान्तास्वयम्बरः) मुक्तिरूपी स्त्री के द्वारा स्वयं पतिरूप में स्वीकृत (लोकालोकोल्लसज्ज्ञानः) लोक-अलोक को प्रकाशित/आनन्दित करते हुए केवलज्ञान वाले (जिनेश्वरः) जिनेन्द्र भगवान (देवः अस्ति) देव हैं ।

अन्ये ततो विशालाक्षि ! रागद्वेषादिकल्मषैः ।
दूषिता न भवन्त्याप्ताः कृतकृत्या विरागिणः ॥८६॥

अन्वयार्थ—(विशालाक्षि !) हे दीर्घनेत्रे ! (ततः) इसलिए (रागद्वेषादि-कल्मषैः) राग-द्वेष आदि पापों से (दूषिताः) दूषित (अन्ये) अन्य कुदेव (कृतकृत्याः) कृतकृत्य (विरागिणः) वीतरागी (आप्ताः) सच्चे देव (न भवन्ति) नहीं होते ।

अतस्त्रिधा प्रतीहि त्वं देवानामधिदैवतम् ।
चराचरजगज्जन्तु-कारुण्यं स्वामिनं जिनम् ॥८७॥

अन्वयार्थ—(अतः) इसलिए (त्वं) तुम (त्रिधा) मन, वचन, काय से (देवानामधिदैवतम्) देवाधिदेव (चराचर-जगज्जन्तुकारुण्यं) जगत के चराचर प्राणियों पर करुणाभाव वाले (जिनं स्वामिनं) जिनेन्द्र प्रभु को (प्रतीहि) प्रतीति/श्रद्धा/विश्वासपूर्वक जानो/मानो ।

धर्मस्तद्वदनाम्भोज - निर्गतः सुगतिप्रदः ।
यस्य मूलं समस्तार्थ-साधिका करुणा मता ॥८८॥

अन्वयार्थ—(तद्वदनाम्भोजनिर्गतः) उन सच्चे देव के मुखरूपी कमल से निकला हुआ (सुगतिप्रदः) शुभगति को प्रदान करने वाला (धर्मः) धर्म है (यस्य) जिस धर्म की (मूलं) आधारशिला (समस्तार्थ-साधिका) सम्पूर्ण प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली (करुणा) दया (मता) मानी गई है ।

हे प्रिये ! सुनो जिनमें जन्म-मरणादि सम्पूर्ण दोष नहीं हैं, अपने केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को युगपत् देखते-जानते हैं एवं मुक्तिरमा के स्वयंवर मण्डप—समवशरण में विराजमान हैं, वे ही यथार्थ--सच्चे देव हैं ॥८५॥

हे दीर्घ नेत्रे ! उनसे भिन्न राग-द्वेष आदि मल से मलिन कदापि देव नहीं हो सकते क्योंकि जो विरागी कृतकृत्य और सर्वज्ञ हैं वह ही आप्त हो सकते हैं अन्य नहीं ॥८६॥

इसलिए तू ! देवताओं में सर्वश्रेष्ठ वीतरागी जिनेन्द्र भगवान को ही मन, वचन और काय से सर्वथा श्रद्धानकर । वे ही चराचर समस्त जगत के ज्ञायक हैं, छोटे से लेकर बड़ों तक सब पर दया करने वाले हैं और सबके स्वामी हैं ॥८७॥ उपर्युक्त गुण वाले जिनेन्द्र भगवान द्वारा जो धर्म उपदेश दिया गया है, वह ही सुगति प्रदान करने वाला है, उसी से जीवों के समस्त अभीष्टों की सिद्धि होती है। उस धर्म की प्रधान कारण/आधारशिला, दया है ॥८८॥

कृतं किमपि पूर्णेन्दु-वदने ! दयया समम् ।
विद्धं रसेन वा ताम्रं सर्वकल्याणकारकम् ॥८९॥

अन्वयार्थ–(पूर्णेन्दुवदने !) हे पूर्ण-चन्द्रमुखी ! (सर्व-कल्याण-कारकं) सभी कल्याणों को करने वाला (दयया समम्) दया के समान (किमपि) कुछ भी (कृतं) करने योग्य कार्य है ? अर्थात् नहीं है (वा) जैसे (रसेन विद्धं) रस से व्याप्त/लिप्त (ताम्रं) ताँबा (सर्व-कल्याण-कारकम्) पूर्णरूप से स्वयं को स्वर्णरूप करने वाला, प्राणीपक्ष में सभी जीवों का कल्याण/स्वास्थ्यरूप हित करने वाला होता है ।

उद्देशाद्देवतादीनां कृतोऽपि प्राणिनां वधः ।
नरकाय गुडोन्मिश्रं विषं मारयते न किम् ॥९०॥

अन्वयार्थ–(देवतादीनां) देवता आदि के (उद्देशात्) उद्देश्य से (कृतः अपि) किया हुआ भी (प्राणिनां वधः) प्राणियों का वध (नरकाय) नरक के लिए होता है (गुडोन्मिश्रं) गुड़ से मिला हुआ (विषं) विष (किं) क्या (न मारयते) नहीं मारता अर्थात् मारता ही है ।

जायते येन येनेह हेतुनासुमतां[1] हतिः ।
तत्तद्वर्जय बाले ! त्वं येन स्यान्निस्तुषो[2] वृषः ॥९१॥

अन्वयार्थ -(इह) इसलोक में (येन येन) जिस-जिस (हेतुना) कारण से (असुमतां) प्राणियों की (हतिः) हिंसा (जायते) होती है (बाले !) हे बाले ! (त्वं) तुम (तत् तत्) उन-उन कारणों को (वर्जय) छोड़ो (येन) जिससे (निस्तुषः) श्रेष्ठसारभूत (वृषः) अहिंसा धर्म (स्यात्) हो ।

अत्र चामुत्र सौख्यानि भुञ्जते यानि देहिनः ।
कृपाकल्पलता तानि सूते सर्वाणि सेविता ॥९२॥

अन्वयार्थ–(अत्र) इसलोक में (च) और (अमुत्र) परलोक में (देहिनः) प्राणिगण (यानि) जिन (सौख्यानि) सुखों को (भुञ्जते) भोगते हैं (तानि सर्वाणि) उन सब सुखों को (सेविता कृपा-कल्पलता) सेवन की गई दयारूपी कल्पलता (सूते) उत्पन्न करती है ।

हे पूर्णचन्द्रमुखे ! क्या दया के समान कुछ भी कार्य करने योग्य है ? जैसे रस से व्याप्त ताँबा पूर्णरूप से स्वर्णरूप करने वाला होता है, उसी प्रकार दया से युक्त धर्म सभी प्राणियों का कल्याण करने वाला होता है ।

हे देवी ! सुनो, देवता आदि के उद्देश्य से किया हुआ प्राणियों का वध भी प्राणियों को नरक का कारण होता है । क्योंकि विष मिश्रित गुड़ क्या प्राणनाशक नहीं होता ? प्राणघातक ही होता है । उसी प्रकार धर्म के नाम पर की गई हिंसा भी दारूण नरक यातना देनी वाली होती है ॥९०॥

हे बाले ! जिन-जिन कारणों से जीवों की हिंसा होती है, उन-उन कारणों को छोड़ो, जिससे अहिंसामयी सारभूत सद्धर्म की प्राप्ति हो ॥९१॥ संसार में प्राणियों को जो कुछ भी सुख मिलता है, वह सब दयारूपी कल्पलता के सेवन का फल है ॥९२॥

---

१. प्राणिना । २. श्रेष्ठः ।

वितस्त्या[1] मीयते जातु नभो भूरङ्गुलैरियम्।
शक्याः सुमुखि ! संख्यातुं न गुणाः करुणाश्रयाः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(इयं) यह (भूः) पृथ्वी (अङ्गुलैः) अङ्गुलों द्वारा और (नभः) आकाश (वितस्त्या) वितस्ति/वेतिया से (जातु) कभी भी (मीयते) मापे जाते हैं ? अर्थात् नहीं मापे जा सकते हैं (सुमुखि !) हे सुंदर मुखे ! वैसे ही (करुणाश्रयाः) करुणा के आश्रित (गुणाः) गुण (संख्यातुं) गणना करने के (शक्याः) योग्य (न) नहीं हैं ।

करभोरु ! परित्यज्य प्राणित्राणं न विद्यते।
धर्मः शर्मकरः प्रोक्तो न च सोऽन्यैर्जिनेन्द्रतः ॥९४॥

अन्वयार्थ–(करभोरू !) हे दीर्घ जंघाओं वाली ! (जिनेन्द्रतः) जिनेन्द्र भगवान द्वारा (शर्मकरः) सुख को करने वाला (धर्मः) धर्म (प्रोक्तः) कहा गया है (सः) वह धर्म (अन्यैः) अन्य के द्वारा (न प्रोक्तः) नहीं कहा गया (च) तथा (प्राणित्राणं) प्राणियों की रक्षा को (परित्यज्य) छोड़कर (धर्मः न विद्यते) धर्म नहीं है ।

नानानुष्ठानयुक्तापि नादया शस्यते क्रिया।
कामिनीव धृताशेष-भूषणा कुलटा किल ॥९५॥

अन्वयार्थ–(किल) नियम से (धृताशेषभूषणा) सम्पूर्ण आभूषणों को धारण करने वाली (कुलटा) व्यभिचारिणी (कामिनीव) स्त्री के समान (नानानुष्ठानयुक्ता अपि) अनेक अनुष्ठानों से युक्त भी (अदया) दया रहित (क्रिया) कार्य (न शस्यते) प्रशंसनीय नहीं है ।

भवभोगशरीराणा-मसारत्वं विबुद्ध्य[2] ये।
सन्त्यज्य तृणवल्लक्ष्मीं नैर्ग्रन्थ्य[3]व्रतमाश्रिताः ॥९६॥
प्राणात्ययेऽपि नो येषां जीवहिंसा वचोऽनृतम्।
चुरा[4] रामारिरंसा[5] वा जिघृक्षा[6] हृदि जायते ॥९७॥

जिस प्रकार वितस्ती से आकाश व अङ्गुलियों से पृथ्वी को नहीं नापा जा सकता, उसी प्रकार इस दया के सहारे से होने वाले गुणों की गिनती नहीं हो सकती ॥९३॥ प्राणियों के ऊपर दया करने से बढ़कर कोई दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है और यही बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है, हम चाहे कितने भी अन्य धार्मिक अनुष्ठान करें और क्रिया पालें परन्तु दया रहित होने पर सब निष्फल हैं ॥९४॥

जिस प्रकार नाना गुण और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भी कुलटा स्त्री, एक शीलगुण के अभाव से लोक में श्रेष्ठ नहीं गिनी जाती, उसी प्रकार समस्त धार्मिक क्रियाकलाप एक दया गुण के न होने से प्रशंसित नहीं होते ॥९५॥

जो महात्मा पुरुष इस संसार की वास्तविक दशा का परिज्ञान कर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गए हैं, जिनको शरीररूप ढांचे में भी प्रीति नहीं रही है, जो तृण के समान अपनी समस्त लक्ष्मी को छोड़कर निर्ग्रन्थ-व्रत धारण कर जीवन बिता रहे हैं, जो अपने प्राणों के नष्ट होने पर भी

---

१. वितस्तिप्रमाणेन । २. ज्ञात्वा । ३. जिनदीक्षां । ४. तौर्यम् । ५. स्त्रीमणेच्छा । ६. ग्रहीतुमिच्छा ।

लाभालाभारिमित्रेषु लोष्ठकाञ्चनयोरपि।
समभावाः सुखे दुःखे निस्पृहाः स्वतनावपि ॥९८॥
अनेकजन्मसम्भूतं पापपङ्कं शरीरिभिः।
यत्पादपद्मसत्तीर्थ सेवया क्षाल्यते क्षणात् ॥९९॥
भुञ्जते पाणिपात्रेण शेरते भुवि वासते।
वनादौ [1]विधिवद्धं सं-ध्यानेनाध्ययनेन च ॥१००॥
ये करालम्बनं सम्यक् संसारार्णव-मज्ञताम्।
जगतां जातरूपास्ते[2] गुरवो गजगामिनि ॥१०१॥कुलकं॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (भव-भोग-शरीराणाम्) संसार, शरीर और भोगों के (असारत्वं) असारपने को (विबुद्ध्य) जानकर (लक्ष्मीं) लक्ष्मी को (तृणवत्) तिनके के समान (सन्त्यज्य) छोड़कर (नैर्ग्रन्थ्य-व्रतं आश्रिताः) निर्ग्रन्थतारूप व्रत को अर्थात् मुनिपने में मुख्य निर्ग्रन्थ सम्बन्धि अट्ठाईस मूलगुणरूप अपरिग्रहादि महाव्रत को धारण करने वाले (वा) अथवा उसमें (येषां) जिनके (प्राणात्यये अपि) प्राणों के विनाश होने पर भी (जीवहिंसा) प्राणियों की हिंसा (अनृतं वचः) असत्य वचन (चुरा) चोरी (रामा-रिरंसा) स्त्री में रमण की इच्छा (जिघृक्षा) परिग्रह को ग्रहण करने की इच्छा (हृदि) हृदय में (नो जायते) उत्पन्न नहीं होती (लाभालाभारि-मित्रेषु) जो लाभ-हानि और शत्रु-मित्रों में (लोष्ठ-काञ्चनयोः) पत्थर और सोने में (सुखे अपि दुःखे) सुख व दुःख में (समभावाः) समताभाव युक्त और जो (स्वतनौ अपि) अपने शरीर में भी (निस्पृहाः) निस्पृही/इच्छा रहित हैं (शरीरिभिः) शरीरधारी प्राणियों के द्वारा (यत्पाद-पद्म-सत्तीर्थ सेवया) जिनके चरण कमलरूपी समीचीन तीर्थ की सेवा से (अनेकजन्मसम्भूतं) अनेक जन्मों में उत्पन्न संचित (पाप-पङ्कं) पापरूपी कीचड़ (क्षणात्) क्षणभर में (क्षाल्यते) धो दिया जाता है (पाणि-पात्रेण) जो हाथरूपी पात्र के द्वारा (भुञ्जते) भोजन करते हैं (भुवि) पृथ्वी पर (शेरते) शयन करते हैं, (वा) अथवा (विधि-(वि)वद्धं) विधि से व्याप्त/नियमपूर्वक बंधे हुए (सद्/संध्यानेन अध्ययनेन) समीचीन ध्यान से अध्ययनपूर्वक (च) और (वनादौ) जंगल आदि एकांत स्थानों में (आसते) निवास करते हैं (गजगामिनि) हे हाथी के समान चालवाली! (ये) जो (संसारार्णव-मज्ञताम्) संसाररूपी सागर में डूबते हुए (जगतां) जगत् के (सम्यक्) सच्चे (करावलम्बनं)

कभी अन्य जीवों की विराधना नहीं करते, जो मिथ्या वचनों का बोलना गर्ह्य समझते हैं, जिनके दूसरे की बिना दी हुई वस्तु ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा है, जो स्त्रियों के सहवास/भोग से विरक्त हो चुके हैं, जो मुनि अवस्था के योग्य पिच्छी, कमंडलु से अतिरिक्त परिग्रह रखने के त्यागी हैं। जो लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण/लोष्ट-कांचन और सुख-दुःख में समान भाव रखने वाले हैं और जो अपने शरीर में भी इच्छा रहित हैं। जिनके पाद-पङ्कजरूपी तीर्थ के सेवन करने से प्राणियों के अनेक जन्मों में संचित पाप-पङ्क क्षणभर में धुल जाते हैं, जो पाणिपात्र में भोजन करते हैं, पृथ्वी पर सोते हैं, नियमपूर्वक समीचीन ध्यान से अध्ययनपूर्वक जंगल आदि एकान्त स्थानों में निवास करते हैं। हे गजगामिनी! जो संसार-सागर में डूबते हुए जगत् के प्राणियों को सच्चे हस्तावलम्बन हैं, जन्मे हुए

---

१. (विद्धं स/सद्)। २. दिगम्बराः।

हाथ के सहारे (जातरूपाः) जन्मे हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बररूप को धारण वाले हैं (ते गुरवः) वे गुरु हैं।

कामक्रोधमदोन्माद-मोहान्धा विषयाधिकाः।
यान्तो नयन्ति भक्ताँस्तु[1] गुरुत्वेनाध एव हि ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(कामक्रोधमदोन्मादमोहान्धाः) काम, क्रोध, मद (घमण्ड) उन्माद व असंतुलित मोह से अंधे (विषयाधिकाः) विषयों में अधिक आसक्त (यान्तः) मार्गदर्शक गुरु (भक्तान्) भक्तों को (गुरुत्वेन) गुरुता/पाप के भार की अधिकता से (हि) निश्चित रूप से (अधःएव) नीचे ही (नयन्ति) ले जाते हैं।

देवधर्मगुरुनित्थं मन्यमाना मनस्विनि।
लोकद्वयेऽपि सौख्यानां भाजनं भविता सदा ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(मनस्विनि!) हे मनस्विनि! (इत्थं) इस प्रकार (देवधर्मगुरून्) देव धर्म और गुरु को (मन्यमाना) मानने वाले (लोकद्वये अपि) दोनों लोकों में ही (सदा) हमेशा (सौख्यानां) सुखों के (भाजनं) भाजन/पात्र (भविता) होते हैं।

निबन्धनमिदं सर्व-व्रतानां दर्शनं[2] प्रिये।
विनैतेन विमूलः स्यात्-समस्त-नियमद्रुमः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(प्रिये) हे प्रिये! (इदं दर्शनं) यह सम्यक्दर्शन (सर्वव्रतानां) सभी व्रतों का (निबन्धनं) कारण है (एतेन विना) इसके बिना (समस्त नियमद्रुमः) समस्त नियमरूपी वृक्ष (विमूलः) जड़ रहित (स्यात्) हो जाता है।

विशेषतस्तु नात्तव्यं मदिरामांसमाक्षिकम्।
अनन्तजीवसंहार-कारि पापैकसाक्षिकम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(अनन्तजीव-संहारकारि) अनंत जीवों का संहार करने वाले (तु) और (पापैक-

---

बालक के समान निर्विकार दिगम्बररूप को धारण करने वाले, वे सच्चे- गुरु होते हैं ॥९६, ९७,९७,९८,९९,१००,१०१॥

काम, क्रोध, मद, उन्माद, मोह से अंधे, विषयों में अति आसक्त कुगुरु, भक्तों को अत्यधिक पाप के भार से नीचे ले जाते हैं अर्थात् ऐसे कुगुरु, भक्तों को नरक आदि दुर्गतियों में ले जाते हैं ॥१०२॥

सुन्दरी! इस प्रकार देव, धर्म और गुरुओं के स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान करने से ही तुझे लोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होगी ॥१०३॥

तत्त्व यही है इस प्रकार श्रद्धान करना ही, सबसे पहले इस जीव को कल्याणकारी है। इसके करने से ही समस्त नियम-यम सार्थक होते हैं और वृद्धि को पाते हैं, इसके बिना कोई भी कर्म सुकर्म नहीं होता ॥१०४॥

अरे प्यारी! यह जो तुझे सुदेव, सुधर्म और सुगुरु का स्वरूप बतलाकर श्रद्धान बतलाया है

---

१. सेवकान्। २. तत्त्वार्थश्रद्धानं।

साक्षिकम्) प्रत्यक्षरूप से पापों का प्रधान कारण (विशेषतः) विशेषरूप से (मदिरा-मांस-माक्षिकम्) शराब, मांस और शहद (न आत्तव्यं) नहीं खाना चाहिए।

जीवयोनिसमुत्स्थानं फलानामपि पंचकम्।
मुञ्च भुक्तिं निशायां च चरैतानि व्रतानि च ॥१०६॥

अन्वयार्थ–(जीवयोनि-समुत्स्थानं) जीवों की उत्पत्ति के स्थान (पंचकम् फलानाम्) पाँच क्षीरी फलों को भी (च) और (निशायां) रात्रि में (भुक्तिं) भोजन को (अपि) भी (मुञ्च) छोड़ो (च) और (एतानि) इनके आगे (व्रतानि) व्रतों को (चर) आचरित करो।

जीव-घातानृतस्तेय - पुरुषान्तर-सेवनम्।
परिग्रह-ममानं च त्यज राजीव-लोचने[1] ॥१०७॥

अन्वयार्थ–(राजीवलोचने!) हे कमललोचने! (जीव-घातानृतस्तेय-पुरुषांतर-सेवनम्) हिंसा, झूठ, चोरी, पति के अलावा अन्य पुरुषों का सेवन (च) और (अमानं परिग्रहं) अपरिमित परिग्रह को (त्यज) तजो/छोड़ो।

पात्रं सर्वश्रियां पात्र-दानं भोगोपभोगगाम्।
संख्या-मसंख्य-दुर्भाव -भेदिनीं धेहि मानसे ॥१०८॥

अन्वयार्थ–(सर्वश्रियां) सभी प्रकार की लक्ष्मी के (पात्रं) पात्र/स्थानभूत (पात्रदानं) पात्रदान को (असंख्यदुर्भावभेदिनीं) असंख्य दुर्भावों को भेदने वाली (भोगोपभोगगाम्) भोग-उपभोग को प्राप्त पदार्थों की (संख्याम्) संख्या को (मानसे) मन में (धेहि) ध्याओ, धारण करो।

सर्वसङ्गं परित्यज्य संस्मृत्य गुरु-पंचकम्।
आराधना-विधानेन प्रान्ते प्राणोज्झनं[2] मतम् ॥१०९॥

अन्वयार्थ–(सर्वसङ्गं) सभी प्रकार के परिग्रह को (परित्यज्य) छोड़कर (गुरुपंचकम्) पञ्च

इसको सुदृढ़ करने के लिए मदिरा, मांस और मधु नहीं खाना चाहिए, इनके खाने से अनंत जीवों का संहार होता है तथा जो पाप के प्रधान कारण हैं ॥१०५॥ अगणित जीवों की उत्पत्ति के स्थानस्वरूप बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर इन पाँच उदम्बरों क्षीरीफलों का खाना भी अनुचित है। सूर्य के प्रकाश के न होने से अनेक जीवों का नाशक, रात्रि भोजन करना भी सर्वथा अयोग्य है और अहिंसा आदि व्रतों का पालना भी आवश्यक है ॥१०६॥ हे कमल लोचने कृत, कारित और अनुमोदित संकल्पी, द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है। स्थूल मिथ्या वचनों का न बोलना सत्याणुव्रत है। दूसरे की बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत है। पराई स्त्री या परपुरुष का न सेवना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। धन-धान्य आदि परिग्रहका प्रमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है। इन पाँचों व्रतों को धारण करो ॥१०७॥ समस्त कल्याणों को करने वाले पात्र को योग्य, स्वकीय धन, आहार, उपकरण का देना, दान है। भोग-उपभोग की वस्तुओं का प्रमाण–सीमा करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है ॥१०८॥ समस्त परिग्रहों में ममता को छोड़कर

१. कमलनयने। २. प्राणत्यागः।

गुरु/पञ्च परमेष्ठियों को (संस्मृत्य) स्मरण करके (आराधनाविधानेन) आराधनाओं के विधान से (प्रान्ते) इक दम अन्त में (प्राणोज्झनं) प्राणों का परित्याग/सल्लेखना (मतम्) मानी गई है ।

दिग्देश-नियमं दुष्टानर्थ-दण्डोज्झनं कुरु ।
सामायिकं हताघौघं प्रोषधं दुःखनाशकम् ॥११०॥

अन्वयार्थ–(दिग्देशनियमं) दिशाओं के देश/स्थान के अन्दर देशव्रत का नियम (दुष्टानर्थ-दण्डोज्झनं) दुष्ट-अनर्थदण्डों का त्याग (हताघौघं) पाप के समूह को नष्ट करने वाले (सामायिकं) सामायिक को (दुःखनाशकम्) दुःखों का नाश करने वाले (प्रोषधं) प्रोषधोपवास को (कुरु) करो ।

एतेषु गुण-शिक्षाद्या नियमा द्वादशव्रतम् ।
पंच[1] त्रयश्च चत्वारो गृहस्थानां जिनोदिताः ॥१११॥

अन्वयार्थ–(एतेषु) इन उपर्युक्त व्रतों में (जिनोदिताः) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए (त्रयः चत्वारः च पञ्च) तीन, चार और पाँच (गुणशिक्षाद्या नियमाः) गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अणुव्रतरूप नियम/यम (गृहस्थानां) गृहस्थों के (द्वादशव्रतम्) बारह व्रत हैं ।

गुरुणां वचनादेतत् तवावादि मया प्रिये ।
पश्चात्ते दापयिष्यामि विशेषाद् गुरु-सन्निधौ ॥११२॥

अन्वयार्थ–(प्रिये !) हे प्रिये ! (गुरुणां वचनात्) गुरुओं के वचन से (मया) मेरे द्वारा (तव) तुमको (एतत्) यह गृहस्थाचार (अवादि) कहा है (पश्चात्) बाद में (ते विशेषात्) तुम्हारे लिए विशेषरूप से (गुरुसन्निधौ) गुरुओं के सान्निध्य में व्रतों को (दापयिष्यामि) दिलाऊँगा ।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के गुण स्मरणपूर्वक आराधना विधि से प्राण छोड़ना, सल्लेखना है ॥१०९॥

दिशाओं में जाने का नियम करना, दिग्व्रत है । दिग्व्रत की सीमा के अन्दर देशों में जाने का नियम करना, देशव्रत है और बिना प्रयोजन पापोत्पादक क्रियाओं जैसे–अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, दुःश्रुति को नहीं करना, अनर्थदण्डव्रत है । तीनों संध्याओं में विधि अनुसार पञ्चगुरुओं का स्मरण वा अपनी आत्मा का ध्यान करना, सामायिक है और इन्द्रियों की उग्रता को रोकने व धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए जो आठ प्रहर, बारह प्रहर आदि समय तक अन्न आदि का त्यागना है सो, प्रोषधव्रत है ॥११०॥

५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत ये व्रती गृहस्थ श्रावकों के बारहव्रत जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥१११॥

इस प्रकार अहिंसादि १२ व्रतों का स्वरूप तुझे जिनवरों के कथनानुसार कहा है । अभी तो तुम इसी प्रकार इन्हें धारण करलो, पश्चात् तुम्हे मैं विशेष विधि के अनुसार गुरु के समक्ष इनमें दीक्षित करा दूँगा ॥११२॥

---

१. पञ्चप्रकारमणुव्रतं, त्रिधा गुणव्रतं, चतुर्धा शिक्षाव्रतम् ।

इत्यादि सा कुमारेण जिन-धर्मे विशुद्धधीः।
ग्राहिता सापि जग्राह तं तथेति त्रिधा तदा ॥११३॥

अन्वयार्थ—(कुमारेण) कुमार (पति जिनदत्त) के द्वारा (इत्यादि) इस प्रकार से (सा) वह श्रीमति (जिनधर्मे ग्राहिता) जिनधर्म में ग्रहण कराई गई (सा विशुद्धधीः अपि) उस विशुद्ध-बुद्धि वाली ने भी (तदा) तब (तं) उस गृहस्थाचार को (तथा इति) उसी तरह (त्रिधा) मन, वचन, काय से (जग्राह) ग्रहण किया।

वसन्ततिलका छन्दः

इत्थं तथा निखिलसौख्यनिधानधात्र्याधन्यः समं कुतुककोपकृतान्तरायम्।
सौख्यं स निर्विशति यावदितः कृतार्थ-स्तावच्चचाल सकलो वणिजां समूहः ॥११४॥

अन्वयार्थ—(इत्थं) इस प्रकार (यावत्) जब तक (यथा) जैसे ही (निखिल-सौख्य-निधान-धात्र्या) संपूर्ण सुख के निधान को धारण करने वाली भूमिरूप श्रीमति के (समं) साथ (कुतुक-कोप-कृतान्तरायम्) कामक्रीड़ा संबंधी कोप के द्वारा किए गए अंतराय/व्यवधानरूप (सौख्यं) सुख में (यथा) जैसे (सः) वह (धन्यः) धन्य (कृतार्थः) कृत-कृत्य (निर्विशति) प्रवेश करता है (तथा) वैसे ही (इतः) यहाँ से (तावत्) तब तक (सकलः) संपूर्ण (वणिजां समूहः) व्यापारियों का समूह (चचाल) प्रस्थान कर देता है।

वसन्ततिलका छन्दः

ज्ञात्वापि तेन भणितो नृपतिः सहेतु-र्लोकः प्रयाति सकलोऽपि मम स्वदेशम्।
मां प्रेषयेति वचनेन नृपः सदुःखस्-तस्मै समर्प्य तनयां सपरिच्छदां ताम् ॥११५॥

अन्वयार्थ—(तेन अपि) उस जिनदत्त ने भी (ज्ञात्वा) वणिकों/व्यापारियों के प्रस्थान का समाचार जानकर (नृपतिः) राजा से (भणितः) कहा (मम) मेरे (सकलः अपि) सब ही (लोकः) लोग (सहेतुः) प्रयोजन से सहित (स्वदेशम्) अपने देश को (प्रयाति) जा रहे हैं (मां प्रेषय) मुझे भी भेजिए (इति वचनेन) इस प्रकार के वचन से (सदुःख-नृपः) दुख सहित राजा ने (सपरिच्छदां) अपने परिकर सहित (तां) उस (तनयां) पुत्री को (तस्मै) उसके लिए (समर्प्य) समर्पित कर दिया।

अपने पति जिनदत्त की हृदयग्राहिणी युक्ति सिद्ध वाणी को, जब विशुद्ध-बुद्धि वाली राजपुत्री ने सुना समझा तो वह अति आनंदित हुई। उसने शीघ्र ही समस्त व्रत धारण कर लिए और जैनधर्म की गाढ़ श्रद्धावाली हो गई ॥११३॥

और इस प्रकार जब तक जिनदत्त अपनी प्यारी पत्नी को अपने समान श्रेष्ठ जिनधर्म से संस्कारित कर, सांसारिक-सुख भोग रहे थे कि इतने में ही इनके साथ का व्यापारियों का समूह अपने देश लौटने की तैयारी करने लगा ॥११४॥

जब यह समाचार इन्हें मालूम हुआ, तो जिनदत्त ने अपने ससुर राजा मेघवाहन से भी जाने का विचार प्रकट किया और उसने पुत्री तथा उसके परिवार सहित इन्हें देश जाने के लिए सम्मति प्रदान कर दी ॥११५॥

वसन्ततिलका छन्दः

षट्त्रिंशदस्ति भुवि यस्य सुवर्णकोट्यो मूल्यं तदस्य किल कण्ठविभूषणं च ।
दत्वा नृपेण बहुधा वसनादिजात-मालिङ्ग्य साश्रुनयनेन ततो विमुक्तः ॥११६॥

अन्वयार्थ–(भुवि) पृथ्वी पर (यस्य) जिसका (षट्त्रिंशत् सुवर्णकोट्यः) छत्तीस करोड़ स्वर्णमुद्राएँ (मूल्यं अस्ति) मूल्य है (तत्) वह (कण्ठविभूषणं) कंठ का आभूषण हार (च) और (बहुधा) बहुत प्रकार के (वसनादि-जातं) वस्त्र आदि के समूह को (दत्वा) देकर (नृपेण) राजा ने (साश्रुनयनेन) अश्रु सहित नेत्रों से (अस्य आलिङ्गि्च) इस कुमार का आलिंगन करके (ततः) उसके बाद इसको (विमुक्तः) जाने दिया ।

अन्यैश्च राज्यपरिवारजनैः समग्रै-रन्तःपुरेण च कृतापचितिः[1] कुमारः ।
आपृच्छ्य भूपतिपुरस्सरसर्वलोकं प्रापत्तटं जलनिधेः स्वजनान्निवर्त्त्य ॥११७॥

अन्वयार्थ–(च) और (अन्यैः) अन्य (समग्रैः) संपूर्ण (राज्य-परिवार-जनैः) राज्य के परिवार जन (च) और (अन्तःपुरेण) अन्तःपुर के द्वारा (कृतापचितिः) किया गया है सत्कार जिसका ऐसा (कुमारः) कुमार (भूपतिपुरस्सर-सर्वलोकं) राजा को आगे करके सभी लोगों को (आपृच्छ) पूछकर (स्वजनान्) और स्वजनों को (निवर्त्त्य) वापस भेजकर (जलनिधेः) समुद्र के (तटं) किनारे को (प्रापत्) प्राप्त हुआ/पहुँचा ।

शार्दूलविक्रीड़ित छन्दः

माङ्गल्यं सकलं विधाय विधिना कृत्वा जनं याचकं ।
पूर्णेच्छुं शुभवासरे सह जनैस्तैः सार्थवाहादिभिः ॥
आरूढौ धनबद्धकेतुनिकरं पोतं सपुण्यो जवात्- ।
मुक्तः सोऽपि चचाल वारिधिजले मन्दानिलप्रेरितः ॥११८॥

अन्वयार्थ–(विधिना) विधिपूर्वक (सकलं) संपूर्ण (माङ्गल्यं) मांगलिक क्रियाओं को (विधाय) करके (याचकं जनं) याचक जनों को (पूर्णेच्छुं कृत्वा) पूर्ण इच्छावाला करके अर्थात् उसकी इच्छाओं को पूरा करके (शुभवासरे) शुभ दिन में (तैः) उन (सार्थवाहादिभिः जनैः) सार्थवाह आदि साथियों के

[राजा से जिनदत्त व श्रीमति की विदाई]

पृथ्वी पर जिसका छत्तीस करोड़ स्वर्णमुद्राएँ मूल्य है, वह कंठ का आभूषण हार और बहुत प्रकार के वस्त्र आदि देकर राजा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से आलिंगन करके उसके बाद उसको जाने दिया ॥११६॥ तथा अन्य संपूर्ण राज्य परिवार जनों और अन्तःपुर के द्वारा किया गया है सत्कार जिसका, ऐसा कुमार राजा को आगे करके सभी लोगों को पूछकर समुद्र के किनारे पहुँचा और अपने परिवार के लोगों को वापस भेज दिया ॥११७॥

विधिपूर्वक संपूर्ण मांगलिक क्रियाओं को करके याचकजनों की इच्छाओं को पूरा कर, शुभ दिन में उन सार्थवाह आदि साथियों के साथ सघन बंधी हुई ध्वजाओं के समूह से व्याप्त पुण्य सहित वह

१. कृतपूजः ।

(सह) साथ (धन-बद्ध-केतुनिकरं) सघन बंधी हुई ध्वजाओं के समूह से व्याप्त (पोतं) जहाज में (सपुण्यः) पुण्य सहित वह जिनदत्त (आरूढः) सवार हुआ (स अपि) वह जहाज भी (जवात्) वेग से (मुक्तः) छूटा हुआ (वारिधिजले) समुद्र के जल में (मन्दानिलप्रेरितः) मंद वायु से प्रेरित हुआ (चचाल) चल पड़ा ।

जिनदत्त जहाज पर सवार हुआ । वह जहाज भी वेग से छूटा हुआ समुद्र के जल में मंद वायु से प्रेरित हुआ चल पड़ा ॥११८॥

॥ इति श्रीभगवद् गुणभद्राचार्यविरचिते श्रीजिनदत्तचरित्रे चतुर्थः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीयुत् भगवान गुणभद्राचार्य विरचित जिनदत्त चरित्र में श्रीमति के रोग-निवारण व विवाह का वर्णन करने वाल चौथा सर्ग पूर्ण हुआ ।

पञ्चमः सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथ ते यान्ति पश्यन्तो यान - पात्रेण वारिधिम् ।
क्वचिद्वेत्र - लताविद्धं द्वारं भूमि - भृतामिव ॥१॥
न्यायोपेत - नरेन्द्राभं क्वचित् समकरं क्वचित् ।
तिमिराजित - मत्यर्थ मुनीना - मिव मानसम् ॥२॥
अनेकान्त - मिवात्यन्त - बहु - भङ्गि - समाकुलम् ।
समुक्ताहार - मन्यत्र कान्तास्तन - तटोपमम् ॥३॥
अधः स्थित - महामूल्य- माणिक्यं शङ्खकादिकम् ।
दर्शयन्तं बहिर्भीत्या कृपणं वार्थिनां क्वचित् ॥४॥
निर्यापक - गिरा क्वापि समुत्कर्ण - जनं क्वचित् ।
कर्पूरादि-द्रुमस्पर्शि - सुगन्धायात - मारुतम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) अथानन्तर (क्वचित्) कहीं पर (वेत्रलताविद्धं) वेत्र की लता से व्याप्त (भूमि-भृताम्) पर्वतों के (द्वारं इव) द्वार के समान (क्वचित्) कहीं पर (समकरं) समानता को करने वाले (न्यायोपेत-नरेन्द्राभं) न्याय से सहित न्यायवान राजा के समान (क्वचित्) कहीं (अत्यर्थम्) अत्यधिक सघन (तिमिराजितम्) अंधकार को जीतने वाले (मुनीनाम्) मुनियों के (मानसम् इव) मन के समान (अत्यन्त-बहु-भङ्गि-समाकुलम्) विशाल/अन्तातीत अनेक तरंगों से व्याप्त व अनेक भङ्गों से युक्त (अनेकान्तं इव) अनेकान्त के समान (अन्यत्र) अन्य जगह या अन्य स्थान में (समुक्ताहारं) मोतियों के हार से युक्त (कान्तास्तनतटोपमम्) स्त्रियों के स्तनों के अग्रभाग के समान (क्वचित्) कहीं पर (अधः स्थितमहामूल्यमाणिक्यं) नीचे स्थित महामूल्यवान रत्नों को और (शङ्खकादिकम्) शंखादि को (अर्थिनां) चाहने वालों के (भीत्या) डर से (बहिः) बाहर कुछ थोड़े (दर्शयन्तं) दिखलाते हुए (कृपणं वा) कंजूस के समान (क्वापि) कहीं पर (समुत्कर्णजनं) कान को खड़े कर सुनने वाले मनुष्य

[समुद्र का वर्णन]

नौका बढ़ रही है। सागर का जल उछल रहा है। कहीं-कहीं समुद्र, प्रचुर सेवाल समूह वेत्र-लताओं से विद्ध हुआ पर्वत के द्वार के समान प्रतीत होता था, तो कहीं समुद्र समरूप होकर न्यायी राजा की शोभा को धारण कर रहा था, कहीं अंधकार का भेदन कर मुनिराज के मानस समान स्वच्छ प्रतीत हो रहा था। कहीं नाना तरंगों के उत्थान/पतन से अनेक भङ्गों से युक्त अनेकान्त सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए के समान, कहीं रत्नहार मोतियों की माला से युक्त स्त्रियों के स्तनरूपी तट जैसा दिखलाई पड़ता। जल के मध्यस्थल भाग में असंख्य रत्न, महामूल्यवान माणिक्य, शङ्ख आदि भरे पड़े थे। वह उन्हें कृपण के समान कभी-कभी बाहर दिखला रहा था अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई कंजूस व्यक्ति अपने अपरिमित धन को छिपा कर रखता है, उसी प्रकार सागर भी अमूल्य-रत्नों को अपनी क्रोड/गोद में छुपाये था, भयभीत सा यदा-कदा उन्हें दर्शा रहा हो ऐसा

को (निर्यापकगिरा) भीषण गर्जना से सहित (क्वचित्) कहीं (कर्पूरादि-द्रुमस्पर्शि-सुगन्धायात-मारूतम्) कर्पूर आदि वृक्षों से स्पर्शित सुगंधित आई हुई वायु से सहित (वारिधिम्) समुद्र को (पश्यन्तः) देखते हुए (यानपात्रेण) जहाज के द्वारा (ते) वे सभी (यान्ति) जा रहे हैं ।

एवं यावदभूत्तावत् सार्थवाहः स्मरातुरः ।
जिनदत्तप्रियारूपं समालोक्य समाकुलम् ।।६।।

अन्वयार्थ–(एवं) इस प्रकार (यावद्) जब तक (सार्थवाहः) व्यापारियों का मुखिया समुद्रदत्त (जिनदत्तप्रियारूपं) जिनदत्त की पत्नी के रूप को (समालोक्य) देखकर (स्मरातुरः) काम से आतुर/पीड़ित होता है (तावत्) तब वह (समाकुलम्) आकुल-व्याकुल हो जाता है ।

भोजनं शयनं पानं वचनं कार्यचिन्तनम् ।
तन्मुखाम्भोज-सक्तस्य सकलं ज्वलनायितम् ।।७।।

अन्वयार्थ–(तन्मुखाम्भोज-सक्तस्य) उसके मुखरूपी कमल में आसक्त उस सेठ का (भोजनं) भोजन, (शयनं) सोना, (पानं) पीना, (वचनं) बोलना, (कार्यचिन्तनं) कार्य का विचार करना (सकलं) सभी (ज्वलनायितम्) अग्नि के समान संताप उत्पन्न करने वाले हो गए।

समीरयन्ति कामाग्निं वेलावनसमीरणाः ।
तस्य तां ध्यायमानस्य शून्यस्येव दिवानिशम् ।।८।।

अन्वयार्थ–(वेलावनसमीरणाः) किनारे के वन की हवाएँ (कामाग्निं) कामरूपी अग्नि को (समीरयन्ति) और अधिक प्रज्वलित कर रही थीं (तां) उसको (ध्यायमानस्य) ध्याने वाले (तस्य) उसके (दिवानिशम्) दिन-रात (शून्यस्य इव) शून्य के समान जान पड़ते थे ।

जान पड़ता था । कभी उत्सुक करने वाली भीषण ध्वनि सुनाई पड़ती । उधर वायु के मन्द-मन्द झोकों से कर्पूर आदि वृक्षों से स्पर्शित सुगन्ध आ रही थी अर्थात् शीतल सुरभित अगर-तगर, कपूर चन्दनादि वृक्षों का स्पर्श कर पवन आनन्दमय सुरुभि बिखेर रही थी, इस तरह समुद्र की शोभा को देखते हुए वे सब जहाज द्वारा जा रहे हैं ।।१,२,३,४,५।।

[श्रीमति को देखकर समुद्रदत्त सेठ का कामातुर होना]

ज्यों-ज्यों यान बढ़ता जाता, चारों ओर अनोखा दृश्य दिखलाई देता है, इस प्रकार का उन्मादक वातावरण कामियों को उत्तेजित करने लगा । उसी समय सार्थवाह की दृष्टि जिनदत्त की रमणी पर जा पड़ी । फिर क्या था ? नयनपात मात्र से वह उसके रूप लावण्य पर मुग्ध हो गया । तब कामवेग से उसे पाने को आतुर हो उठा ।।६।। कामबाण से घायल सार्थवाह, श्रीमती के मुखकमल पर आसक्त हो सब सुध-बुध भूल गया । उसे भोजनपान, शयन, वार्तालाप करना, कुछ भी कार्य विचारना अग्निज्वाला की दाह के समान पीड़ाकारक हो गए ।।७।।

वह रात-दिन उसी का ध्यान करने लगा । उसकी कामाग्नि को सागर की शीतल-तटीय वन की सुगंधी भरी हवाएँ और अधिक-अधिक दहकाने का काम कर रही थीं । उसे दिन-रात शून्य के समान दिखने लगा ।।८।।

दृष्टं सहस्रशो रूप-मबलानां मया भुवि।
तदस्याश्चरणाङ्गुष्ठ-लावण्येनापि नो समम् ॥९॥

अन्वयार्थ–(मया) मेरे द्वारा (भुवि) पृथ्वी पर (अबलानां) स्त्रियों के (सहस्रशः) हजारों (रूपं) रूप/काय सौन्दर्य (दृष्टं) देखे गए किन्तु (तत्) वह (अस्याः) इस श्रीमति के (चरणाङ्गुष्ठ-लावण्येन) पैरों के अंगूठे के लावण्य/सौंदर्य के (समम्) समान (अपि) भी (नो) नहीं हैं।

धन्यः स एव संसारे सालसायतलोचना।
बलित्वा[1] वीक्षते विश्व-सुभगं यमियं स्वयम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(यं) जिस (विश्व-सुभगं) संसार में सुंदर मनुष्य को (सा अलसायत-लोचना) वह अलसाए हुए विशाल लोचनवाली (इयं) यह (स्वयं) खुद (बलित्वा) कटाक्ष करके लालसा भरी दृष्टि से (वीक्षते) देखती है (स एव संसारे धन्यः) वह ही संसार में धन्य है।

ममेयं जगदानन्द-दायिनी वशवर्त्तिनी।
केनोपायेन जायेत जीवितव्यफलं लघु ॥११॥

अन्वयार्थ–(इयं) यह (जगदानन्द-दायिनी) जगत को आनंद देने वाली (मम) मेरे (वशवर्त्तिनी) वश मे रहने वाली (केन उपायेन) किस उपाय से (लघु) शीघ्र ही (जायेत) हो (जीवितव्य-फलं) जिससे मुझे जीने का फल (जायेत) प्राप्त हो।

अथवा विद्यते यावत् कुमारो वीरसत्तमः।
तावदस्याः सुखालोकं न कृतं मुखपङ्कजम् ॥१२॥

अन्वयार्थ–(अथवा) और (यावत्) जब तक (वीरसत्तमः) वीर नरोत्तम (कुमारः) कुमार (विद्यते) है (तावत्) तब तक (अस्याः) इस सुन्दरी के (मुखपङ्कजं) मुखकमल को (सुखालोकं) सुखपूर्वक देखना (न कृतं) नहीं किया जा सकता।

वह किंकर्त्तव्य विमूढ़-सा विचारने लगा, मैंने संसार में हजारों, एक से एक बढ़कर सुन्दरियों को देखा है किन्तु उन सबका रूप इस परम नयनाभिराम रमणी के पैर के अंगूठे की शोभा के समान भी नहीं है ॥९॥

वस्तुतः संसार में वह पुरुष धन्य है, जो अलसाये नेत्रों वाली इस सुभग नारीरत्न का अवलोकन करता है ॥१०॥

आगे विचारता है किस उपाय से यह जगत को आनंद देने वाली मेरे वश में हो सकती है? इसके वश में होने पर मेरा जीवन शीघ्र ही फलवान्/सफल होगा ॥११॥

अथवा यह विचार ही व्यर्थ है क्योंकि यह कुमार महान् है, वीर और नरोत्तम है। इसके जीते जी यह मेरे वश में कदापि नहीं हो सकती। इस नारीरत्न के मुखकमल का सुखावलोकन भी नहीं हो सकता ॥१२॥

---

१. कटाक्षैः कृत्वा।

निक्षिप्य तं दुरालोकं क्रूरनक्राकुले जले।
निश्चितं मानयिष्यामि संसारसुखमेतया ॥१३॥

अन्वयार्थ—(दुरालोकं) कठिनाई से देखने योग्य (क्रूरनक्राकुले जले) दुष्ट मगरमच्छ से व्याप्त इस समुद्र जल में (तं) उस कुमार को (निक्षिप्य) निक्षिप्त कर/गिराकर (निश्चितं) निश्चितरूप से (एतया) इससे/इसके साथ (संसारसुखं) संसार के सुख को (मानयिष्यामि) मानूँगा/भोगूँगा।

चिन्तयित्वेति तेनोक्तः कुमारादपरे जनाः।
कार्यं किमपि भाण्डादौ युष्माभिः पतितेन हि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (चिन्तयित्वा) विचार करके (तेन) उस सेठ ने (कुमारात्) कुमार से अतिरिक्त (अपरे जनाः) अन्य जनों से (उक्तः) कहा (हि) निश्चय से (युष्माभिः) तुम लोगों के द्वारा (भाण्डादौ) बर्तन-भांडे आदि के (पतितेन) गिराने से (किमपि) कुछ विशेष (कार्यं) काम है।

विभिद्येति समस्तांस्तान् क्षिप्तं किमपि वारिणि।
उदासीनेषु सर्वेषु कुमारोऽवततार सः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार उन सभी ने (तान् समस्तान्) उन सभी बर्तनों को (विभिद्य) छिन्न-भिन्न कर (किमपि) कुछ भी (वारिणि) पानी में (क्षिप्तं) डाला (सर्वेषु) सभी के (उदासीनेषु) उदास होने पर (सः) वह (कुमारः) कुमार (अवततार) नाव से नीचे समुद्र में उतरा।

ततश्छिन्ना वस्त्रा[1] तै वेंगतो गतवानसौ।
यथागाधजले पोतो वाहितश्च क्षणात्ततः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (तैः) उनके द्वारा (वस्त्रा) बीच में बंधी रस्सी (छिन्ना) काट दी गई (च) और (असौ) वह जिनदत्त (वेगतः) वेग से (यथा) जैसे ही (अगाधजले) गहरे जल में (क्षणात्) क्षण भर में (गतवान्) चला गया (ततः) वहाँ से (पोतः) नाव/जहाज (वाहितः) चला दी गई।

[समुद्रदत्त के द्वारा जिनदत्त को समुद्र में पटकना]

हाँ! इसे बिना किसी के जाने चुपके से मगरमच्छों से भरे सागर के जल में गिराकर निश्चिंत हो, इसके साथ संसार के सारभूत सुख का अनुभव करूँगा और अपने को सुखी मानूंगा ॥१३॥ इस प्रकार सोचकर वह सेठ कृत निश्चिय हुआ। उसी समय कुमार के अतिरिक्त अन्य जनों को बुलाया और आदेश दिया कि शीघ्र ही भाण्डादि को समुद्र में डालो, कुछ विशेष कार्य है ॥१४॥ सबने कुछ भी पानी में फेंकना शुरू किया। सबको खेद खिन्न और उदासीन देख कुमार सागर में क्या है? ज्ञात करने के लिए उतरा ॥१५॥

कुमार ज्यों ही उतरकर जल में पहुँचे, त्यों ही दुष्ट समुद्रदत्त ने उसके पकड़ने की रस्सी काट दी और वे निरालंब हो समुद्र में ही रह गये एवं जहाज को भी शीघ्रातिशीघ्र खिचवाकर/चलवाकर, वहाँ से बहुत दूर ले गया॥१६॥

---

१. मध्यबन्धनोपयोगिनी रज्जुः।

कुमार-पात-सञ्जात-शोक-शङ्कु-हता[1] हृदि ।
अजस्राश्रुप्रवाहेण प्लावितस्तन-मण्डला ॥१७॥
सा किंकर्त्तव्यतामूढा यावत्तिष्ठति सुन्दरी ।
तावदभ्येत्य सावादि सार्थवाहेन दुःखिता ॥१८॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(सा) वह (सुन्दरी) सुन्दरी श्रीमती (हृदि) हृदय में (कुमारपातसञ्जात-शोकशङ्कुहता) कुमार के गिरने से उत्पन्न शोकरूपी कील से घायल हुई (अजस्राश्रुप्रवाहेण) निरंतर अश्रु के प्रवाह से (प्लावित-स्तन-मण्डला) स्तनमण्डल को गीला करने वाली (यावत्) जब तक (किंकर्त्तव्यतामूढा) क्या करना चाहिए ? इस विषय में विमूढ़/विस्मृत/भूली-सी (तिष्ठति) रहती है (तावद्) तब तक (सार्थवाहेन) सार्थवाह ने उसके (अभ्येत्य) पास में आकर (सा) उस (दुःखिता) दुखियारी से (अवादि) कहा ।

शशाङ्कमुखि ! मा कार्षीः शोकं सन्तापकारणम् ।
सर्वाः सर्वप्रकारेण तवाशाः[2] पूरयाम्यहम् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(शशाङ्क-मुखि !) हे चन्द्रवदनी ! (सन्तापकारणं शोकं) सन्ताप को करने वाले शोक को (मा कार्षीः) मत करो (तव) तुम्हारी (सर्वाः) सभी (आशाः) आशाएँ (सर्वप्रकारेण) सभी प्रकार से (अहम्) मैं (पूरयामि) पूर्ण करूँगा ।

मयि तिष्ठति तन्वङ्गि-त्वदादेशविधायिनि ।
आयत्ते व समस्तार्थे किं वृथैव विषीदसि[3] ॥२०॥

अन्वयार्थ–(तन्वङ्गि) हे कृशांगी ! (त्वदादेशविधायिनि) तुम्हारे आदेश को करने वाले (मयि तिष्ठति) मेरे रहते हुए (समस्तार्थे) सभी प्रकार के पदार्थों के (आयत्ते) अधीन होने पर (वृथैव) व्यर्थ ही (किं) क्यों तुम (विषीदसि) दुखी होती हो ?

अम्बराणि विचित्राणि भूषणानि यथारुचि ।
गृहाण मद्गृहे सर्वं स्वामित्वं च शुभे कुरु ॥२१॥

अन्वयार्थ–(शुभे) हे शुभे ! (यथारुचि) अपनी रुचि के अनुसार (विचित्राणि) अनेक प्रकार के

कुमार उत्ताल तरंगों की गोद में जा छुपा, यह ज्ञात होते ही कुमारी का हृदय शोकरूपी अंकुश से छिन्न हो गया । मानो उसके उर को वज्र ने भेदन कर दिया । नयनों से अविरल अश्रुधारा बह चली । वह सुन्दरी श्रीमती जब तक क्या करना चाहिए ? इस विषय में विमूढ़-सी हो गई, तब तक सार्थवाह ने पास आकर उस दुखिया से कहा ॥१७,१८॥ हे चन्द्रमुखी ! संताप के कारण शोक मत करो, तुम्हारी जो भी कामनाएँ हैं, मैं उन सबको सभी प्रकार से पूर्ण करूँगा ॥१९॥ हे कृशांगी ! मेरे रहते हुए तुम्हें क्या कष्ट है ? मैं तुम्हारे आदेश का अनुयायी हूँ । सभी अर्थों का विधायक तुम्हारी आज्ञा की प्रतीक्षा करता हूँ, फिर क्यों व्यर्थ ही तुम दुखी होती हो ?॥२०॥

नाना चित्र-विचित्र वस्त्र और अनेक प्रकार के आभूषण मेरे घर में भरे पड़े हैं, उन सबको ग्रहण करो और हे शुभे ! सबका स्वामित्व स्वीकार करो अर्थात् घर मालकिनी बनकर सब पर आज्ञा

---

१. कीलक । २. इच्छाः । ३. क्लाम्यसि ।

(अम्बराणि) वस्त्रों को (भूषणानि) आभूषणों को (मद्गृहे) मेरे घर में (गृहाण) ग्रहण करो (च) और (सर्वं) सभी (स्वामित्वं) स्वामीपने को (कुरु) स्वीकार करो।

भुङ्क्ष्व भोगान्मया साकं[1] बाले ! वाञ्छातिरेकतः।
सम्पन्नसर्वसामग्र्यं सफलीकुरु यौवनम् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(बाले) हे बाले ! [मेरे लिए] (अतिरेकतः) उत्कंठा से (वाञ्छ) चाहो (मया साकं) मेरे साथ (भोगान् भुङ्क्ष्व) भोगों को भोगो (सम्पन्न-सर्व-सामग्र्यं) सभी सामग्री से परिपूर्ण (यौवनं) को (सफलीकुरु) सफल करो।

अत एव मया मुग्धे ! जिनदत्तः प्रपञ्चतः।
पयोनिधौ परिक्षिप्तस्त्वत्सङ्गाहितचेतसा ॥२३॥

अन्वयार्थ–(मुग्धे) हे मोहिते ! (अतएव) इसलिए ही (त्वत्सङ्गाहित-चेतसा) तुम्हारे समागम में लगे चित्त वाले (मया) मैंने (जिनदत्तं) जिनदत्त को (प्रपञ्चतः) मायाचार से (पयौनिधौ) समुद्र में (परिक्षिप्तः) गिरवाया है।

अतः कान्ते गताशङ्का सविलासं समं मया।
रतसौख्यं भजाजन्म सर्वबाधाविवर्जितम् ॥२४॥

अन्वयार्थ–(कान्ते) हे सुन्दरी ! (अतः) इसलिए (गताशङ्का) शंका रहित (मया समं) मेरे साथ (सविलासं) विलास सहित (आजन्म) जन्म पर्यंत (सर्वबाधाविवर्जितम्) सब बाधाओं से रहित (रतसौख्यं) सुरत/कामवासना के सुख को (भज) प्रीतिपूर्वक सेवन करो।

तन्निशम्य नराधीश-सुतया विधुतं[2] शिरः।
चिन्तितं च क्षतेऽनेन क्षीर्णः क्षारोऽतिदुःसहः ॥२५॥

अन्वयार्थ–(नराधीश-सुतया) उस राजपुत्री ने (तन्निशम्य) उस सेठ के वचनों को सुनकर (शिरः) सिर को (विधुतं) धुना/हिलाया/पीटा (च) और (चिन्तितम्) विचार किया (अनेन) इस सेठ

चलाओ, मेरी गृहिणी बनो ॥२१॥ हे बाले ! मेरे लिए उत्कंठा से चाहो, मेरे साथ मनोवाञ्छित भोगों को भोगो, समस्त सामग्री से परिपूर्ण यौवन को सफल करो ॥२२॥

हे मुग्धे ! मैंने तेरी इसी यौवन की बहार लूटने के लिए और तुझे सभी प्रकार से सुखी बनाने के लिए ही छलपूर्वक जिनदत्त को समुद्र में गिरा दिया है ॥२३॥

हे सुन्दरी ! इसलिए शोक का त्यागकर शंका रहित मेरे साथ विलास सहित जन्म पर्यंत निर्बाध रतिसुख को प्रीतिपूर्वक सेवन करो ॥२४॥

[सेठ के छल को जानकर फिर श्रीमति का अति दुखी होना]

पापी सेठ की इन बातों को सुनकर राजपुत्री श्रीमति ने अपने सिर को धुनते-पीटते हुए सोचा, हाय ! इस सेठ को अब तक पिता तुल्य समझती थी, पर वही पापी निकला। इसी कामांध सेठ ने अपने व्यभिचार के पोषणार्थ मेरे पति को समुद्र में गिरा दिया है और फिर अब पाप का प्रस्ताव कर

---

१. सह। २. कम्पितं।

ने जो (क्षते) घाव पर (क्षारः) क्षार/नमक (क्रीर्णः) डाला है वह (अतिदुःसहः) भारी कठिनता से सहन करने योग्य/अत्यन्त दुःसह है।

कृत्याकृत्यमविज्ञाय कामान्धेन कथं वृथा।
नीलोत्पलदलैः कष्टं कुकूलं[1] किल कल्पितम् ॥२६॥

अन्वयार्थ—(कष्टं) कष्ट है (कृत्याकृत्यम्) करने योग्य और न करने योग्य को (अविज्ञाय) नहीं जानकर इस (कामान्धेन) कामान्ध के द्वारा (कथम्) क्यों (वृथा) व्यर्थ ही (नीलोत्पलदलैः) नीलकमल के पत्तों से (किल) नियम से (कुकूलं) पृथ्वीतट को (कल्पितम्) बनाया है।

जिनदत्तनिशानाथं कुर्वतो मे तिरोहितम्।
केन वाहो[2] पिशाचस्य मुखमेतस्य दृश्यते ॥२७॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है! (मे) मेरे (जिनदत्तनिशानाथं) जिनदत्तरूपी चंद्रमा को (तिरोहितम्) तिरोहित (कुर्वतः) करने वाले (केन वा) किस कारण से (एतस्य) इस (पिशाचस्य) पिशाच के (मुखम्) मुख को (दृश्यते) देखना पड़ रहा है।

अथवा सर्वपापाना-महमेव निबन्धनम्।
मद्रुपासक्तचित्तेन यदनेन स नाशितः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(अथवा) और (सर्वपापानाम्) सभी पापों का (निबन्धनम्) कारण (अहम्) मैं (एव) ही (अस्मि) हूँ (यत्) क्योंकि (मद्रूपासक्त-चित्तेन अनेन) मेरे रूप में आसक्त चित्त इस सेठ के द्वारा (सः) वह (नाशितः) नाश किया गया अर्थात् इसने उन मेरे पति जिनदत्त को समुद्र में गिराया है।

खण्डयित्वा द्विजैर्जिह्वां दत्वोत्फालं जलेऽथवा।
असिपुत्रिकया[3] हत्वा किमात्मानमहं म्रिये ॥२९॥

अन्वयार्थ—(किं) क्या (अहं) मैं (द्विजैः) दाँतों के द्वारा (जिह्वां) जीभ को (खण्डयित्वा) खण्ड-खण्ड करके (जले) जल में (उत्फालं दत्वा) कूंदकर (अथवा) वा (असिपुत्रिकया) तलवार की पुत्री—कटार द्वारा (आत्मानम्) अपने आप को (हत्वा) मारकर (म्रिये) मरूँ?

घाव में नमक छिड़क रहा है ॥२५॥ कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य कामान्ध के द्वारा व्यर्थ ही मुझे आपद् ग्रस्त किया है, सुन्दर नीलकमल के पत्तों द्वारा नियम से पृथ्वीतट के समान कष्ट कल्पित किया है अर्थात् जो कमल जिनदत्तरूपी चंद्रदर्शन से प्रफुल्लित होते थे क्या उसके छुप जाने पर प्रफुल्लित रह सकते हैं? कभी नहीं ॥२६॥ मेरे पतिदेवरूपी चंद्रमा को मेरे नयनों से दूर किया, आश्चर्य है मैं किस कारण से इस पिशाच के मुख को देख रही हूँ ॥२७॥ पुनः वह विचार करती है इन समस्त दुष्कर्मों का हेतु निमित्त मैं ही हूँ क्योंकि मेरे इस रूप लावण्य पर आसक्त होकर ही इसने मेरे पतिदेव को समुद्र में गिराया है ॥२८॥

[श्रीमति द्वारा आत्मघात का विचार]

दाँतों के द्वारा जीभ को खण्ड-खण्ड करके, जल में कूदकर या फिर कटार के द्वारा क्या मैं अपने आपको मारकर मरूँ? ॥२९॥

---

१. पृथ्वीतटम्। २. अत्र वाशब्दो इवार्थे। ३. खड्गेन।

अथवा धिगिमं तेन धर्मज्ञेन निवारिता।
आत्मघातं विलम्बे वा मा कदाचित्तदागमः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(अथवा) और (इमम्) इस विचार को (धिक्) धिक्कार हो (धर्मज्ञेन) धर्म को जानने वाले (तेन) उन पतिदेव जिनदत्त ने (मा) मुझे (आत्मघातं) आत्मघात को (निवारिता) मना किया था (वा) तथा (विलम्बे) विलम्ब–आत्मघात नहीं करने पर (कदाचित्) कभी भी (तदागमः) उनका आगमन हो सकता है।

शीलं पालयतां सम्यक् स्थिराणामिह वाञ्छितम्।
भूयोऽपि सम्भवत्येव सीतादीनामिव ध्रुवम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(अपि) और (इह) इसलोक में (शीलं) शील को (सम्यक्) अच्छी तरह (पालयतां) पालन करने वाले के (स्थिराणां सीतादीनां इव) स्थिर सीता सती आदि के समान मन चाहे (वाञ्छितं) इच्छित कार्य/मनोरथ (भूयः) बारबार (ध्रुवम्) नियम से (संभवति एव) होते ही हैं।

विदधामि तदेतस्य कामार्त्तस्याशु वञ्चनम्।
भावि भद्रं प्रियप्राप्ता-वन्यथा स्यात्तपोवने ॥३२॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस (एतस्य) इस (कामार्त्तस्य) काम से पीड़ित सेठ का (आशु) शीघ्र ही (वञ्चनम्) छलना/तिरस्कार (विदधामि) करती हूँ (भावि) भविष्य में (प्रियप्राप्तौ) प्रियपति की प्राप्ति होने पर (भद्रं) मंगल (भावि) होगा (अन्यथा) अन्य प्रकार से [पति के समागम न होने पर] (तपोवने स्यात्) तपोवन में निवास ठीक होगा।

सम्भाव्येति तयाभाणि-सूक्तमेतत्तवोदितम्।
वज्रशृङ्खलतुल्यन्तु वाचा बन्धनमस्ति ते ॥३३॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (संभाव्य) विचार कर (तया) उसने (अभाणि) कहा (एतत्) यह (तवोदितम्) तुम्हारा कहा हुआ (सूक्तम्) ठीक है (तु) किन्तु (ते वाचा) तुम्हारे वचन से (वज्र-शृङ्खल-तुल्यम्) वज्र की सांखल के समान (बन्धनम् अस्ति) बंधन है।

[पति जिनदत्त की शिक्षा को यादकर आत्मघात से विमुख हो सतित्व के पालने का विचार]

अरे! नहीं! नहीं! मेरे इस विचार को धिक्कार हो। धर्मज्ञ, मेरे पतिदेव ने आत्मघात को पाप बताकर उसको करने के लिए मना किया था। आत्मघात में विलंब अर्थात् आत्मघात नहीं करने पर उनका कभी आगमन/मिलाप हो सकता है ॥३०॥ इसलिए मैं धर्म-कर्म में दृढ़ हो शील पालन करती हूँ। जो शील का पालन करते हैं, उनको इसभव-परभव दोनों में सुख ही सुख मिलता है, उनकी सर्वत्र सब इच्छाएँ पूरीं होती हैं। सीता, अंजना आदि ने शीलव्रत में दृढ़ रहकर कैसा सुख पाया? इसलिए मेरा शीलव्रत में दृढ़रहने का पक्का निश्चय है ॥३१॥ पर यह कामार्त्त पापी इस तरह न मानेगा, इसका किसी न किसी तरह वंचन करके अपना काम निकालना चाहिए। समुद्र पार पहुँचकर पति का कुछ पता लगेगा तो ठीक है, नहीं तो फिर तपोवन ही शरण है ॥३२॥ इस प्रकार विचार कर उस सुंदरी ने सेठ से कहा कि आपका कहा हुआ ठीक है, परन्तु तुम्हारा वचन वज्र शृंखला की भाँति बंधन स्वरूप ही है ॥३३॥

श्वशुरोऽयं तवेत्युक्तं त्वत्पुत्रेण पुरो मम।
अतोऽस्ति ताततुल्याय रन्तुं मे जायते घृणा ।।३४।।

अन्वयार्थ–(अयम्) यह (तव) तुम्हारा (श्वसुरः) ससुर (अस्ति) है (इति) इस प्रकार (पुरः) पहले (मम) मुझे (त्वत्पुत्रेण) तुम्हारे पुत्र जिनदत्त ने (उक्तम्) कहा था (अतः) इसलिए (तात-तुल्याय) पिता के समान आपके साथ (मे) मुझे (रन्तुं) रमण करने में (घृणा) ग्लानि (जायते) उत्पन्न होती है।

प्रतिपन्नं न मुञ्चन्ति प्राणत्यागेऽपि सन्नराः।
यथा सागर एवायं मर्यादां विजहाति किम् ।।३५।।

अन्वयार्थ–(सन्नराः) उत्तमपुरुष (प्राणत्यागे अपि) प्राणों के त्याग होने पर भी (प्रतिपन्नं) प्राप्त की हुई प्रतिज्ञाओं को (न मुञ्चन्ति) नहीं छोड़ते (यथा) जैसे (अयं सागरः) यह समुद्र (मर्यादां) मर्यादा को (किं विजहाति) क्या छोड़ता है ? अर्थात् नहीं छोड़ता।

स्वकुले विमले सम्यक् हेयाहेयौ विजानता।
सम्पर्केण परस्त्रीणां कलङ्कः क्रियते कथम् ।।३६।।

अन्वयार्थ–(विमले) निर्मल (स्वकुले) अपने कुल में (हेयाहेयौ) छोड़ने योग्य न छोड़ने योग्य को (सम्यक्) भली-भाँति (विजानता) जानते हुए भी आपके द्वारा (परस्त्रीणां) पर स्त्रियों के (सम्पर्केण) संपर्क से (कलङ्कः) कलंक (कथं) कैसे (क्रियते) किया/लगाया जा रहा है ?

अकर्त्तव्ये कथं चित्त-मीदृशे भजतां मम।
उत्साहं तादृशे जन्म स्मरन्त्याः स्वकुलेऽधुना ।।३७।।

अन्वयार्थ–(अधुना) इस समय (तादृशे) वैसे (स्वकुले) अपने अच्छे कुल में (जन्म) जन्म को (स्मरन्त्याः) स्मरण करती हुई (मम) मेरा (चित्तं) मन (ईदृशे) इस प्रकार के (अकर्त्तव्ये) अकर्त्तव्य में (कथम्) कैसे (उत्साहं) उत्साह को (भजतां) कर सकता है ?

सार्थवाहस्तदाकर्ण्य तामुवाच मनस्विनि।
जानाम्येवं तथाप्युच्चै-र्मामभिद्रवति स्मरः ।।३८।।

अन्वयार्थ–(सार्थवाहः) व्यापारियों का मुखिया समुद्रदत्त सेठ ने (तदाकर्ण्य) उसके वचनों को

आप मेरे श्वसुर के समान हैं। आपके पुत्र तुल्य, जिनदत्त पतिदेव ने मेरे सामने आपको पिता कहा था, इस दृष्टि से आप मेरे भी पिता हो, पिता तुल्य आपके साथ रमण करने में मुझे घृणा होती है ।।३४।।

[सती श्रीमति द्वारा सेठ समुद्रदत्त को शिक्षा देना]

सत्पुरुष प्राणों के त्याग होने पर भी की हुई प्रतिज्ञाओं को नहीं छोड़ते, जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोड़ता है ।।३५।। फिर आप निर्मल कुल में उत्पन्न हेय-उपादेय को अच्छी तरह जानने वाले होकर भी परस्त्रियों के संपर्क से अपने कुल को कलंकित क्यों करते हो ? ।।३६।। मैं इस समय श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होने को यादकर मेरा मन इस प्रकार के अकर्त्तव्य में सोत्साह अग्रसर नहीं होता ।।३७।। समुद्रदत्त सेठ उस राजपुत्री के वचनों को सुनकर बोला–अयि मनस्विनि ! तू जो कुछ भी इस

सुनकर (तां उवाच) उसको बोला (मनस्विनि) हे मनस्विनि! (एवम्) इस प्रकार (जानामि) जानता हूँ (तथापि) तो भी (माम्) मुझे (स्मरः) काम (उच्चैः) अत्यधिक (अभिद्रवति) उपद्रवित/ पीड़ित कर रहा है।

मामयं मोहयामास तथा कामो यथा शुभे।
लज्ञायशोविवेकाद्याः स्पृश्यन्ते मनसा न मे ॥३९॥

अन्वयार्थ—(शुभे) हे शुभे! (माम्) मुझे (अयम्) इस (कामः) काम ने (तथा) उस तरह (मोह-यामास) मोहित किया है (यथा) जिससे (मे) मेरे (मनसा) मन से (लज्ञायशोविवेकाद्याः) लज्ञा, यश, विवेक आदि (न स्पृश्यन्ते) स्पर्श नहीं किए जाते/छुए नहीं जाते।

कन्दर्प-सर्प-दष्टस्य मूर्च्छितो मे मुहुर्मुहुः।
समस्तोपाय-मुक्तस्य दीयतां सुरतामृतम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(कन्दर्प-सर्प-दष्टस्य) कामरूपी सर्प से डसे (मुहुर्मुहुः) बार-बार (मूर्च्छितः) मूर्च्छित हुए (समस्तोपाय-मुक्तस्य) सभी उपायों से रहित (मे) मेरे लिए (सुरतामृतम्) सुरतरूपी अमृत को (दीयतां) देओ।

एकान्तेन न चाकार्य-मेतत्तव तनूदरि।
श्रूयते हि पुराणेषु श्रुतौ चैव सहस्रशः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(तनूदरी) हे कृशोदरी! (च) और (तव) तुम्हारा (एतत्) यह पर-पुरुष सेवन या पर-स्त्री सेवन का कथन (एकान्तेन) एकान्त से (अकार्यं न) नहीं करने योग्य अकार्य नहीं है (हि) क्योंकि (पुराणेषु) पुराणों में (च) और (श्रुतौ) श्रुति में (एव) ही (सहस्रशः) हजारों बार (श्रूयते) सुना जाता है।

द्रौपदी मुदिता भ्रातृ-पञ्चकं जगदुत्तमम्।
तातादिविदिता चक्रे कृतार्थं कामकेलिभिः ॥४२॥

अन्वयार्थ—(तातादिविदिता) पिता-माता आदि को विदित/जानकारी होने पर भी (मुदिता)

समय कह रही है, वह सब सच है, उसे मैं रत्ती-रत्ती भर जानता हूँ, तो भी क्या करूँ? मुझे काम अत्यधिक पीड़ित कर रहा है ॥३८॥ हे शुभे! इस समय यह कामज्वर का वेग इतनी तीव्रता प्राप्त कर चुका है कि इससे अभिभूत मेरे मन को लज्ञा, यश, विवेक आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ॥३९॥ हे कल्याणि! कामरूपी सर्प से डसा मैं बार-बार उस विष से मूर्च्छित हो रहा हूँ, सभी उपायों से रहित, मेरे लिए सुरतरूपी अमृत को प्रदान करो, तुम्हारा प्रेमरस ही मेरे जीवन का उपाय है ॥४०॥

[सेठ समुद्रदत्त द्वारा मिथ्या शास्त्रों की दलील]

तुमने जो इस परपुरुष सेवन को अकार्य बतलाया, वह कथंचित् ठीक है पर सर्वथा वह अकार्य ही नहीं है। ऐसे सैकड़ों और हजारों दृष्टांत श्रुति और पुराणों में मिलते हैं, जो एक पुरुष के सिवा अन्य कई पुरुषों से स्त्री के भोग करने पर भी वह सती ही बनी रही, उसका शीलव्रत दूषित नहीं हुआ ॥४१॥ देखो! द्रौपदी ने अपने पिता, पुत्र तुल्य युधिष्ठिर, नकुल आदि अपने पति अर्जुन के सिवा शेष चारों

हर्षपूर्वक (द्रौपदी) द्रौपदी ने (जगदुत्तमम्) जगत में उत्तम (भ्रातृपञ्चकं) युधिष्ठिर आदि पाँचों भाईयों को (कामकेलिभिः) काम-क्रीड़ाओं के द्वारा (कृतार्थं) कृतार्थ (चक्रे) किया।

समस्तस्मृतिशास्त्रज्ञो नरामरनमस्कृतः।
भारद्वाजतपो[1] जातो नैव किं भ्रातृजायया ॥४३॥

अन्वयार्थ—(समस्त-स्मृतिशास्त्रज्ञः) सम्पूर्ण स्मृति शास्त्रों के ज्ञाता (नरामर-नमस्कृतः) मनुष्यों और देवों से नमस्कृत (भारद्वाजतपः) भारद्वाज नामक तापसी (किं) क्या (भातृजायया) भावी के साथ रमण को (नैव) नहीं (जातः) गया?

स्त्रियं वा पुरुषं वापि स्वयमेव समागतम्।
भजते यो न तस्यास्ति ब्रह्महत्या निशंसयं ॥४४॥

अन्वयार्थ—(स्त्रियं वा) स्त्री हो अथवा (पुरुषं) पुरुष हो (स्वयमेव समागतम् अपि) स्वयं ही आए हुए को भी (यः) जो (न भजते) सेवन नहीं करता (तस्य) उसके (निशंसयम्) संशय रहित (ब्रह्महत्या) ब्रह्मघात का पाप (अस्ति) है।

तयावाचि महाबुद्धे वक्तुमेवं न युज्यते।
शस्यते न हि केनापि स्नुषा-श्वशुर[2]-सङ्गमः ॥४५॥

अन्वयार्थ—(तया) उसने (अवाचि) कहा (महाबुद्धे) हे महाबुद्धिमन्! (एवं) इस प्रकार (वक्तुं) कहना (न युज्यते) ठीक नहीं है (हि) क्योंकि (केन अपि) किसी के द्वारा भी (स्नुषा-श्वसुर-सङ्गमः) पुत्रवधू और श्वसुर का समागम (न शस्यते) प्रशंसनीय नहीं है।

द्रौपद्याद्या महासत्यः पवित्रीकृतभूतलाः।
विषयान्धेन केनापि तद्वृत्तं कृतमन्यथा ॥४६॥

अन्वयार्थ—(द्रौपद्याद्याः महासत्यः) द्रौपदि आदि महासतियाँ हुई हैं जिन्होंने (पवित्रीकृतभूतलाः) अपने शील धर्म के प्रभाव से समस्त पृथ्वीतल को पवित्र किया है किन्तु (केन) किसी (विषयान्धेन) विषयान्ध के द्वारा (तद्वृत्तं अपि) उनका चरित्र भी (अन्यथा) अन्य प्रकार से विपरीत (कृतम्) किया गया।

पांडवों से भी यथेष्ट काम-क्रीड़ायें कीं, पर उसे कोई व्यभिचारिणी नहीं कहता। सब लोग सती साध्वी कहकर ही पुकारते हैं ॥४२॥ समस्त स्मृति और पुराणों के वेत्ता, देवेंद्र, नरेंद्रों से वंदनीय भारद्वाज मुनि की कथा क्या तुझे नहीं मालूम है? वे इतने भारी विद्वान् होने पर भी अपनी भावज के साथ संभोग करने में सन्नद्ध हुए थे ॥४३॥ इसके सिवा यह शास्त्र का भी वचन है कि जो पुरुष व स्त्री स्वयं इच्छाकर आए हुए पुरुष एवं स्त्री के साथ संभोग नहीं करता, उसको अवश्य ही ब्रह्महत्या लगती है, इसमें कोई भी संदेह नहीं है ॥४४॥ उस सेठ के वचनों को सुनकर उस श्रीमती ने कहा—हे महाबुद्धिमान! इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि किसी के द्वारा भी पुत्रवधू और श्वसुर का समागम प्रशंसनीय नहीं है ॥४५॥ द्रौपदि आदि महासतियों ने अपने शीलधर्म के प्रभाव से समस्त पृथ्वीतल को पवित्र किया। किसी विषयान्ध के द्वारा ही उनका चरित्र भी अन्य प्रकार से दूषित किया है ॥४६॥

१. गौतमर्षिः। २. "स्नुषा पुत्रवधूः"।

भारद्वाजादिदृष्टान्तः प्रमाणं न हि जायते।
भवादृशा दुराचाराः पुराप्यासन्न किं नराः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(भारद्वाजादि-दृष्टांतः) भारद्वाज आदि के दृष्टांत (हि) निश्चितरूप से (प्रमाणं) प्रमाण रूप (न जायते) नहीं हो सकते क्योंकि (पुरा अपि) पहले भी (किं) क्या (भवादृशा) आप जैसे (दुराचाराः) दुराचारी (नराः) मनुष्य (न आसन्) नहीं थे ?

स्वयमेवागतेत्यादि युक्तं यदि सुभाषितम्।
पारदारिक-लोकस्य शिरच्छेदादिकं कृतम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(स्वयमेवागतेत्यादि) स्वयं आए स्त्री-पुरुष इत्यादि का संभोग (यदि) अगर (युक्तं) ठीक है तो (पारदारिक-लोकस्य) परदारा आसक्त लोगों का (शिरच्छेदादिकं) शिरच्छेद आदि (कृतम्) किया हुआ (सुभाषितम्) कहा गया है।

पीडितोऽपि न चाकृत्यं कुरुते जातु सात्त्विकः।
यत्किंचिदेव किं सिंहः क्षुधाक्षीणोऽपि खादति ॥४९॥

अन्वयार्थ—(सात्विकः) सात्विक प्रकृति वाले लोग (जातु) कभी भी (पीड़ितः अपि) पीड़ित होने पर भी (अकृत्यं) अकार्य—न करने योग्य कार्य को (न कुरुते) नहीं करते (च) और (किं) क्या (क्षुधाक्षीणः अपि) क्षुधा से दुर्बल (सिंहः) शेर (यत्किंचित्) चाहे जो कुछ भी (खादति) खाता है ? अर्थात् नहीं खाता।

भिन्दंति हृदयं यस्य कटाक्षै-रभिसारिकाः।
तमीर्ष्ययेव मुच्चन्ति लोकद्वितय-सम्पदः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(अभिसारिकाः कटाक्षैः) व्यभिचारिणी स्त्रियाँ कटाक्षों से (यस्य) जिसके (हृदयं) हृदय को (भिन्दंति) भेदती हैं (तं) उसको (ईष्यया इव) मानों ईर्ष्या से ही (लोकद्वितयसम्पदः) दोनों

भारद्वाज आदि का दृष्टांत निश्चितरूप से प्रमाण रूप नहीं हो सकते क्योंकि आप सरीखे दुराचारियों का इस पृथ्वी पर से कभी लोप नहीं हुआ। पहले भी वे विद्यमान थे ॥४७॥

और अपने आप स्वयं आए हुए पुरुष और स्त्री के न भोगने से ब्रह्महत्या के समान पाप होने का भय दिखलाने वाला शास्त्र -वाक्य सुनाया, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके ठीक होने पर तो व्यभिचार कोई पाप ही नहीं ठहरता और जब पाप नहीं, तब उसी शास्त्र में व्यभिचारियों को शिरच्छेद आदि दिये जाने वाले दंडों का विधान भी अनुपयुक्त ठहरता है ॥४८॥

जो सात्विक—प्रकृति वाले धर्मात्मा पुरुष होते हैं, वे एक की तो बात क्या हजारों कष्टों के आने पर भी कभी अयोग्य कृत्य में प्रवृत्त नहीं होते। जैसे कितने भी कष्ट आ पड़ें और कैसी भी भूख लग रही हो, पर सिंह कभी अपने आहार के अयोग्य विष्टा आदि नहीं खा सकता ॥४९॥

जिन पुरुषों के कमजोर, दीन हृदय पुंश्चली/व्यभिचारिणी स्त्रियों के कटाक्ष बाणों से विद्ध हो खंड-खंड हो जाते हैं, अपने सुकृत्य को छोड़ उनकी आग में जलने लगते हैं, तो जिस प्रकार दूसरी स्त्री से सेवित पुरुष को पहली स्त्री ईर्ष्या की दृष्टि से देखकर निकलती है, उसी प्रकार उन पुरुषों को

लोकों की सम्पदाएँ (मुञ्चन्ति) छोड़ देती हैं ।

अन्यस्त्रीभ्रूधनुर्मुक्त - कटाक्ष - शरपङ्क्तिभिः ।
न शील-कवचं भिन्नं येषां तेभ्यो नमो नमः ॥५१॥

अन्वयार्थ–(येषां) जिनका (अन्यस्त्री-भ्रू-धनुर्मुक्त-कटाक्ष-शर-पङ्क्तिभिः) अन्य नारी के भृकुटिरूपी धनुष से छोड़े हुए कटाक्षरूपी बाणों की पंक्ति के द्वारा (शीलकवचं) शीलरूपी कवच (भिन्नं न) भिन्न नहीं हुआ (तेभ्यः) उनके लिए (नमो नमः) बार-बार नमस्कार हो ।

मालिन्यं स्वकुले येन जायते दूष्यते यशः ।
तत्कृत्यं क्रियते केन स्वस्य सौख्यसमीहया ॥५२॥

अन्वयार्थ–(येन) जिससे (स्वकुले) अपने कुल में (मालिन्यं) मलिनता (जायते) होती है (यशः) यश (दूष्यते) दूषित होता है (तत्कृत्यं) वह कार्य (स्वस्य) स्वयं के (सौख्य-समीहया) सुख प्राप्त करने की इच्छा से (केन) किसके द्वारा (क्रियते) किया जाता है ? अर्थात् किसी बुद्धिमान के द्वारा नहीं किया जाता है ।

कलत्रसंग्रहः पुंसां सतां सन्तान-वृद्धये ।
तत्रैवान्ये समासज्य नरके निपतन्ति हि ॥५३॥

अन्वयार्थ–(सतां पुंसां) सज्जन पुरुषों का (कलत्र-संग्रहः) स्त्री का सम्यक् ग्रहण (सन्तानवृद्धये) संतान की वृद्धि के लिए है (अन्ये) अन्य लोग (तत्र एव) उसी में ही (समासज्य) आसक्त होकर (हि) नियम से (नरके) नरक में (निपतन्ति) पतित हो गिरते हैं ।

सन्तोऽन्यवनितां वीक्ष्य प्रयान्त्यानतमस्तकाः ।
वृषभास्तोयदोन्मुक्त - नीर-धाराहता इव ॥५४॥

अन्वयार्थ–(तोयदोन्मुक्त-नीरधाराहताः) बादलों से छोड़ी हुई जलधारा से आहत/पीड़ित (वृषभाः इव) बैल के समान (सन्तः) संत पुरुष (अन्यवनितां) अन्य स्त्रियों को (वीक्ष्य) देखकर (आनत-मस्तकाः) शिर को नीचा करके (प्रयान्ति) चले जाते हैं ।

भी इहलोक और परलोक दोनों की सम्पत्तियाँ बुरी निगाह से देखने लगती हैं अर्थात् वे उनके पास तनिक भी नहीं ठहरतीं ॥५०॥ परस्त्रियों के अपने भ्रकुटिरूपी धनुष पर चढ़ाकर फेंके गये कटाक्षरूपी बाणों से जिनका शीलरूपी कवच भिन्न नहीं होता, उनके लिए समस्त संसार मस्तक नमाता है । उन्हें दोनों लोकों की सम्पत्तियाँ स्वयं आ प्राप्त हो जाती हैं । उनको मेरा बारम्बार नमस्कार हो ॥५१॥ जिस कार्य के करने से अपने कुल में कलंक लगता है, निर्मल यश दूषित होता है, उस साक्षात् दुख देने वाले कुकर्म को ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो सुख प्राप्त करने की इच्छा से करता है ? ॥५२॥ जो सज्जन पुरुष हैं, वे बहुत से विवाह अपनी संतान की बढ़वारी के लिए करते हैं परन्तु जो मूर्ख हैं, वे उन्हीं में कामाग्नि की शांति के लिए आसक्त हो, नाना पाप उपार्जन करके अंत में नरक में पड़ते हैं ॥५३॥ बादलों से छोड़ी हुई जलधारा से पीड़ित बैलों के समान संत पुरुष अन्य स्त्रियों को देखकर शिर नीचा करके चले जाते हैं ॥५४॥

अकामिता सकामेऽपि कलत्रेऽन्यस्य यन्नृणाम् ।
महाव्रतमिदं नाम न परस्त्र्यादिधारणम् ॥५५॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (नृणाम्) मनुष्यों के (सकामे अपि) काम सहित वासना में आसक्त होने पर भी (अन्यस्य) अन्य की (कलत्रे) स्त्री में (अकामिता) अकामपना/नहीं चाहना (इदं) यह (महाव्रतं) महान् व्रत है (परस्त्र्यादिधारणं) परस्त्री आदि का धारण करना (न) महान् व्रत नहीं ।

रामामम्बामिवान्यस्य कचारमिव[1] काञ्चनम् ।
पश्यन्ति ये जगत्तेषा-मशेषं गाहते यशः ॥५६॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (अन्यस्य) अन्य की (रामाम्) स्त्री को (अम्बां इव) माता के समान (अन्यस्य) अन्य के (काञ्चनम्) सोने को (कचारम् इव) कचरा/पत्थर के समान (पश्यन्ति) देखते हैं (तेषां) उनका (यशः) यश (अशेषं जगत्) संपूर्ण जगत् को (गाहते) अवगाहित/स्थान बना लेता है ।

पातालबद्धमूलोऽपि मेरुः स्खलति कर्हिचित् ।
प्राणात्ययेऽपि दुर्वृत्ते सतीनां न पुनर्मनः ॥५७॥

अन्वयार्थ–(पातालबद्धमूलः) पाताल से बंधी हुई है जड़ जिसकी है ऐसा (मेरुः अपि) मेरु भी (कर्हिचित्) किसी तरह/कुछ कारण से (स्खलति) विचलित हो जाये (पुनः) किन्तु (सतीनां) सतियों का (मनः) मन (प्राणात्यये अपि) प्राणों के त्याग होने पर भी (दुर्वृत्ते) दुराचरण में (न) नहीं जाता ।

नान्यं जातु निषेवेऽहं परित्यज्य निजं पतिम् ।
चन्द्रमन्तरिते सूर्ये पश्यत्यपि न पद्मिनी ॥५८॥

अन्वयार्थ–(अहं) मैं (निजं) अपने (पतिं) पति को (परित्यज्य) छोड़कर (अन्यं) अन्य को (जातु) कभी भी (न निषेवे) सेवन नहीं करती (सूर्ये अन्तरिते) सूर्य के छिप जाने पर (पद्मिनी) कमलिनी (चन्द्रं अपि) चन्द्रमा को भी (न पश्यति) नहीं देखती ।

शेष-शीर्षमणिर्मन्ये सिंहानां केसरच्छटा ।
केनापि स्पृश्यते क्वापि सतीनां न पुनस्तनुः ॥५९॥

अन्वयार्थ–(अहं) मैं (मन्ये) मानती हूँ (शेषशीर्षमणिः) शेषनाग के मस्तिष्क की मणि (अपि)

यदि स्त्रियाँ चाहती भी हों, तो उन्हें भी नहीं चाहना पुरुष के लिए उत्तम महान्व्रत है न कि पर स्त्री को धारण करना ॥५५॥ जो महात्मा दूसरों की स्त्रियों को माँ, बहिन, बेटी के समान समझता है और परधन को कचरा/मिट्टी के ढेले के समान जानता है, उसी का संसार में निर्मल यश विस्तृत होता है ॥५६॥ पाताल से बंधी हुई जिसकी जड़ है ऐसा मेरु भी विचलित हो जाये किन्तु सतियों का मन, प्राण त्याग होने पर भी दुराचरण में नहीं जाता ॥५७॥

[सतियों का मन मेरू के समान निश्चल होता है]

इसलिए मैं अपने पति को छोड़कर अन्य को कभी भी सेवन नहीं कर सकती, क्योंकि सूर्य के छिप जाने पर कमलिनी चन्द्रमा को भी नहीं देखती ॥५८॥ शेषनाग के शिर की मणि चाहे कोई छू

---

१. लोष्ठम् ।

और (सिंहानां) शेरों का (केसरच्छटा) पीले बालों का समुदाय (केन) किसी के द्वारा (क्वापि) कहीं पर भी (स्पृश्यते) छुआ जा सकता (पुनः) किन्तु (सतीनां) सतियों का (तनुः) शरीर (न स्पृश्यते) नहीं छुआ जा सकता।

अतः शुद्धं मनः सम्यक् स्वं विधेहि महामते।
बोधयन्तीति सा तेन श्रेष्ठिना भणिता पुनः ॥६०॥

अन्वयार्थ–(महामते) हे महामते! बुद्धिमान् (अतः) इसलिए (स्वं मनः) अपने मन को (सम्यक्) अच्छी तरह (शुद्धं) शुद्ध (विधेहि) करो (इति) इस प्रकार (बोधयन्ति) समझाती है तब (सा) वह (तेन श्रेष्ठिना) उस सेठ के द्वारा (पुनः) फिर (भणिता) कही गई/समझाई जाती है।

पाषाणहृदया जाने सत्यं त्वं बालपण्डिता।
निर्दाक्षिण्यतयास्माकं सन्तापायैव निर्मिता ॥६१॥

अन्वयार्थ–(सत्यं) मैं सचमुच में (त्वं) तुमको (पाषाणहृदया) पत्थर के समान कठोर हृदयवाली (बालपण्डिता) अज्ञानी पण्डिता (जाने) मानता हूँ (अस्माकं) मेरे लिए तुम (निर्दाक्षिण्यतया) अनुदारता से तुम (संतापाय एव) संताप के लिए ही (निर्मिता) निर्मित/बनी हो।

बहिरुल्लासिलावण्यं प्रसन्नाननचन्द्रमाः।
अन्तर्दुष्टासि दुर्बुद्धे विषवल्लीव किं वृथा ॥६२॥

अन्वयार्थ–(दुर्बुद्धे) हे दुर्बुद्धे!/खोटी बुद्धिवाली (बहिः उल्लासि-लावण्यं) बाहरी शोभायमान सौन्दर्य (किं) क्या काम का? (प्रसन्नानन-चन्द्रमाः) प्रसन्न निर्मल मुखरूपी चन्द्रमा वाली (विषवल्लीव) विष की लता के समान (वृथा) व्यर्थ (अन्तर्दुष्टा असि) तू अंतरंग में दुष्ट हो।

त्वं विधेहि यथाभीष्टं सङ्गरोऽयं पुनर्मम।
त्वन्मुखालोकनादन्यत् करिष्यामि न किञ्चन ॥६३॥

अन्वयार्थ–(त्वं) तुम (मम) मेरा (यथा अभीष्टं) ऐसा इष्ट कार्य (विधेहि) करो जिससे (पुनः) कुछ काल बाद (अयं सङ्गरः) यह समागम/मिलाप हो मैं (त्वन्मुखालोकनात् अन्यत्) तुम्हारे

ले और सिंह के गर्दन के बाल चाहे कोई अपनी मुट्ठी में भरले, पर सतियों के पवित्र शरीर को कोई भी अपवित्र मनुष्य अपने शरीर से नहीं छू सकता ॥५९॥

इसलिए हे महाबुद्धिमान! तुम अपने मन को सर्वथा शुद्ध बनाओ, अब तक जो अशुद्ध भावों से गंदा हृदय हो रहा है, उससे उन भावों को निकाल कर पवित्र कर डालो। यह सुनकर सेठ ने फिर श्रीमती से कहा ॥६०॥ अरी मूर्ख! तुझे मैं अच्छी तरह जान गया हूँ। तू बड़े कठोर हृदय की अधूरी पंडिता है। अरे! तुझे ब्रह्मा ने वास्तव में मुझे संताप देने के लिए ही सुंदरी बनाया है ॥६१॥ तू ऊपर से भोली-भाली, लावण्य के चाकचिक्य से देदीप्यमान, मुख की कांति से पूर्णिमा के चांद को भी लजाने वाली है। पर भीतर से बड़ी ही दुष्ट विषवेल के समान है। हे दुर्बुद्धे! तू जैसी ऊपर है वैसी ही भीतर भी क्यों नहीं हो जाती ॥६२॥

इस समय मैं तुझसे, अन्य कुछ नहीं चाहता। केवल इतना ही कहता हूँ, कि तू मुझसे अपने

मुख के देखने के अलावा (किञ्चन) और कुछ (न) नहीं (करिष्यामि) करूँगा।

परमेवंविधप्रेमा - सक्तः सर्वजनप्रियः।
भक्तश्च द्विजदेवानां प्राणान्प्रोज्झामि ते पुरः ॥६४॥

अन्वयार्थ–(परम्) किन्तु (एवंविधप्रेमासक्तः) इस प्रकार के प्रेम में आसक्त (सर्वजनप्रियः) सभी जनों का प्रिय (च) और (द्विजदेवानां भक्तः) व्रतीब्राह्मण द्विजन्मा–मुनियों और जिनदेवों का भक्त मैं (ते पुरः) तुम्हारे सामने (प्राणान्) प्राणों को (प्रोज्झामि) छोड़ता हूँ।

निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा समुवाच नृपात्मजा।
यद्याग्रहस्तवेत्युच्चैः शृणु त्वं तन्मदीरितम् ॥६५॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस समुद्रदत्त के (तं) उस प्राण त्याग को (निर्बन्धं) बंधन रहित (ज्ञात्वा) जानकर (नृपात्मजा) राजपुत्री ने (समुवाच) कहा (यदि) अगर (तव) तुम्हारा (इति) इस प्रकार (उच्चैः) अत्यधिक (आग्रहः) आग्रह है तो (त्वं) तुम (तत्) उस (मदीरितम्) मेरे कथन को (शृणु) सुनो।

तावत्प्रतीक्षतां मास-षट् कान्तस्य कारये।
नाम्ना तस्यैव कृत्यानि यावत्पश्चात्त्वदीहितम् ॥६६॥

(**अन्वयार्थ**–(कान्तस्य) पति की (मासषट् तावत्) छः महीने तक (प्रतीक्षतां) प्रतीक्षा करें (यावत्) जब तक (तस्यैव) उनके (नाम्ना) नाम से (कृत्यानि) क्रियाकलापों को (कारये) करूँगी (पश्चात्) उसके बाद (त्वदीहितं) तुम्हारी इच्छा अनुसार (कारये) करूँगी।

यतोऽधुना परित्यज्य भवन्तं गतभर्तृका।
विना वाच्यतया शक्ता नेतुं जन्म किमेकका ॥६७॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (अधुना) इस समय (गतभर्तृका) पति से रहित मैं (भवन्तं) आपको (परित्यज्य) छोड़कर (वाच्यतया विना) निंदा के बिना (एकका) अकेली (जन्म) जन्म को

संगम की कुछ दिनों के बाद की प्रतिज्ञा करले, जिससे फिलहाल आशा में ही दिन बिताऊँ और तेरे मुख की कांति को आशा भरे नेत्रों से पी-पीकर ही अपना जीवन कायम रखूं ॥६३॥

अन्यथा यदि तू ऐसा न करेगी तो, मैं तेरे सामने ही इसी समय तेरे प्रेम में आसक्त होने के कारण निराशा से प्राण छोड़ दूँगा और द्विज/आचार्य, उपाध्याय व साधुओं के तथा अणुव्रती, जिनदेवों के भक्त समस्त जनों के प्रिय मेरे इस तरह मर जाने से पाप तेरे मत्थे पड़ेगा ॥६४॥

सेठ का इस तरह कठोर दुराग्रह देखकर, श्रीमती राजकुमारी सावधान निर्भय हो, इस प्रकार बोली, यदि आपका ऐसा दृढ़ संकल्प है तो ठीक है किन्तु मैं जो कुछ कहती हूँ उसे ध्यान से सुनिए ॥६५॥

अच्छा! यदि आपका अधिक आग्रह ही है और मनोरथ की सिद्धि बिना हुए अपने प्राण तक छोड़ने को तैयार हैं, तो कृपाकर छः महीने तक ठहर जाइए। मैं जब तक अपने पति देव के अनुसार ही कार्य करूँगी। तत्पश्चात् आपकी इच्छानुसार कार्य करूँगी ॥६६॥

क्योंकि इस समय पति से रहित, आपको छोड़कर निंदा के बिना, मैं अकेली जन्म को कैसे

(किं) कैसे (नेतुं) बिताने के लिए (शक्तः) समर्थ हूँ ?

युक्तायुक्तविचारज्ञो भवानेव हि भूतले ।
अतस्त्वद्वचनादेवं कर्त्तव्यं मम का क्षतिः ।।६८।।

अन्वयार्थ–(हि) क्योंकि (भूतले) पृथ्वीतल पर (भवानेव) आप ही (युक्तायुक्तविचारज्ञः) युक्त/ योग्य और अयुक्त/अयोग्य विचार को जानने वाले हो (अतः) इसलिए (त्वद्वचनात्) तुम्हारे वचन से (एवं) इस प्रकार (कर्त्तव्यं) करना चाहिए इसमें (मम का क्षतिः) मेरी क्या हानि है ।

एवं श्रुत्वाऽवदत् सोऽपि दीर्घ निःश्वस्य सुन्दरि ।
एवमस्तु परंभूयान्-विक्षेपः कालगोचरः ।।६९।।

अन्वयार्थ–(एवं श्रुत्वा) इस प्रकार सुनकर (स अपि) वह भी (दीर्घं निःश्वस्य) दीर्घ निश्वास छोड़कर (अवदत्) बोला (सुन्दरी) हे सुन्दरी ! (एवमस्तु) ऐसा ही हो (परं) किन्तु (कालगोचरः) काल संबंधी (विक्षेपः) विक्षेप/अन्तर (भूयान्) अधिक है ।

त्वदीयाननशीतांशु - त्वद्वचोऽमृतनिर्झरैः[1] ।
मन्दमन्मथसन्तापस्तथापि स्थितिमादधे ।।७०।।

अन्वयार्थ–(तथापि) तो भी (त्वदीयाननशीतांशुत्वद्वचोमृत-निर्झरैः) तुम्हारे मुखरूपी चंद्रमा को और तुम्हारे वचन-रूपी अमृत के झरनों से (मन्द-मन्मथसन्तापः) कम हुए काम के सन्ताप वाला मैं (स्थितिं) स्थिति/स्थिरता को (आदधे) धारण करता हूँ ।

एवं कृते ततः प्राप्तं वासरैर्गणितैस्तटम् ।
यानपात्रं परिज्ञाय तया प्रोक्ता जना निजाः ।।७१।।

अन्वयार्थ–(वासरैः गणितैः) दिनों को गिनते हुए (यानपात्रं) जहाज (तटम्) किनारे को (प्राप्तं) प्राप्त हुआ (परिज्ञाय) जानकर (तया) उस श्रीमति ने (निजाः) अपने (जनाः) लोगों को (प्रोक्ता) कहा ।

बिताने के लिए समर्थ हूँ ? ।।६७।।

आप समस्त युक्त-अयुक्त के विचारने में चतुर हैं, विवेकी, वृद्ध हैं, आप जो कुछ कहते हैं वह सब ठीक है, उसके करने से मेरी कुछ क्षति नहीं हो सकती ।।६८।।

सेठ समुद्रदत्त श्रीमती के इस प्रकार अपने अनुकूल वचन सुनकर, लंबी सांस खींचकर बोला– हे सुन्दरी ! मैं इसे स्वीकार करता हूँ, पर छः महीने बहुत होते हैं ।।६९।।

तुम्हारे मुखरूपी चंद्रमा को देखकर और वचनरूपी अमृत के झरनों से काम का संताप कम हुआ है, तो भी मैं तब तक किसी न किसी तरह अवश्य ही ठहरूंगा ।।७०।।

इस प्रकार उस सेठ और राजपुत्री श्रीमती में जब समझौता हो गया, तो वे उस समय किसी प्रकार शांत हो गए । इसके कुछ ही दिनों के बाद, दिन गिनते-गिनते, जहाज घाट पर आ गया । तब श्रीमति ने अपने आत्मीय जनों से कहा ।।७१।।

---

१. त्वद्वचोऽमृत-

उदक्यास्म्यहमद्यैव तीरद्रुमतले ततः।
स्थास्यामीति च वक्तव्यं श्रेष्ठिनो यदि पृच्छति ॥७२॥

अन्वयार्थ–(अहम्) मैं (उदक्या अस्मि) प्यासी हूँ (ततः) इसलिए (तीरद्रुमतले) किनारे के वृक्षों के नीचे (अद्यैव) आज ही (स्थास्यामि) बैठना चाहती हूँ (च) और (श्रेष्ठिनः) सेठ (यदि) अगर (पृच्छति) पूछता है तो (इति) इस प्रकार (वक्तव्यं) कहना।

अथ ते सोत्सवाः सर्वे समुत्तीर्णा जनास्ततः।
आदाय प्राभृतं श्रेष्ठी जगाम च नृपान्तिकम् ॥७३॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (ततः) इसके बाद (ते सर्वे जनाः) वे सभी मनुष्य (सोत्सवाः) उत्सवों/आनन्द से सहित (समुत्तीर्णाः) जहाज से उतर गए (च) और (श्रेष्ठी) सेठ (प्राभृतं) उपहार को (आदाय) ग्रहण कर (नृपान्तिकम्) राजा के पास (जगाम्) गया।

तस्यास्तु रक्षका दत्ताः श्रेष्ठिना यानलीलया।
व्याकुलास्तेऽभवन्सापि स्वं जग्राहाखिलं जनम् ॥७४॥

अन्वयार्थ–(तु) किन्तु (श्रेष्ठिना) सेठ ने (तस्याः) उसके (रक्षका) रक्षक (दत्ताः) दिए थे (ते) वे (यानलीलया) जहाजों की क्रीड़ा से (व्याकुलाः) व्याकुल (अभवत्) हुए (सापि) उसने भी अर्थात् श्रीमति ने भी (स्वं) अपने (अखिलं जनम्) सभी लोगों को (जग्राह) साथ में ले लिया।

समाहूतपरीवारा स्नानव्याजेन सा ततः।
विनिर्गता लघु प्राप सार्थं चम्पापुरागतम् ॥७५॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (समाहूत-परिवारा सा) परिवारजनों को बुलवाने वाली वह (स्नानब्याजेन) स्नान के बहाने से (लघु) शीघ्र ही (विनिर्गता) निकल गई (चम्पापुरागतम्) चम्पापुर से आए हुए (सार्थं) सार्थवाह को (प्राप) प्राप्त हुई अर्थात् अपने परिचय के सार्थवाह के पास चली गई।

उक्तवृत्ता प्रधानेन तत्राग्राहि सुता मम।
भणित्वा भवतीत्येवं निःशङ्का गच्छ पुत्रिके ॥७६॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ चम्पानगरी में (उक्तवृत्ता) स्वयं का वृतान्त कहने वाली (प्रधानेन) प्रधान

मैं प्यासी हूँ, इसलिए किनारे के वृक्षों के नीचे आज ही बैठना चाहती हूँ और सेठ अगर पूछता है तो इस प्रकार कहना। यह सुनते ही सर्व जन सोत्साह/प्रमोद से वहाँ उतर पड़े, पड़ाव डाल दिया। उधर श्रेष्ठी भी भेंट लेकर राजा के पास जाने को उद्यत हुआ।

किन्तु सेठ ने उस श्रीमति को रक्षक दिए, वे जहाजों की क्रीड़ा से व्याकुल हुए, तब उसने (श्रीमति) भी अपने सभी लोगों को साथ में ले लिया ॥७४॥

इस अवसर को अच्छा समझ वह स्नान के बहाने अपने खास-खास भृत्यों को लेकर चम्पानगरी में आए हुए वणिकों के एक झुण्ड में जा पहुँची ॥७५॥

इस प्रकार वह अपना समस्त पूर्व समाचार उनको सुनाकर आश्रयदान चाहने लगी। श्रीमति के

के द्वारा (मम सुता) मेरी पुत्री (इति भणित्वा) ऐसा कहकर (अग्राहि) स्वीकार किया (पुत्रिके) हे पुत्री (एवं) इस प्रकार (भवती) आप (निःशंका) शंका रहित (गच्छ) जाइए।

प्राप्ता च क्रमतश्चम्पो-द्यान-मानन्द-दायकम्।
तत्रादर्शि तया जैनं सद्म पद्मानिकेतनम् ।।७७।।

अन्वयार्थ–(च) और (तया) उसके द्वारा (क्रमतः) क्रम से चलते हुए (आनंद-दायकं) आनंद को देने वाले (चम्पोद्यानं) चम्पापुरी के उद्यान को (प्राप्ता) प्राप्त किया (तत्र) वहाँ पर उसने (पद्मा-निकेतनं) लक्ष्मी का स्थान (जैनं सद्म) जिनेन्द्र भगवान का मंदिर (आदर्शि) सब ओर से देखा।

प्रविशन्ती च तत्रासौ निषद्या-शब्द-पूर्वकम्।
दृष्टा विमलमत्या च दासी-सेवक-संयुता ।।७८।।

अन्वयार्थ–(च) तथा (तत्र) वहाँ (असौ) वह श्रीमति (निषद्याशब्दपूर्वकम्) निषद्या [निस्सहि-निस्सहि/निषीधिका] शब्दपूर्वक (प्रविशन्ती) प्रवेश करती हुई (च) और वह (दासी-सेवक-संयुक्ता) दासियों व सेवकों से सहित (विमलमत्या) विमलमति के द्वारा (दृष्टा) देखी गई।

ततः कृत-जिनाधीश-संस्तवा वन्दितार्यिका।
आसनादिविधिं कृत्वा विश्रान्तावादि सादरम् ।।७९।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (कृतजिनाधीशसंस्तवा) श्री जिनेन्द्रदेव का संस्तव करने वाली (वन्दितार्यिका) और आर्यिका का वन्दन/आदर करने वाली (आसनादिविधिं कृत्वा) आसन बैठने आदि की विधि को करके (विश्रान्ता) थकी हुई श्रीमती से विमला ने (सादरं) आदर सहित (अवादि) कहा।

कुतः साध्वि समायाता सुन्दराकारधारिणि।
क्षेमं च ते समस्तानां तातादीनां तथा शुभे ।।८०।।

अन्वयार्थ–(शुभे साध्वि) हे कुशला सती! (कुतः) कहाँ से (समायाता) आई हो? (च) और (सुन्दराकार-धारिणि) हे सुन्दर आकार को धारण करने वाली! (ते) तुम्हारी (तथा) और (समस्तानां) सभी (तातादीनां) माता-पिता आदि की (क्षेमं) कुशलता है न।

वृतांत को सुनकर उन वैश्यों के प्रधान ने उसे आश्वासन दिया और पुत्री के समान उसे समझकर निःशंक हो अपने साथ चलने को कहा ।।७६।।

क्रम-क्रम से चलकर वैश्यों का समुदाय और श्रीमती दोनों चम्पानगरी के बाहर उद्यान में पहुँचे और वहाँ पर श्रीमती ने लक्ष्मी/शोभा का स्थान जिनेन्द्र भगवान का मंदिर देखा ।।७७।। वहाँ वह श्रीमति बड़े ही आनंद से निषीधिका शब्दपूर्वक प्रवेश करती हुई, दासियों व सेवकों सहित, विमलमति के द्वारा देखी गई ।।७८।। उसके बाद श्री जिनेन्द्रदेव का संस्तव/स्तुति करने वाली और आर्यिका का आदर करने वाली, आसन आदि की विधि को करके विश्राम करती हुई श्रीमती से विमला ने आदर सहित कहा ।।७९।। हे कुशला सती! कहाँ से आई हो? हे सुन्दर आकार को धारण करने वाली! तुम्हारी और माता-पिता आदि की कुशलता तो है ।।८०।।

विस्मिताभिस्ततस्ताभि र्बहुधा प्रतिबोधिता।
अवादीत्सखि विस्तीर्णा कथा मे दुःखदायिनी ॥८१॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (विस्मिताभिः) विस्मय को प्राप्त (ताभिः) उनके द्वारा (बहुधा) बहुत प्रकार से (प्रतिबोधिता) समझाई गई (अवादीत्) उसने कहा (सखी) हे सखि (मे) मेरी (कथा) कथा (दुःखदायिनी) दुख को देने वाली (विस्तीर्णा) बहुत बड़ी है।

देहिनां स्नेहबद्धानां सन्तापोऽस्ति पदे पदे।
पश्य स्नेहोज्झितं तन्वि कुंकुमं न हि तापयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ–(स्नेह-बद्धानां) स्नेह से बंधे हुए (देहिनां) प्राणियों को (पदे-पदे) स्थान-स्थान पर (सन्तापः) संताप (अस्ति) है (तन्वि) हे कृशांगी! (पश्य) देखो (स्नेहोज्झितं) स्नेह/चिकनाई से रहित (कुकुमं) केशर (हि) नियम से (न तापयेत्) संतापित नहीं करती।

वज्रशृङ्खलबद्धानां मुक्तिरस्ति कथञ्चन।
स्नेहपाशपरीतानां बन्धनञ्च भवे भवे ॥८३॥

अन्वयार्थ–(वज्रशृङ्खलबद्धनां) वज्र-शृङ्खलाओं से बंधे हुए मनुष्यों की (कथञ्चन) किसी तरह (मुक्तिः अस्ति) मुक्ति है किन्तु (स्नेह-पाश-परीतानां) स्नेहपाश से जकड़े हुए मनुष्यों का (भवे-भवे) भव-भव में (बन्धनं) बंधन है।

कथितानीह कर्माणि भवभ्रमणकारणम्।
तेषां हेतुतया ख्यातो बन्ध एव शरीरिणाम् ॥८४॥

अन्वयार्थ–(इह) इसलोक में (भवभ्रमणकारणम्) संसार भ्रमण के कारण (कर्माणि) कर्मों को (कथितानि) कहा है (तेषां) उन कर्मों का (हेतुतया) कारण रूप से (शरीरिणाम्) प्राणियों के (बन्ध एव) स्नेह-बन्ध ही (ख्याता) कहा गया है।

तस्यापि हेतवः सन्ति विषया विश्वमोहिनः।
विमुक्तास्तैः परं सौख्यं भुञ्जते भोगनिस्पृहाः ॥८५॥

अन्वयार्थ–(तस्यापि) उस स्नेह के भी (हेतवः) कारण (विश्वमोहिनः) विश्व को मोहित

जिसके उत्तर में विस्मय को प्राप्त उनके द्वारा बहुत कुछ समझाने पर दुख और शोक के साथ श्रीमती ने कहा-बहिन! मेरी कथा बड़ी ही दुखदायिनी है ॥८१॥ स्नेह से बंधे हुए प्राणियों को स्थान-स्थान पर संताप हैं, हे कृशांगी! देखो चिकनाई से रहित केशर, नियम से संतापित नहीं करती ॥८२॥ वज्र की सांकलों से बंधे हुए प्राणियों का छूटना किसी प्रकार हो सकता है और फिर वे नहीं बंध सकते परन्तु स्नेहरूपी जाल से जकड़े हुए प्राणियों का जन्म-जन्म में छूटना न होकर बंधना ही होता चला जाता है ॥८३॥ इस संसार में जीव को सर्वदा, चारों गतियों में भ्रमण कराने वाले उनके शुभ-अशुभ कर्म ही हैं, पर वे भी इसी स्नेह-बन्धन के कारण ही उत्पन्न होते हैं ॥८४॥ उस स्नेह के उत्पन्न करने में भी कारण, इन्द्रियों के विषय हैं। यदि विषय भोगने की इच्छा का सर्वथा नाश हो जाये, तो स्नेह और द्वेष ही न रहें, इसलिये जो भोगों से सर्वदा निस्पृह हैं, वे तो अनंत परम-मोक्ष के

करने वाले (विषयाः) पञ्चेन्द्रिय के विषय (सन्ति) हैं (तैः) उन विषयों से (विमुक्ताः) रहित (भोगनिस्पृहाः) भोगों में इच्छा रहित साधु (परं) उत्कृष्ट (सौख्यं) सुख को (भुञ्जते) भोगते हैं।

अस्मादृशास्तु मुह्यन्ति केवलं विषयाशया।
यथा मधुरया पूर्वं मधुदिग्धासिधारया ॥८६॥

अन्वयार्थ–(तु) किन्तु (केवलं) सिर्फ (अस्मादृशाः) हम जैसे अज्ञानी जीव (विषयाशया) विषयों की इच्छा वाले (पूर्वं) पहले (मधुदिग्धासिधारया यथा) मधु/मीठे से लिपटी हुई तलवार की धारा के समान (मधुरया) सुन्दरता से (आशु) शीघ्रता से (मुह्यन्ति) मोहित होते हैं।

वदन्तीमिति तां दुःख-भार-भङ्गुर-मानसाम्।
एवमाश्वासयामास विमलादिमतिस्तदा ॥८७॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (दुःखभार-भङ्गुर-मानसाम्) दुख के भार से उद्विग्न मन वाली (इति) इस प्रकार (वदन्तीं) कहती हुई (तां) उस श्रीमति को (विमलादिमतिः) विमलमति ने (एवं) इस प्रकार (आश्वासयामास) आश्वासन दिया समझाया/धीरज बंधाया।

यथा यैरर्जितं पूर्वं दुःखं वा यदि वा सुखम्।
निरोद्धुं प्रसरस्तस्य शक्रैरपि न शक्यते ॥८८॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (यैः) जिनके द्वारा (पूर्वं अर्जितं) पूर्व में संचित (दुःखं वा) अनेक प्रकार का दुख या (सुखं यदि वा) सुख है तो (तस्य) उसका (प्रसरः) प्रसार/फैलाव (निरोद्धुं) रोकने के लिए (शक्रैः अपि) इन्द्र भी (न शक्यते) समर्थ नहीं है।

पूर्वकर्म्मानुसारेण स्नेहद्वेषौ च सुन्दरि।
जायेते तौ च वर्द्धेते चिन्त्यमानौ दिवानिशम् ॥८९॥
क्षणात्सुखं क्षणाद्दुःखं क्षणाद्दासः क्षणात्पतिः।
अनिष्टाभीष्टयोः सङ्ग-वियोगौ च क्षणादपि ॥९०॥युगलं॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (सुन्दरि) हे सुन्दरी! (पूर्वकर्मानुसारेण) पूर्वोपर्जित कर्म के अनुसार (स्नेहद्वेषौ) स्नेह/राग-द्वेष, प्रीति-अप्रीति/मित्रता-शत्रुता (जायेते) उत्पन्न होती है (च) और (तौ) वे

नित्य सुख को भोगते हैं ॥८५॥ तथा जो हम सरीखे विषय लोलुपी हैं, वे शहद में लपेटी तलवार/छुरी के समान प्रथम ही अच्छे लगने वाले इन्द्रिय विषयों को चाटते-चाटते, इस अनंत दुःखमय संसार में दुःख उठाते फिरते हैं ॥८६॥ इस प्रकार अत्यंत शोक परिपूर्ण वचनों में अपने वृतांत की भूमिका को कहती हुई श्रीमती को विमलमति ने बीच में ही रोककर धैर्य बंधाने के लिए कहा ॥८७॥ प्यारी बहिन! अधिक शोक करने की आवश्यकता नहीं है, जो जैसा जिसके भाग्य में सुख-दुःख होना होता है, वह अवश्य ही होकर रहता है, उसको यदि इन्द्र भी विपरीत करना चाहे तो नहीं कर सकता ॥८८॥

[कर्मों का विचित्र फल]

हे सुन्दरी! स्नेह और द्वेष ये दोनों भी पूर्वकर्म के अनुसार ही होते हैं और चिंता करने से रात-दिन उसी के कारण ही बढ़ते चले जाते हैं ॥८९॥ इस कर्म के कारण यह जीव क्षणभर में सुखी,

दोनों–स्नेह और शत्रुता (चिन्त्यमानौ) चिन्तवन करते हुए (दिवानिशम्) दिन-रात (वर्द्धेते) बढ़ते हैं (क्षणात्सुखं) क्षणभर में सुख (क्षणात् दुःखं) क्षणभर में दुःख (क्षणाद्दासः) क्षणभर में दास (क्षणात्पतिः) क्षणभर में राजा (च) और (क्षणादपि) क्षणभर में ही (अनिष्टाभीष्टयोः) अनिष्ट और इष्ट के (सङ्गवियोगौ) संयोग और वियोग (वर्द्धेते) बढ़ते हैं।

रूपलावण्यसौभाग्य-भङ्गो यत्र मुहूर्त्ततः।
तत्रास्ति सखि किं क्वापि संसारे सुखसम्भवः ॥९१॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (मुहूर्त्ततः) मुहूर्त्त मात्र में ही (रूप-लावण्य-सौभाग्य-भङ्गः) सुरूप, सौन्दर्य, सौभाग्य का विनाश हो जाता है (सखि) हे सखी! (तत्र) वहाँ ऐसे (संसारे) संसार में (क्वापि) कहीं पर (किं) क्या (सुखसम्भवः) सुख का होना (अस्ति) है? अर्थात् नहीं।

भावा हर्षविषादाद्या निमेषमपि चक्षुषः।
विजित्य यत्र वर्त्तन्ते कुतस्तत्र भवेद्रतिः ॥९२॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (चक्षुषः) नेत्र की (निमेषमपि) टिमकार मात्र में भी (हर्षविषादाद्याः) हर्ष/विषाद आदि (भावाः) भाव (विजित्य) विजयी होकर (वर्तन्ते) रहते हैं (तत्र) वहाँ (कुतः) कैसे (रतिः भवेत्) प्रेम हो सकता है?

इदं हीनतमं चात्र जन्म स्त्रीणां सुलोचने।
तातादयोऽप्यहो यत्र परेभ्यः पालयन्ति ताः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(सुलोचने) हे सुंदर नेत्र वाली! (च) और (अत्र) यहाँ इस संसार में (स्त्रीणां) स्त्रियों की (इदं) यह (जन्म) उत्पत्ति (हीनतमं) अतिहीन मानी जाती है (अहो) आश्चर्य है! (यत्र) जहाँ (तातादयः अपि) माता-पिता भी (परेभ्यः) दूसरों के लिए (ताः) वे कन्याएँ (पालयन्ति) पालते हैं।

अवाप्य च महानर्थ-कारि किं नवयौवनम्।
मोहिता रतिसौख्येषु जायन्ते कान्तजीविताः ॥९४॥

अन्वयार्थ–(च) और हम (महानर्थकारि) महान् अनर्थ को करने वाले (नवयौवनम्) नवीन यौवन को (अवाप्य) प्राप्त करके (कान्तजीविताः) पति के द्वारा जीवित रहते हुए (रतिसौख्येषु) रति संबंधी सुखों में (मोहिता) मोहित (किं) क्या (जायन्ते) होती हैं अर्थात् होती ही हैं।

क्षणभर में दुःखी, क्षणभर में दास, क्षणभर में स्वामी और क्षण में इष्टजनों के वियोग, अनिष्टजनों के संयोग से संयुक्त हो जाता है ॥९०॥ हे सखि! जिस संसार में रूप, लावण्य और सौभाग्य के भंग हो जाने में कुछ भी देरी नहीं लगती, उसमें सुख कैसे हो सकता है? ॥९१॥ हर्ष-विषाद आदि परस्पर विरुद्ध भावों के उदय होने में जहाँ पलक झपकने के समान भी देरी नहीं लगती, वहाँ प्रेम की स्थिरता कहाँ रह सकती है? ॥९२॥ हे सुलोचने! हम स्त्रियों का जन्म इस संसार में बड़ा ही निकृष्ट है, जो सबसे अधिक प्यार करने वाले माँ-बाप भी हमें दूसरों के लिए ही पाल-पोषकर बढ़ाते हैं ॥९३॥ महा अनर्थकारी यौवन के प्रारंभ होने पर कामजन्य सुखों में लिप्त हो, हम सर्वथा पति के जीवनाधार ही हो जाती हैं ॥९४॥

वियोगे सति कान्तस्य सर्वतो म्लानमूर्त्तयः ।
अन्तः शुष्यन्ति सन्तापै रम्भोजिन्यो हिमैरिव ॥९५॥

अन्वयार्थ–(कान्तस्य) पति के (वियोगे सति) वियोग होने पर (सर्वतः) सब तरफ से (म्लान-मूर्त्तयः) मलिन शरीरवाली (अन्तः) आन्तरिक (सन्तापैः) सन्ताप के द्वारा (हिमैः) बर्फ के द्वारा (अम्भोजिन्यः इव) कमलिनियों के समान (शुष्यन्ति) सूखती रहतीं हैं ।

संजात-रस-भङ्गास्ता बहिर्वर्ण-मनोहराः ।
अलङ्कार-विनिर्मुक्ताः सुवृत्ता अपि शङ्किताः ॥९६॥

अन्वयार्थ–(ताः) वे (बहिर्वर्णमनोहराः) बाह्यरूप से मनोहर (संजातरसभङ्गाः) रस विहीन (अलङ्कार-विनिर्मुक्ताः) आभूषणों से रहित (सुवृत्ता अपि) सच्चरित्र होने पर भी (शङ्किताः) शङ्कित होती हैं अर्थात् शंका की दृष्टि से देखी जाती हैं ।

जीवन्ति क्लेशतो नित्यं प्रसादादिगुणोज्झिताः[१] ।
निरीक्षितापशब्दास्तु कृतयः कुकवेरिव ॥९७॥

अन्वयार्थ–जैसे (प्रसादादि-गुणोज्झिताः) प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि गुणों से रहित (निरीक्षिताप-शब्दाः) देखे गए खोटे शब्दों से युक्त (कुकवेः) कुकवि की (कृतयः इव) रचनाओं के समान (प्रसादादि-गुणोज्झिताः) प्रसन्नता आदि गुणों से रहित (तु) और (निरीक्षिताप-शब्दाः) खोटे, निन्द्य शब्दों से सम्बोधित स्त्रियाँ (नित्यं) हमेशा (क्लेशतः) क्लेशपूर्वक (जीवन्ति) जीती हैं ।

इदमेव परं सर्वं सम्पदामास्पदं ध्रुवम् ।
शासने यज्जिनेन्द्राणां भक्तिरेव शुभानने ॥९८॥

अन्वयार्थ–(शुभानने) हे सुंदर मुखवाली ! (यत्) जो (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्र भगवान के (शासने) शासन में/उपदेश में (भक्तिः एव) भक्ति ही (ध्रुवम्) नियम से सदा (सम्पदां) सम्पदाओं का (इदम्) यह (सर्वं परं) सर्वश्रेष्ठ (आस्पदं) स्थान है ।

और पति के वियुक्त हो जाने पर, पाले के पड़ने से कमलिनी के समान मानसिक संतापों से दग्ध हो सूखने लगती हैं ॥९५॥ पति के वियोग हो जाने पर अंतरंग में सार-शून्य हुई बाहर से ही केवल मनोहर लगने वाली, अलंकारों से सर्वथा रहित हम लोग के चरित्र को, चाहे वह निर्मल ही क्यों न हो, तो भी शंकालु लोग दूषित ही समझने लगते हैं ॥९६॥ जिस प्रकार कुकवियों की कविता ओज, प्रसाद आदि काव्य के गुणों से सर्वथा रहित होती हैं, कष्टपूर्वक बनायी जाती हैं और अपशब्दों से भरी रहतीं हैं, इसलिए उसकी कोई कदर नहीं करता, उसी प्रकार हम पति विरहिता होने से कष्टपूर्वक तो जीवन व्यतीत करती ही हैं, प्रसन्नता, हास्य आदि से सर्वथा शून्य रहतीं हैं और अपशब्दों से ही पुकारी जाती हैं । यहाँ श्लेष गर्भित उपमा अलंकार है ॥९७॥ अतः इस निंदनीय स्त्रीपर्याय का अंत करने के लिए, समस्त संसार की संपत्तियों को प्रदान करने वाले, जिनेन्द्र भगवान के शासन में ही मन को भक्ति में लगाना ठीक है । उसी के सेवन से हमारा कल्याण होगा ॥९८॥

---

१. यथौजः प्रसादादिगुणरहिताः कवेः कृतयः निरीक्षणेनैव तिरस्क्रियन्ते ।

साधारणे च सर्वेषां सुखदुःखे तनूभृताम् ।
अतश्चित्तसमाधानं कृत्वा भुङ्क्ष्व पुरार्जितम् ।।९९।।

अन्वयार्थ–(च) और (सर्वेषां) सभी (तनुभृताम्) प्राणियों के (सुख-दुःखे) सुख और दुःख (साधारणे) सामान्यरूप से हैं (अतः) इसलिए (चित्तसमाधानं कृत्वा) मन में समाधान करके (पुरार्जितम्) पूर्वोपार्जित कर्म को (भुङ्क्ष्व) भोगो ।

इत्थं सम्बोधितावादीत् स्ववृत्तान्तमशेषतः ।
वयोवेषवचश्चेष्टाः सापि पप्रच्छ सादरम् ।।१००।।

अन्वयार्थ–(इत्थं) इस प्रकार (सम्बोधिता) विमलमति के द्वारा समझाई गई श्रीमती ने (स्ववृत्तान्तं) अपने वृत्तान्त को भी (अशेषतः) पूर्णरूप से (अवादीत्) कहा (सापि) उसने भी उस जिनदत्त की (वयोवेषवचश्चेष्टाः) वय [उम्र] वेश [भेषभूषा] वचनों की चेष्टाएँ (सादरं) आदरपूर्वक (पप्रच्छ) पूछीं ।

अचिन्तयच्च किं कान्तो मम चैष भविष्यति ।
अथवा धिगिमं दुष्ट-संकल्पमशुभास्त्रवम् ।।१०१।।

अन्वयार्थ–(च) और (अचिन्त्यत्) विचार किया (किं) क्या इसका (एषः) यह (एव) ही (मम) मेरा (कान्तः) पति (भविष्यति) होगा (अथवा) क्या (इमं) इस (अशुभास्त्रवम्) अशुभ आस्त्रव रूप (दुष्टसंकल्पम्) दुष्ट संकल्प को (धिक्) धिक्कार हो ।

सन्त्यनेके यतो रूप-चेष्टितैः सदृशा नराः ।
अन्यः कोऽपि तथाभूतो भविता(तो)यं महामनाः ।।१०२।।

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (रूपचेष्टितैः) रूप और चेष्टाओं से (सदृशाः) समान (महामनाः) महामनस्वी (अनेके नराः) अनेक मनुष्य (सन्ति) हैं (अयं) यह (तथाभूतः) वैसी रूप चेष्टाओं वाला (अन्यः कोपि) अन्य कोई भी (भवितः) होगा ।

सुख और दुःख जब इस संसार में समस्त जीवों को समान ही हैं, किसी को भी चिरस्थायी सुख नहीं, तब वह हमें कहाँ से मिल सकता है ? इसलिए पूर्व उपार्जित कर्म के फल को भोगने के लिए हमें सर्वदा तैयार रहना चाहिए । अपने मन को स्थिर रख सर्वदा कर्म के फलों को समता पूर्वक भोगना चाहिए ।।९९।। इस प्रकार विस्तारपूर्वक विमलमति से समझाई गई, उस श्रीमती ने अपना और अपने पति का समस्त वृत्तांत उससे कह डाला । उसे सुनकर विमलमति ने जब उसके पति की रूप, चेष्टा आदि पूछी तो वे भी उसने कह दी ।।१००।। जिसे सुनकर विमलमति के मन में एक अद्भुत तरंग उठी, उसने सोचा हो न हो, यह मेरे पति जिनदत्त ही तो नहीं हैं । इसकी बतलाई सब चेष्टायें उनसे मिलती-जुलती ही मालूम पड़ती हैं । अथवा इस अशुभ आस्त्रव रूप दुष्ट संकल्प को धिक्कार हो । मन में बिना निश्चय किए इस प्रकार के भाव करना सर्वथा अयोग्य है ।।१०१।। दुनिया में एक तरह के अनेक मनुष्य होते हैं, बहुत से रूप और चेष्टाओं में समान होते हैं, पर रहते भिन्न-भिन्न हैं । यह भी इसका पति कोई मेरे पति से भिन्न ही होगा ।।१०२।।

तस्यै जगाद सा सर्वं निजवृत्तं विचक्षणा।
भूत्वा समानदुःखा च सस्नेहं समुवाच ताम् ॥१०३॥

अन्वयार्थ–(सा विचक्षणा) उस चतुरा विमलमति ने (सर्वं) सभी (निजवृत्तं) अपने चरित्र को (तस्यै) उस श्रीमती के लिए (जगाद) कहा (च) और (समानदुःखा) समान दुखवाली (भूत्वा) होकर (सस्नेहं) प्रेमपूर्वक (ताम्) उसको (समुवाच) कहा।

जिनधर्मरते नित्यं तपःस्वाध्यायतत्परे।
कियन्तमपि तिष्ठावः कालं भगिनि सङ्गते ॥१०४॥

अन्वयार्थ–(अपि) तथा (भगिनि) हे बहिन! (नित्यं) हमेशा (जिनधर्मरते) जिनधर्म में प्रीतिपूर्वक लवलीन (तपःस्वाध्याय-तत्परे) तप और स्वाध्याय में तत्परतापूर्वक (कियन्तं कालं) कुछ काल पर्यन्त (सङ्गते) साथ-साथ में (तिष्ठावः) हम दोनों रहें।

पश्चाज्ज्ञातयथावृत्ते सर्वदुःखविनाशनम्।
करिष्यावो महामोह-मथनं निर्मलं तपः ॥१०५॥

अन्वयार्थ–(पश्चात् ज्ञातयथावृत्ते) बाद में पतिदेव संबंधी यथार्थ वृतान्त को जान लेने (सर्वदुःखविनाशनम्) सभी दुखों के विनाशक (महामोहमथनं) महामोह का मंथन करने वाले (निर्मलं) निर्मल (तपः) तप को (करिष्यावः) करेंगे।

अत्रान्तरे समाज्ञाय वार्त्तां तां वत्सलः सताम्।
समाजगाम तत्रैव श्रेष्ठी विमलसञ्ज्ञकः ॥१०६॥

अन्वयार्थ–(अत्रान्तरे) इसी बीच में (सताम् वत्सलः) सज्जनों का स्नेही (विमलसञ्ज्ञकः) विमल नामक श्रेष्ठी/सेठ (तां वार्तां) उन विमलमति और श्रीमती की वार्ता को (समाज्ञाय) जानकर (तत्रैव) वहाँ पर ही जिनालय में (समाजगाम) आया।

ततः स्तुत्वा जिनाधीशं निविष्टो निकटे तयोः।
चक्रतुस्ते समुत्थाय प्रणामं तस्य सादरम् ॥१०७॥

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (जिनाधीशं) जिनपति की (स्तुत्वा) स्तुति कर (तयोः निकटे) उन दोनों के पास में (निविष्टः) बैठा (ते) उन दोनों ने (समुत्थाय) उठकर (तस्य) उस विमलसेठ को (सादरम्) आदरपूर्वक (प्रणामं) प्रणाम (चक्रतुः) किया।

उस विमलमति ने अपने चरित्र को बुद्धिमति श्रीमती के लिए कहा और समान दुखवाली होकर विमलमति ने प्रेमपूर्वक उस श्रीमति से बोली ॥१०३॥ हे भगिनि! नित्य ही जिनधर्म में रत होकर तप, स्वाध्याय में तल्लीन हो यहीं कुछ काल तक हम लोग रहें। पश्चात् पतिदेव संबंधी निश्चित वृत्तांत को ज्ञातकर समस्त दुख विनाशक महामोहमल्ल का मंथन करने वाले, निर्मल सुतप को स्वीकार करेंगे ॥१०५॥ इसी बीच में उन विमलमति और श्रीमति की वार्ता को जानकर सज्जन प्रेमी विमल नामक सेठ वहाँ उस जिनालय में आए ॥१०६॥ उसके बाद सेठने जिनवर स्वामी की स्तुति कर उन दोनों के पास में जाकर बैठा। उन दोनों ने उठकर, उस विमलसेठ को आदरपूर्वक प्रणाम किया ॥१०७॥

अभिनन्द्य ततोऽप्राक्षीत्कुशलं[1] नृपदेहजाम् ।
सलज्ञा लोकयामास भगिन्या वदनं च सा ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(ततः) इसके बाद सेठ ने (अभिनन्द्य) अभिवादन कर (नृपदेहजाम्) राजपुत्री की (कुशलं) कुशलता (अप्राक्षीत्) पूछी (च) और (सा) उस श्रीमती ने (सलज्ञा) लज्ञा सहित (भगिन्या) बहिन के (वदनं) मुख को (लोकयामास) देखा ।

ज्ञाताकूता[2] च सा तातं बुद्धतद्वृत्तविस्तरम् ।
चकार मस्तकं धुत्वा चिन्तयामास सोऽप्यदः[3] ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(च) और (ज्ञाताकूता) श्रीमती के अभिप्राय को जानने वाली (सा) उस विमलमति ने (तातं) पिता को (बुद्धतद्वृत्तविस्तरम्) जाने हुए उसके चरित्र के विस्तार को (चकार) किया (सः अपि अदः) उस सेठ ने भी इसके चरित्र को जान (मस्तकं धुत्वा) अपने मस्तक को धुनकर (चिन्तयामास) चिंतन/विचार किया ।

क्वेदं त्रिभुवनानन्दि वयोस्याः शुभसूचकम् ।
सर्वस्वं स्मर-राजस्य दशा चेयं क्व दारुणा ॥११०॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनानन्दि) तीनों लोकों को आनंदित करने वाली (शुभसूचकम्) शुभसूचक (अस्याः) इसकी (इदं) यह (वयः) अवस्था [उम्र] (क्व) कहाँ (च) और (स्मरराजस्य) कामदेवरूपी राजा की (सर्वस्वं) सर्वस्व/सब कुछ (इयं) यह (दारुणा) दुखदायी (दशा) अवस्था (क्व) कहाँ ?

तादिहैवं विनिक्षिप्य व्यसने विधिनाधुना ।
चक्रेऽमृते कथं तत्र कालकूट[4]-विमिश्रणम् ॥१११॥

अन्वयार्थ—(इह) इसलोक में (अधुना) इस समय (ततः) वह श्रीमती (एवं) इस प्रकार (विधिना) भाग्य के द्वारा (व्यसने) विपत्ति में (विनिक्षिप्य) डालकर (तत्र) वहाँ श्रीमती के विषय में (अमृते) अमृत में (कालकूटविमिश्रणम्) हलाहल विष का मिश्रण (कथं) कैसे (चक्रे) किया ?

इसके बाद सेठ ने अभिवादन कर राजपुत्री की कुशलता पूछी और उस श्रीमती ने लज्ञा सहित बहिन के मुख को देखा ॥१०८॥

उसके उत्तर में श्रीमती ने अपनी सखी विमलमति की तरफ नीची निगाहकर वृत्तांत कहने की इच्छा प्रकट की । जिससे विमलमति ने भी उसका समस्त वृत्तांत अपने पिता को कह सुनाया ॥१०९॥

ओह ! कहाँ तो तीनों लोकों को आनंदित करने वाली शुभसूचक इसकी यह उम्र और कहाँ काम की सर्वस्व इसकी यह दारुण अवस्था ? ॥११०॥

हे भगवन् ! यह क्या भाग्य की विडम्बना है, जो इस समय इस सुंदरी को इस प्रकार दारुण दशा में डाला है । मालूम होता है दुर्वार विधि ने अमृत में विष घोल दिया है, इस प्रकार क्यों किया, यह समझ में नहीं आता ॥१११॥

---

१. द्विकर्मकधातुत्वात्कर्मद्वयम् । २. ज्ञाताभिप्राया । ३. इदम् । ४. हालाहल ।

अथवा प्राक्कृतासात-प्रबन्धवशवर्त्तिनः ।
एवं हन्त प्रजायन्ते जन्तवो दुःखभाजनम् ॥११२॥

अन्वयार्थ–(अथवा) और (प्राक्कृतासात-प्रबन्धवशवर्त्तिनः) पूर्वोपार्जित असाता-कर्म के आधीन (जन्तवः) प्राणि-समूह (एवं) इस प्रकार (दुःखभाजनम्) दुख के पात्र (प्रजायन्ते) होते हैं (हन्त) खेद है ।

उवाच च सुते शोकं विमुच्य सकलं सुखम् ।
तिष्ठात्र धर्मसन्निष्ठा भगिन्या सहितानया ॥११३॥

अन्वयार्थ–(च) और (उवाच) सेठ ने कहा (सुते) हे पुत्री ! (शोकं) शोक को (विमुच्य) छोड़कर (अत्र) यहाँ जिनालय में (सकलं सुखम्) सभी सुख को (अनया) इस (भगिन्या) बहिन विमलमति के (सहिता) साथ (धर्मसन्निष्ठा) धर्म में सम्यक् निष्ठापूर्वक (तिष्ठ) रहो ।

नूनं य एव नाथस्ते पतिरस्याः स एव हि ।
केनापि हेतुना चैते सफला वां मनोरथाः ॥११४॥

अन्वयार्थ–(नूनं) निश्चित ही (यः) जो (ते) तुम्हारा (नाथः) पति है (सः) वह (एव) ही (हि) नियम से (अस्याः) इसका (पतिः) पति है (च) और (केन अपि हेतुना) किसी भी कारण से (एते) ये (वां) तुम दोनों (सफलाः मनोरथाः) सफल मनोरथ वाली होओ ।

युवयोस्तस्य चात्रापि सा कृतिः शुभदर्शने ।
यया भवन्ति निःशेष-कल्याणानि निरन्तरम् ॥११५॥

अन्वयार्थ–(च) और (शुभदर्शने) हे शुभ दर्शनवाली ! (युवयोः) तुम दोनों को (तस्य) उस जिनदत्त का (अत्रापि) यहाँ पर भी (सा कृतिः) वह कार्य करना चाहिए (यया) जिससे (निरन्तरम्) निरन्तर (निःशेष-कल्याणानि) सम्पूर्ण कल्याण (भवन्ति) होते हैं ।

अतो यावत्कुतोप्येति तस्योदन्तो दयावति ।
तावत्प्रतीक्ष्यतां भद्रे सदनेऽत्रैव सौख्यतः ॥११६॥

अन्वयार्थ–(दयावति) हे दयावति ! (अतः) इसलिए (यावत्) जब तक (तस्योदन्तः) उस जिनदत्त का समाचार (कुतः अपि) कहीं से भी (एति) आता है (भद्रे) हे भद्रे ! (तावत्) तब तक

अथवा पूर्वोपार्जित असाता वेदनीयकर्म के उदय के वशवर्ती हो, इसे यह दुःख हुआ है । क्योंकि प्राणियों को निजार्जित कर्मानुसार दुःखों को सहन करना ही पड़ता है ॥११२॥ इस प्रकार कुछ क्षण विचार कर सेठ उससे बोला, हे पुत्री ! चिन्ता मत करो, शोक छोड़ो, हर प्रकार सुख से इस अपनी बहिन विमलमति के साथ धर्म सेवन करते हुए रहो ॥११३॥ पुनः वह कहने लगे, निश्चय ही जो तुम्हारा पति है, वही मेरी पुत्री का भी होना चाहिए, किसी भी उपाय से आप लोगों का मनोरथ सिद्ध होवेगा ॥११४॥ हे शुभ दर्शने ! तुम दोनों यहाँ वे ही शुभ क्रियाएँ अपने पतिदेव के प्रति करो जिनसे समस्त कल्याण निरन्तर प्राप्त होते हैं ॥११५॥ अतः जब तक कहीं से भी, किसी भी प्रकार आपके

(अत्रएव) यहाँ पर ही (सदने) जिनालय में (सौख्यतः) सुख से (प्रतीक्ष्यतां) प्रतीक्षा करें।

इत्थमाश्वास्य ते श्रेष्ठी जगाम निजमन्दिरम्।
प्रीते परस्परं तत्र तिष्ठतस्ते यथासुखम् ॥११७॥

अन्वयार्थ–(इत्थं) इस प्रकार (श्रेष्ठी) विमलसेठ (ते) उन दोनों को (आश्वास्य) आश्वासन देकर (निजमन्दिरम्) अपने घर (जगाम) चले गए (तत्र) वहाँ पर (ते) वे दोनों (परस्परं) परस्पर (प्रीते) प्रीतिपूर्वक (यथासुखम्) सुखपूर्वक (तिष्ठतः) रहने लगीं।

वसन्ततिलका छन्द

जिनेन्द्र - पूजा - यति - दान - जैन - श्रुताध्ययाभ्यास - विमान - सक्ते।
जितेन्द्रिये ते जनता विलोक्य चकार धर्मे बहुधा प्रयत्नम् ॥११८॥
मुक्तावलीप्रभृतिचित्रविधिप्रसक्ते सम्यक्त्व मौक्तिकशुभाभरणाभिरामे।
तत्र स्थिते भुवमुपागतकीर्त्तिलक्ष्म्यौ यद्वत्प्रसन्नवदने मदनार्त्तिमुक्ते ॥११९॥

अन्वयार्थ–(जिनेन्द्र-पूजा-यतिदान-जैनश्रुताध्ययाभ्यासविमानसक्ते) जिनेन्द्रपूजा, मुनिदान और जैन शास्त्रों का अध्ययन अभ्यास विशिष्ट ज्ञान में लीन (जितेन्द्रिये) इन्द्रियों को जीतने वाली (यत्) जो (तत्र स्थिते) वहाँ पर स्थित (मुक्तावली-प्रभृति-चित्रविधिप्रसक्ते) मुक्तावलि आदि अनेक व्रतोपवासों की विधि में आलीन (सम्यक्त्वमौक्तिक-शुभाभरणाभिरामे) सम्यक्त्वरूपी मोतियों के शुभ आभूषणों से सुन्दर (प्रसन्नवदने) प्रसन्न मुखवाली (मदनार्तिमुक्ते) काम की पीड़ा से रहित (भुवं) पृथ्वी पर (उपागतकीर्तिलक्ष्म्यौवत्) पास में आई हुई कीर्ति और लक्ष्मी के समान (ते) उन दोनों को (विलोक्य) देखकर (जनता) जनता ने (धर्मे) धर्म में (बहुधा) अनेक प्रकार से (प्रयत्नम्) प्रयत्न को (चकार) किया।

पति का वृतान्त प्राप्त न होवे, तब तक आप यहीं इसी जिनालय में सुख से निवास करें ॥११६॥

इस प्रकार सांत्वना देकर सेठजी अपने घर चले गए। वे दोनों प्रीतिपूर्वक स्नेह से सुखपूर्वक वहाँ रहने लगीं ॥११७॥

[विमलमति और श्रीमति से प्रभावित होकर अन्य लोगों ने भी धर्म के महत्त्व को समझा]

उन दोनों को जिनवरपूजा, मुनिदान, जैनशास्त्रों के अध्ययन और अभ्यास से विशेष सम्यग्ज्ञान में आसक्त तथा जितेन्द्रिय, मुक्तावलि आदि अनेक व्रतोपवासों की विधि में लवलीन, सम्यक्त्वरूपी मोतियों के शुभ आभूषणों से सुन्दर प्रसन्नमुख वाली, काम की इच्छा रहित हो दिन बिताने लगीं एवं पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई कीर्ति और लक्ष्मी के समान उन दोनों को देखकर, जनता जनार्दन ने भी बहुत प्रकार से धर्म में प्रयत्न किया ॥११८,११९॥

इतिश्री भगवद् गुणभद्राचार्यप्रणीते जिनदत्तचरित्रे पञ्चमः सर्गः।

इस प्रकार श्री विज्ञानवान् गुणभद्राचार्य प्रणीत जिनदत्त चरित में पाँचवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

षष्ठः सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथासौ जिनदत्तोऽपि निमज्य जवतो जले।
गतपोतं प्रदेशं तमद्राक्षीदुत्थितस्ततः ।।१।।

अन्वयार्थ–(अथ) अथानन्तर (ततः) उसके बाद (असौ) यह (जिनदत्तः अपि) जिनदत्त भी (जले) जल में (निमज्य) डूबकर (जवतः) वेग से (उत्थितः) उठा और (तं) उस (प्रदेशं) प्रदेश को (गतपोतं) जहाज से रहित (अद्राक्षीत्) देखा।

जायते महतां चित्तं कोमलं नवनीतवत्।
सम्पत्तौ कठिनं चेदं विपत्तावश्मसन्निभं ।।२।।

अन्वयार्थ–(सम्पत्तौ) संपत्ति में (महतां चित्तं) महापुरुषों का मन (नवनीतवत्) मक्खन के समान (कोमलं) मृदु (च) और (इदं) यह चित्त (विपत्तौ) विपत्ति में (अश्म-सन्निभं) पत्थर के समान (कठिनं) कठोर (जायते) हो जाता है।

सम्भाव्येति पयोराशि-र्भुजाभ्यां भयवर्जितम्।
तरीतुं प्रारम्भे तेन किमसाध्यं मनस्विनाम् ।।३।।

अन्वयार्थ–(भयवर्जितं) मैं भय से रहित हूँ (इति संभाव्य) इस प्रकार विचार कर (तेन) उस जिनदत्त ने (भुजाभ्यां) भुजाओं से (पयोराशिः) समुद्र (तरीतुं) तैरना (प्रारम्भे) प्रारंभ किया क्योंकि (मनस्विनाम्) मनस्वियों के लिए (किं) क्या (असाध्यं) दुर्लभ है ? अर्थात् सब कुछ साध्य/सुलभ है।

प्राप्तं च तरता तेन पुरस्तात्फलकं तथा।
मित्रमालम्बनं तेन गाढ़मालिङ्गितं च तत् ।।४।।

अन्वयार्थ–(च) और (तेन तरता) उस तैरते हुए जिनदत्त ने (पुरस्तात्) सामने (फलकं)

[समुद्रदत्त सेठ द्वारा समुद्र में गिराने के बाद जिनदत्त का भुजाओं आदि द्वारा समुद्र पार करना]

जिस समय जिनदत्त ने गिरी हुई वस्तु को उठाने के लिए समुद्र में डुबकी लगाई और कार्य सिद्ध हो जाने पर ऊपर उछाल मारी, तो अपना आलम्बनभूत रस्सा कटा पाया और जहाज का निशान तक उस जगह न देखा ।।१।।

यह देख वे सेठ की चालाकी समझ गए और मन में यह सोचकर कि सज्जनों का मन सम्पत्ति/सुख में तो मक्खन के समान कोमल होता है और विपत्ति/दुःख में पत्थर से भी अधिक कठोर हो जाता है ।।२।।

इस प्रकार विचारकर भय से रहित जिनदत्त ने दोनों हाथों से समुद्र को तैरना प्रारंभ किया। ठीक ही है मनस्वियों के लिए संसार में क्या कुछ दुर्लभ है ? कुछ भी नहीं। ।।३।।

और उसने तैरते हुए सामने लकड़ी के पटिये को देखा, शीघ्र ही उछल कर उसे सच्चे मित्र के

लकड़ी के पटिये को (प्राप्तं) प्राप्त किया (च) और (तेन) उसने (तत्) उस (आलम्बनं) आलम्बन को (मित्रम् तथा) मित्र के समान (गाढं आलिङ्गितं) जोर से चिपकाकर पकड़ लिया।

पादाभ्यां क्वापि कट्याऽसौ पृष्ठ-वंशेन च क्वचित्।
उदरेण गताशङ्कं तरतिस्म निराकुलम्॥५॥
यावत्तावत्पुरो दृष्टं गगने प्राकृताकृति।
पुरुषद्वितयं तेन तत्रैकेन प्रजल्पितम्॥६॥युगलं॥

अन्वयार्थ—(च) और (असौ) यह (क्वापि) कभी (पादाम्यां) पैरों से (कट्या) कमर से (क्वचित्) कभी (पृष्ठवंशेन) पिछली रीढ़ की हड्डी से (च) और (उदरेण) पेट से (गताशङ्कं) शंका से रहित (निराकुलं) आकुलता रहित (यावत्) जब तक (तरतिस्म) तैरता है (तावत्) तब तक (तेन) उसने (पुरः) सामने (गगने) आकाश में (प्राकृताकृति) स्वाभाविक आकार वाले (पुरुषद्वितयं) दो पुरुषों को (दृष्टं) देखा (तत्र) उनमें (तेन एकेन) उस एक ने (प्रजल्पितं) कहा।

रे रे नृ-कीट[1]! किं कर्म विहितं भवताधुना।
येनास्मद्रक्षितं वार्धिं[2] पादाभ्यामवगाहसे॥७॥

अन्वयार्थ—(रे रे नृ-कीट) अरे-अरे नर! कीड़े (भवता) तेरे द्वारा (अधुना) इस समय (किं) क्या (कर्म) कार्य (विहितं) किया जा रहा है? (येन) जिससे (अस्मद् रक्षितं) हमारे द्वारा रक्षित (वार्धिं) समुद्र को (पादाभ्यां) पैरों से (अवगाहसे) अवगाहकर रहे हो।

शक्रोप्यत्र जलक्रीड़ां कर्तु-माशङ्कते मम।
दुरात्मन्नद्य किं याति जीवन्नेव भवानितः॥८॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ इस समुद्र में (जलक्रीड़ां) जलक्रीड़ा को (कर्तुं) करने के लिए (मम) मुझसे (शक्रोपि) इन्द्र भी (आशङ्कते) डरता है (दुरात्मन्) हे दुष्ट आत्मन्! (अद्य) आज (किं) क्या (भवान्) तुम (इतः) यहाँ से (जीवन् एव) जीवित रहते हुए ही (याति) जा सकते हो?

समान जोर से पकड़ लिया॥४॥ इस फलक का सहारा लेकर, कभी पैरों से, कभी भुजाओं से, कभी छाती के बल से, कभी कमर की ओर से, कभी पीठ के सहारे से तथा कभी पेट के सहारे से निर्भय होकर, निराकुलता से तैरने लगा। इस प्रकार गंभीर समुद्र में जिनदत्त तैरते चले जाते थे, कि मार्ग में सुन्दर आकार के धारक दो पुरुष आकाश में जाते हुए दिखे, उनमें से एक ने उन्हें लक्ष्यकर ताड़ना पूर्वक कहा॥५,६॥

[दो विद्याधरों का आकर जिनदत्त को भयभीत करना]

रे! रे! नर कीट तू कौन है? तूने यह क्या कार्य प्रारम्भ किया है, हमारे द्वारा रक्षित समुद्र को तू पैरों से रौंद रहा है॥७॥

हे दुरात्मन्! मेरे सामने यहाँ इन्द्र भी क्रीड़ा करने में भयभीत हो काँपता है, फिर भला तेरा क्या साहस? क्या आज तू जीवित रह सकता है?॥८॥

---

१. नराधमः इत्यर्थः। २. समुद्रं।

विप्रलब्धोऽसि केनापि मन्दभाग्यतयाथवा।
मन्नाम न श्रुतं क्वापि येनैवं विचरस्यहो ॥९॥

अन्वयार्थ—(अथवा) या (मन्दभाग्यतया) मन्दभाग्य होने से (केन) किसी के द्वारा भी (विप्र-लब्धः असि) तुम ठगाए गए हो (अपि) तथा (क्वापि) कहीं पर भी तुमने (मन्नाम न श्रुतं) मेरे नाम नहीं सुना (अहो) आश्चर्य है! (येन) जिस कारण से (एवं) इस प्रकार तुम (विचरसि) घूम रहे हो।

निशम्येति करं कृत्वा दक्षिणं क्षुरिकोपरि।
वामं च फलके दत्वा प्रोवाचेति समत्सरम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(इति निशम्य) इस प्रकार कठोर वाणी को सुनकर (दक्षिणं करं) दाहिने हाथ को (क्षुरिकोपरि) छुरी के ऊपर (कृत्वा) करके (च) और (वामं) बाएँ हाथ को (फलके दत्वा) पटिये पर देकर (इति) इस प्रकार (समत्सरम्) मात्सर्य के साथ (प्रोवाच) बोला।

शरन्मेघ इव व्यर्थं कुरुषे गलगर्जितम्।
दूरे एव किमाश्वेहि जुहोमि वडवानले ॥११॥

अन्वयार्थ—(व्यर्थं) व्यर्थ ही (शरन्मेघ इव) शरत्कालीन मेघ के समान (गलगर्जितम्) गले की गर्जना (कुरुषे) करते हो (दूरे एव) दूर पर ही (किं) क्यों (आश्व) ठहरे हो (एहि) आओ मैं तुम्हें (वडवानले) समुद्र की अग्नि में (जुहोमि) होम करता हूँ।

आकाश-गमनादेव मामंस्थास्त्वं[1] महत्तमम्।
आत्मानमत्र यद्यान्ति पक्षिणोऽपि भयाकुलाः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(त्वं) तुम (आत्मानम्) अपने आप को (आकाशगमनात् एव) आकाश में गमन करने से ही (महत्तमं) महानतम (मा आमंस्थाः) मत मानो (यत्) क्योंकि (भयाकुलः) भय से आकुलित (पक्षिणः अपि) पक्षी भी (अत्र) इस आकाश में (यान्ति) जाते हैं/गमन करते हैं।

शङ्कन्तां हन्त शक्राद्या भोगलालस-मानसाः।
अहमस्मि पुनर्मल्लो मुञ्च शस्त्र-मशङ्कितः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(हन्त) खेद है (भोगलालस-मानसाः) भोगों में आसक्त चित्त वाले (शक्राद्याः)

हे मन्दभाग्य! क्या किसी के द्वारा तुम वंचित किए गए हो या उन्मत्त हुए हो? क्या मेरा नाम नहीं सुना है, जो इस प्रकार निर्भीक घूम रहे हो ॥९॥

इस प्रकार कठोर वचनों को सुनकर जिनदत्त श्रमित होते हुए भी चौकन्ना हो उठा। दाहिना हाथ छुरी पर जा पहुँचा, बाएँ हाथ से फलक को पकड़ा और बड़े अहंकार से ललकारा ॥१०॥ अरे! क्या व्यर्थ ही शरत्कालीन मेघों के समान कोरे गाल बजा रहे हो? दूर ही से क्यों गरजते हो? आओ मेरे सामने अभी बडवाग्नि में तुम्हारा होम करता हूँ ॥११॥ मात्र आकाश में गमन करने से ही तुम अपने को महान् समझते हो, भयाकुल पक्षी भी आकाश में उड़ जाते हैं अर्थात् तुम पक्षी के समान क्यों इसका अभिमान करते हो ॥१२॥ तुमसे इन्द्रादि भी भयभीत होते होंगे क्योंकि वे भोगों

---

१. मा जानीहि।

इन्द्रादि भी (शङ्कन्तां) भयभीत हों (पुनः) किन्तु (अहं) मैं (मल्लः अस्मि) पहलवान हूँ (अशंकितः) शंका रहित होते हुए (शस्त्रं मुञ्च) शस्त्र को छोड़ो।

प्रमाद्यतोऽपि सिंहस्य लुप्यते केसरच्छटा।
कुरङ्गैः क्वापि रे मूढ ! दृष्टं वेति श्रुतं त्वया ॥१४॥

अन्वयार्थ–(रे मूढ़ !) अरे मूर्ख ! (प्रमाद्यतः) प्रमादी/सोये हुए (सिंहस्य) सिंह के (अपि) भी (केसरच्छटा) पीले बालों का समूह (कुरङ्गैः) हिरणों के द्वारा (लुप्यते) हरा जाता है (त्वया) तेरे द्वारा (क्वापि) कहीं पर भी (इति) इस प्रकार (दृष्टं वा) देखा है अथवा (श्रुतं) सुना है।

श्रुत्वेति तं महासत्त्व-शालिनं समुवाच सः।
कोपं मुञ्च महावीर ! मयैवं त्वं परीक्षितः ॥१५॥

अन्वयार्थ–(सः) वह विद्याधर (इति) इस प्रकार (श्रुत्वा) सुनकर (तं) उस (महासत्व-शालिनं) महाबलशाली जिनदत्त को (समुवाच) सम्यक् विनयपूर्वक बोला (महावीर) हे महावीर ! (कोपं मुञ्च) क्रोध को छोड़ो (मया) मेरे द्वारा (त्वं) तुम (एवं) इस प्रकार (परीक्षितः) परीक्षित हुए हो अर्थात् मैंने तुम्हारी परीक्षा की है।

प्रसीद शृणु मद्वाक्य-मप्रपञ्चं महामते।
यथास्ति विजयार्द्धाद्रि-दक्षिणश्रेणिमण्डने ॥१६॥
अशोकश्रीः खगाधीशो रथनूपुरपत्तने।
विजयाकुक्षिसम्भूता शृङ्गारादिमतिः सुता ॥१७॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(महामते) हे महाबुद्धिमान् ! (प्रसीद) प्रसन्न होइए (अप्रपञ्चं) यथार्थ/सारभूत (मद्वाक्यं) मेरे वचन को (शृणु) सुनिए (यथा) जैसे कि (विजयार्द्धाद्रि-दक्षिण-श्रेणि-मण्डने) विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के मण्डन स्वरूप (रथनूपुरपत्तने) रथनूपुर नगर में (अशोक-श्रीः) अशोकश्री (खगाधीशः) विद्याधरों का स्वामी है (विजया-कुक्षि-सम्भूता) उसकी विजयारानी के उदर से उत्पन्न (शृङ्गारादिमतिः) शृङ्गारमति (सुता) पुत्री है।

में लोलुप रहते हैं। मैं मल्ल हूँ, तुममें शक्ति है तो निशंक होकर शस्त्र चलाओ ॥१३॥

सिंह चाहे कितने ही प्रमाद या असावधानी से सोता हो, उसकी गर्दन के बाल तुच्छ डरपोक हिरण नहीं उखाड़ सकते। तेरे द्वारा कहीं पर भी इस प्रकार देखा अथवा सुना गया है ॥१४॥

[जिनदत्त की आक्रोश भरी वाणी सुनकर दोनों विद्याधरों द्वारा क्षमा माँगना]

अपने वाक्यों के उत्तर में इस प्रकार दूने क्रोध और तिरस्कार से भरे जिनदत्त के वाक्यों को सुनकर, उस गगनगामी पुरुष ने नम्र हो कहा–हे महावीर ! क्रोध को छोड़कर शांत होइए मैंने तुम्हारी परीक्षा की है ॥१५॥ हे महासत्व के धारक निर्भय वीर पुरुष ! आप क्रोध छोड़कर प्रसन्न होइए और यथार्थ में मेरे वाक्यों को सुनिए। विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नाम का एक विद्याधरों का नगर है। उसके स्वामी अशोकश्री के विजया महारानी के गर्भ से उत्पन्न शृङ्गारमति नाम की एक श्रेष्ठ सुंदर कन्या है ॥१६,१७॥

तस्य सा सुकुमाराङ्गी प्राप्त-यौवन-मण्डना।
विद्याधरकुमारेषु वरं नेच्छति कञ्चन ॥१८॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस राजा की (सा) वह (सुकुमाराङ्गी) कोमल अंगों वाली राजकुमारी (प्राप्तयौवन-मण्डना) प्राप्त हुए यौवन के सौन्दर्य से युक्त (विद्याधर-कुमारेषु) विद्याधर कुमारों में (कञ्चन) किसी भी (वरं) वर को (न इच्छति) नहीं चाहती है।

ज्योतिर्विदा समादिष्टं तदेवं यः पयोनिधौ।
तरिष्यति भुजाभ्यां स वरीता तव देहजाम् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(ज्योतिर्विदा) ज्योतिषी के द्वारा (एवं) इस प्रकार (समादिष्टं) बताया गया है कि (यः) जो (तद्) उस (पयोनिधौ) समुद्र में (भुजाभ्यां) भुजाओं से (तरिष्यति) तैरेगा (सः) वह (तव) तुम्हारी (देहजाम्) पुत्री को (वरीता) वरण करने वाला पति होगा।

तदर्थं प्रेषितावावां विद्याभू-चक्रवर्त्तिना।
वायुवेग-महावेगौ विद्याधर-कुमारकौ ॥२०॥

अन्वयार्थ–(तदर्थं) उसके लिए [शृङ्गारमति के वरण के लिए] (विद्याभूचक्रवर्त्तिना) विद्याधरों के चक्रवर्ती ने (वायुवेगमहावेगौ) वायुवेग और महावेग नामक (आवां) हम दोनों (विद्याधरकुमारकौ) विद्याधर कुमारों को (प्रेषितौ) भेजा है।

ततः प्राप्तोऽसि पुण्येन विश्वकल्याणभाजनम्।
नररत्नं त्वमित्युक्त्वा तं चक्रे तटवर्त्तिनम् ॥२१॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसलिए (विश्व-कल्याण-भाजनम्) विश्वकल्याण के पात्र (नररत्नं) नरश्रेष्ठ (त्वं) तुम (पुण्येन) पुण्य से (प्राप्तः असि) प्राप्त हुए हो (इति उक्त्वा) इस प्रकार कहकर उन्होंने(तं) उस जिनदत्त को (तटवर्तिनम्) सागर तट के पास (चक्रे) किया।

संस्नातो मधुराम्भोभि-र्दिव्यवस्त्रविभूषितः।
समारोप्य विमानेऽसौ ताभ्यां नीतस्तदन्तिकम् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(ताभ्यां) उन दोनों विद्याधर कुमारों के द्वारा (असौ) वह (मधुराम्भोभिः) मीठे

उस राजा की शृङ्गारमति नाम की कोमल अंगों वाली प्राप्त हुए यौवन के सौन्दर्य युक्त विद्याधर कुमारों में किसी भी वर को नहीं चाहती ॥१८॥ इस प्रकार ज्योतिषी से पूछने पर मालूम हुआ है कि जो समुद्र में अपनी भुजाओं से तैरता हुआ मिलेगा, वही इसका पति होगा ॥१९॥ ज्योतिषी के वचनानुसार विद्याधरों के राजा अशोकश्री ने वायुवेग एवं महावेग नामक हम दोनों विद्याधर कुमारों को, यहाँ समुद्र में तैरने वाले पुरुष को देखने के लिए नियुक्त कर दिया है ॥२०॥

आज पुण्य से आप जैसे विश्वकल्याण के पात्र नरश्रेष्ठ को प्राप्त किया। आइए इस प्रकार मधुर, प्रिय वचनों से सम्बोधन कर उसे सागर तट पर आसीन किया ॥२१॥

वहाँ पहुँचकर शीघ्र मीठे जल से स्नान कराया, सुंदर मनोहर वस्त्रों को पहनकर विद्याधर

जल से (संस्नातः) स्नान कराया गया (दिव्यवस्त्र-विभूषितः) और सुंदर मनोहर वस्त्रों से विभूषित होता हुआ (विमानेः) विमान में (समारोप्य) बिठलाकर (तदन्तिकम्) उस अशोकश्री विद्याधर राजा के पास (नीतः) ले जाया गया।

रूपातिशयमालोक्य तस्यासौ दूरतो नृपः।
न ममौ हृदि हर्षेण रोमाञ्चाञ्चितविग्रहः ॥२३॥

अन्वयार्थ–(रोमाञ्चाञ्चितविग्रहः) रोमाञ्चित शरीर वाले (असौ नृपः) उस राजा ने (तस्य) उस जिनदत्त के (रूपातिशयं) सौंदर्याधिक्य को (दूरतः) दूर से (अवलोक्य) देखकर (हर्षेण) हर्ष से (हृदि) हृदय में (न) नहीं (ममौ) समाया।

अचिन्तयच्च किं साक्षात् कन्दर्पोऽयमुपागतः।
नान्यथैवंविधा रूप-कान्ति-लावण्य-सम्पदः ॥२४॥

अन्वयार्थ–(च) और (अचिन्तयत्) विचार किया (किं) क्या (अयं) यह (साक्षात्कन्दर्पः) साक्षात् कामदेव (उपागतः) आया है? (अन्यथा) अन्य प्रकार से (एवंविधाः) इस प्रकार कीं (रूपकान्तिलावण्य-सम्पदः) रूप, कांति और सौन्दर्यरूप सम्पदाएँ (न) नहीं होतीं।

अथवा सन्ति संसारे सौभाग्यकुलमन्दिरम्।
ते केऽपि पुरतो येषां मनोभूरपि[1] लज्जते ॥२५॥

अन्वयार्थ–(अथवा) और (संसारे) संसार में (ते) वे (के अपि) कोई ही (सौभाग्यकुल-मंदिरं) सौभाग्यरूपी कुल के मंदिर (सन्ति) हैं (येषां) जिनके (पुरतः) आगे (मनोभूः अपि) कामदेव भी (लज्जते) लज्जित होता है।

यथा चिन्तित एवायं वरो विद्याभृदुत्तमः।
लब्धः पुण्येन कन्यायाः कुत्राप्यप्राकृताकृतिः ॥२६॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसा (चिन्तितः) सोचा गया था (एवं) उसी प्रकार (अयं) यह (अप्राकृताकृतिः) अप्राकृत/कुछ अस्वाभाविक आकृति वाले/असाधारण/विशेष अद्भुत सौंदर्यशाली (विद्याभृदुत्तमः) विद्या को धारण करने वाला उत्तम (वरः) वर (कन्यायाः) कन्या के (पुण्येन) पुण्य से (कुत्रापि) कहीं से भी (लब्धः) प्राप्त हुआ है।

कुमारों के द्वारा विमान में बिठलाकर जिनदत्त को विद्याधर राजा के पास ले जाया गया ॥२२॥ रथनूपुर नगर के अधिपति अशोकश्री ने जिस समय कुमार जिनदत्त के स्वरूप को देखा, उस समय हर्ष से रोमांचित शरीर वाला हो हृदय में फूला न समाया ॥२३॥ राजा ने सोचा यह बड़ा ही सुंदर युवा है। कहीं यह साक्षात् कामदेव तो नहीं आ गया, अन्यथा इस प्रकार की रूप और लावण्य की महिमा अन्यत्र कहाँ हो सकती है? ॥२४॥ अथवा संसार में एक से एक बढ़िया पुरुष रहते हैं, उनमें से कोई ही ऐसे भाग्यशाली होते हैं, जिनकी सुंदरता को देख कामदेव भी लज्जित हो जाता है ॥२५॥ जैसा मैं कन्या के लिए गुणी, विद्वान्, सुंदर वर चाहता था, वैसा ही यह कन्या के पुण्य प्रभाव से मिल गया ॥२६॥

१. कामः।

अथान्येद्युः शुभे लग्ने सुमुहूर्त्ते तिथौ शुभे ।
विवाहमङ्गलं राजा कन्यायास्तेन सन्दधे ॥२७॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (अन्येद्युः) अन्य दिन (शुभे लग्ने) शुभलग्न में (सुमुहर्त्ते) अच्छे मुहूर्त्त में (शुभेतिथौ) शुभतिथि में (राजा) राजा ने (कन्यायाः) कन्या का (विवाहमङ्गलं) विवाहरूप मांगलिक कार्य (तेन) उस जिनदत्त से (सन्दधे) कर दिया ।

विज्ञाप्य श्वसुरं तेन दत्तचित्र-विभूतिकः ।
प्रतस्थे स्वपुरं साकं कान्तया कान्तया[1] तया ॥२८॥

अन्वयार्थ—(दत्तचित्रविभूतिकः) दी है अनेक प्रकार की विभूति को जिसने ऐसे (श्वसुरं) श्वसुर को (तेन) उस जिनदत्त ने (विज्ञाप्य) बतलाकर (तया) उस (कान्तया) मनोहर (कान्तया) पत्नी के (साकं) साथ (स्वपुरं) अपने नगर को (प्रतस्थे) प्रस्थान किया ।

चञ्चच्चारुध्वजव्रातं किङ्किणी[2]-क्वाणसुन्दरम् ।
प्रलम्बमोक्तिकोद्दाम-दामाढ्यं बहुभूमिकम् ॥२९॥
वरं विमानमारुढः पुरोद्यान-नदी-नगान् ।
प्रियायै दर्शयन्नेष यावद्याति विहायसा ॥३०॥युग्मं॥

अन्वयार्थ—(चञ्चच्चारुध्वजव्रातं) चंचल, शोभनीय, सुंदर ध्वजाओं के समूह से सहित (किङ्किणी-क्वाणसुन्दरम्) छोटी-छोटी घंटियों की झुन-झुन की आवाज से सुंदर (बहुभूमिकम्) छोटी-बड़ी बहुत प्रकार की (प्रलम्बमौक्तिकोद्दाम-दामाढ्यं) मोतियों की लटकती हुईं लम्बीं विशाल मालाओं सहित (वरं) श्रेष्ठ (विमानं आरुढः) विमान में सवार (पुरोद्यान-नदी-नगान्) नगर के बगीचे, नदी और पर्वतों को (प्रियायैः) प्रियपत्नी के लिए (दर्शयन्) दिखाता हुआ (एषः) यह जिनदत्त (यावत्) जब तक (विहायसा) आकाश से (याति) जाता है ।

चम्पापुरीप्रवेशे हि जाता रात्रिस्ततः प्रिया ।
उक्ता तेन यथा तिष्ठ जाग्रती त्वं स्वपिम्यहम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(हि) कि (चम्पापुरी प्रवेशे) चम्पापुरी में प्रवेश करने पर (रात्रिः जाता) रात हो

[अशोक राजा की पुत्री श्रृंगारमति के साथ जिनदत्त का विवाह]

इस प्रकार श्रृङ्गारमति के पिता ने जिनदत्त को सब प्रकार से योग्य समझकर शुभदिन, शुभमुहूर्त्त, शुभतिथि एवं शुभलग्न में उससे कन्या का विवाह कर दिया ॥२७॥ जिनदत्त भी कुछ दिन वहाँ रहकर अपनी पत्नी के साथ श्वसुर से दिए गए उपहार को ले अपने नगर की ओर चल दिए ॥२८॥ छोटी-छोटी घंटियों के शब्दों के करने से महामनोहर लगने वाले, शोभनीय, लहलहाती हुई सुंदर ध्वजाओं के समूह से मंडित, मोतियों की मालाओं से सुसज्जित, बहुत लंबे-चौड़े विमान में बैठकर मार्ग को तय करते हुए जिनदत्त और श्रृङ्गारमति आकाश से चले जा रहे थे । नोट—[यहाँ गगनगामी विमान का भव्य वर्णन आया है, जो जैन वैज्ञानिकों के अस्तित्व को सिद्ध करता है ।] ॥२९,३०॥

कि इतने में जैसे ही चम्पापुरी में प्रवेश करते है तो रात्रि हो जाती है, रात्रि हो जाने से

---

१. मनोहरया । २. क्षुद्रघण्टिका ।

जाती है (ततः) उसके बाद (तेन) उस जिनदत्त ने (प्रिया) पत्नी से (उक्ता) कहा (त्वं) तुम (जाग्रती) जागती हुई (यथा) जैसी (तिष्ठ) रहो (अहं) मैं (स्वपिमि) सोता हूँ।

समुत्थाय शयित्वासौ तामवादीदिति प्रिये।
स्वपिहि गताशङ्का तिष्ठाम्येष पुरस्तव ॥३२॥

अन्वयार्थ–(असौ) वह (शयित्वा) सो कर (समुत्थाय) उठा और (ताम्) उसको (इति) इस प्रकार (अवादीत्) बोला (प्रिये) हे प्रिये (त्वं) तुम (गताशङ्का) शंका रहित हो (स्वपिहि) शयन करो (एषः) यह मैं (तव) तुम्हारे (पुरः) सामने (तिष्ठामि) ठहरा हूँ/बैठा हूँ।

एवमस्त्विति सञ्ज्ञाप्य[1] सा सुष्वाप सुनिर्भरम्।
प्रसुप्तां तां ततो ज्ञात्वा जिनदत्तस्तिरोदधे[2] ॥३३॥

अन्वयार्थ–(एवम् अस्तु) ऐसा ही हो (इति) इस प्रकार (सञ्ज्ञाप्य) कहकर (सा) वह श्रृङ्गारमति (सुनिर्भरम्) अच्छी तरह गाढ़निद्रा में (सुष्वाप) सो गई (ततः) उसके बाद (तां) उसको (प्रसुप्तां) गहरी नींद में सोती हुई (ज्ञात्वा) जानकर (जिनदत्तः) जिनदत्त (तिरोदधे) अन्तर्धान हो छिप गया।

उन्मोटिताङ्गयष्टिः सा यावदुत्तिष्ठते ततः।
अरण्यं वां विमानं तद्-अद्राक्षीद्दयितोज्झितम् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (सा) वह (यावत्) जब तक (उन्मोटिताङ्गयष्टिः) शरीर को मोड़कर [अंगड़ाई लेकर] (उत्तिष्ठते) उठती है (तावत्) तब तक (तद्) उसने (अरण्यं) जंगल को (वा) और (विमानं) विमान को (दयितोज्झितम्) पति से रहित (अद्राक्षीत्) देखा।

ददर्श च दिशस्तेन विना सतिमिरा इव।
व्योमासोमं महीं मोह-जननीं जातविभ्रमा ॥३५॥

अन्वयार्थ–(तेन विना) उस जिनदत्त के बिना (जातविभ्रमा) विभ्रम को प्राप्त उस श्रृंगारमति ने (असोमं) चन्द्रमा रहित (व्योम) आकाश को (सतिमिरा इव) अंधकार से व्याप्त हुए के समान (दिशाः)

जिनदत्त ने अपनी प्यारी पत्नी श्रृङ्गारमति से कहा-प्रिये मैं पहले सो जाता हूँ और तुम जागती रहना ॥३१॥

इसके बाद थोड़ी देर सोकर उठा और फिर उसने कहा मैंने सो लिया है अब तुम शंका रहित हो सो जाओ। मैं यहाँ तेरे सामने ही बैठा हूँ ॥३२॥

पति की आज्ञानुसार श्रृङ्गारमति अच्छी तरह गाढ़निद्रा में सो गई, उसके बाद उसको गहरी नींद में सोती हुई जानकर जिनदत्त कहीं तिरोहित हो छिप गए ॥३३॥

कुछ समय बाद जब श्रृङ्गारमति अंगड़ाई लेकर उठती है, तब तक उसने जंगल और विमान को पति से रहित देखा ॥३४॥

तथा उसने भयातुर हो चारों ओर दिशाओं में नजर दौड़ाई, सर्वत्र काल के समान घोर अंधकार दिखाई दिया। आकाश में चंद्रमा भी नहीं था। पृथ्वी मोहको उत्पन्न करने वाली भ्रम पैदा कर रही थी

---

१. उक्त्वा। २. अन्तर्हितो बभूव।

दिशाओं को (च) और (मोहजननीं) मोह को उत्पन्न करने वाली (महीं) पृथ्वी को (ददर्श) देखा।

विललाप ततो यूथ-भ्रष्टेव हरिणी भृशम्।
विषाद-तरलां दृष्टिं पातयन्ती समन्ततः ॥३६॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (यूथभ्रष्टः) अपने समूहसे बिछड़ी हुई (हरिणी इव) हरिणी के समान (विषादतरलां) विषाद/खेद से भींगी हुई (दृष्टिं) दृष्टि को (समन्ततः) सब ओर (पातयन्ती) डालती हुई (भृशं) अत्यधिक (विललाप) विलाप करने लगी।

जीवितेश ! समुत्सृज्य मामत्र क्व गतोऽधुना।
निमेष-मपि ते सोढुं वियोग-मह-मक्षमा ॥३७॥

अन्वयार्थ–(जीवितेश !) हे जीवनाधार/प्राणनाथ ! (अत्र) यहाँ (अधुना) इस समय (मां) मुझको (समुत्सृत्य) छोड़कर (क्व) कहाँ (गतः) गए ? (अहं) मैं (ते) तुम्हारे (वियोगं) वियोग को (निमेषमपि) क्षण भर भी (सोढुं) सहने के लिए (अक्षमा) असमर्थ हूँ।

नर्माशर्म्मकरं कान्त त्यज चित्तविदाहि मे।
मालतीमुकुलम्लानिं धत्ते हि हिममारुतः ॥३८॥

अन्वयार्थ–(कान्त) हे पतिदेव ! (मे चित्तविदाहि) मेरे चित्त को विदीर्ण करने/जलाने वाले (अशर्म्मकरं) दुख को करने वाले (नर्म) हँसी को (त्यज) छोड़ो (हि) क्योंकि (हिममारुतः) ठंडी वायु भी (मालती-मुकुलम्लानिं) मालती की कलि की म्लानता [मुरझाने] को (धत्ते) धारण करती है।

रागान्धया कयाथाशु किं हृतः खग-कन्यया।
केनापि वारिणा नाथ नररत्नं कटाक्षितम् ॥३९॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (नाथ) हे नाथ ! (किं) क्या (कया) किसी (रागान्धया) राग से अंधी (खगकन्यया) विद्याधर कन्या के द्वारा आप (नररत्नं) नररत्न (कटाक्षितं) कामबाणों से बांधे गए (वा) अथवा (केन अपि) किसी भी (अरिणा) शत्रु के द्वारा (आशु हृतः) शीघ्र हरे गए।

अर्थात् झुरमुट में कुछ भी स्पष्ट प्रतिभाषित नहीं हो रहा था ॥३५॥

शृङ्गारमति ने अपने समूह से बिछड़ी हुई हरिणी के समान विषाद से भींगी हुई दृष्टि को सब ओर फैलाते हुए अत्यधिक विलाप किया ॥३६॥

हे प्राणाधार प्रियतम ! आप मुझ अबला को एकाकिनी इस शून्य प्रदेश में छोड़ कहाँ बिना कुछ कहे-सुने ही चले गए। मैं आपके वियोग को क्षण मात्र भी नहीं सह सकती ॥३७॥

यदि आप मुझ से इस प्रकार छिपकर हँसी कर रहे हैं, तो कृपाकर शीघ्र ही इस मर्मभेदी मेरी छाती को फाड़ने वाली दिल्लगी को संकुचित कर लीजिए। क्योंकि ठंडी वायु भी मालती के फूल को मुरझा देती है ॥३८॥

हे नाथ ! क्या किसी राग से अंधी विद्याधर कन्या ने आप नर-श्रेष्ठ को कामपाश से बांध लिया अथवा किसी शत्रु ने आपको हर लिया है ॥३९॥

स्वप्नेनापि न मेऽनिष्टं शिष्टं बान्धव-सूचितम् ।
क-मरिष्ट-मिदं जातं दत्तदुःखपरम्परम् ॥४०॥

अन्वयार्थ–(बान्धवसूचितम्) बन्धुओं द्वारा सूचित/बताने योग्य (अनिष्टं) अनिष्ट/अशुभ को (मे) मेरे (स्वप्नेन) स्वप्न के द्वारा (अपि) भी (न शिष्टं) नहीं बताया गया और (इदं) यह (दत्त-दुःख-परम्परम्) दी है दुख की परम्परा को जिसने ऐसा अर्थात् दुख की परम्परा को देने वाला (कं) कौन (अरिष्टं) अशुभ कर्म (जातं) उदय हुआ है ।

अथवास्ति न ते दोषः लेषोऽपि शुभदर्शन ।
ममैव पूर्वकर्म्माणि फलन्त्येवं सविस्तरम् ॥४१॥

अन्वयार्थ–(अथवा) और (शुभदर्शन) हे शुभदर्शन ! (ते) तुम्हारा (लेशः अपि) तनिक भी (दोषः) दोष (नास्ति) नहीं है (ममैव) मेरे ही (पूर्व-कर्म्माणि) पूर्व संचित कर्म (सविस्तरम्) विस्तार सहित (एवं) इस प्रकार (फलन्ति) फलित हुए हैं ।

राजहंसो मया कान्ता-सन्निधौ कुंकुमादिभिः ।
प्रायः पिञ्जरितः किन्तु क्रीडापद्मसरःस्थितः ॥४२॥
प्रातरेवाथ कान्तायाः सङ्गमाभिमुखो मया ।
रथाङ्ग-विहगश्चक्रे वियुक्तो युक्ति-हीनया ॥४३॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(कान्ता-सन्निधौ) प्रियपत्नी की निकटता में (क्रीडा-पद्मसरःस्थितः) क्रीड़ा के लिए कमलों के सरोवर में स्थित (राजहंसः) राजहंस पक्षी (कुंकुमादिभिः) केशर आदि सुगंधित द्रव्यों से (मया) मेरे द्वारा (प्रायः) अक्सर (पिञ्जरितः) पीला किया होगा (अथ) और (किन्तु) परन्तु (प्रातः एव) सुबह ही (युक्तिहीनया) युक्ति/विवेक से रहित (कान्तायाः) पत्नी के (सङ्गमाभिमुखः) संगम के अभिमुख (रथाङ्ग-विहगः) चकवा पक्षी (मया) मेरे द्वारा (वियुक्तः) वियोग युक्त (चक्रे) किया होगा।

किं मया मदनातङ्का-दन्य-जन्मनि विघ्निता ।
सपत्नी वनिता वान्या भर्तृ-सङ्गम-लालसा ॥४४॥

अन्वयार्थ–(किं मया) क्या मेरे द्वारा (अन्य जन्मनि) अन्य जन्म में (मदनातङ्कात्) काम की पीड़ा से (सपत्नी) पत्नी सहित पुरुष (वा) अथवा (भतृ-संगम लालसा) भरतार के संगम की इच्छा वाली (अन्या वनिता) अन्य स्त्री (विघ्निता) विघ्न युक्त की गई ।

हे प्रिय ! मैंने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा । मेरे श्रेष्ठ बांधवों ने भी कभी इस प्रकार की सूचना नहीं पायी । न जाने किस अशुभ कर्म के उदय ने इस दुःख परम्परा में मुझे लाकर डाला है ॥४०॥ अथवा हे शुभ दर्शन ! इसमें आपका तनिक भी दोष नहीं है, मेरा ही पूर्वजन्म कृत अशुभकर्म इस समय विस्तारपूर्वक अतिशयरूप में प्रतिफलित हुआ है ॥४१॥ नियम से मैंने पूर्वभव में सरोवर में निःशंक क्रीड़ा करते हुए राजहंसी-राजहंस में से राजहंस को कुंकुमादि से भिन्न रंग का कर वियुक्त किया होगा और सुबह रतिकाल में अपनी प्यारी के संगम का उत्सुक चक्रवाक किसी चक्रवाकी से वियुक्त कर दिया होगा ॥४२,४३॥ क्या मेरे द्वारा अन्य जन्म में काम की पीड़ा से पीड़ित पत्नी सहित पुरुष अथवा अन्य कामेच्छुक स्त्री को पति के मिलने की इच्छा में विघ्न डाला गया होगा ॥४४॥

तस्येदं फल-मायात-मलंघ्य-मति-दुःसहम् ।
किमतोऽहं विधास्यामि भग्नाशा निर्जने वने ॥४५॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उसका (इदं) यह (अलंघ्यं) अलंघ्य (अतिदुःसहम्) अत्यन्त दुःसह (फलं) फल (आयातं) आया है (अतः) इसलिए (भग्नाशा) हताशा (अहं) मैं (निर्जने वने) निर्जन वन में (किं विधास्यामि) क्या करूँ ?

वल्लभानाथ ! चेन्नाहं मुञ्च मां कुलमन्दिरे ।
एककां तत्र यान्तीं मा-मयशो हन्ति दुर्वचम् ॥४६॥

अन्वयार्थ–(वल्लभा-नाथ !) हे प्रिय-स्वामिन् ! (मां) मुझे (एककां) अकेली को (कुलमन्दिरे) पिता के घर में (न मुञ्च) मत छोड़ो (चेत् अहं) यदि मैं (तत्र) वहाँ पर (यान्तीं) जाती हूँ तो (मां अयशः) मुझको अयश (दुर्वचं) तथा दुर्वचन (हन्ति) नष्ट करेंगे/मारेंगे ।

यद्यहं सापराधापि दीयतां दर्शनं लघु ।
कारुण्यं क्व (त्र) ते कान्त मामेवं यद्युपेक्षसे ॥४७॥

अन्वयार्थ–(यदि अहं) अगर मैं (सापराधापि) अपराधनी भी हूँ तो भी (लघु) शीघ्र (दर्शनं) दर्शन (दीयतां) दीजिये (कान्त !) हे प्रिय (ते) तुम्हारी (कारुण्यं) करुणा (क्व (त्र)) कहाँ गई (यत्) जो तुम (मां) मेरी (एवं) इस प्रकार (उपेक्षसे) उपेक्षा कर रहे हो ।

आक्रन्दन्त्यास्ततस्तस्याः स्थितेन जिनसद्मनि ।
कुमार-प्रेयसी-युग्मे-नाश्रावि रुदित-ध्वनिः ॥४८॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (आक्रन्दन्त्याः) विलाप करती हुई (तस्याः) उसकी (रुदितध्वनि) रोने की आवाज (जिनसद्मनि) जिनमंदिर में (स्थितेन) स्थित (कुमार-प्रेयसी-युग्मेन) कुमार की दोनों पत्नियों ने (अश्रावि) सुनी ।

निर्गताभ्यां ततस्ताभ्यां सजवाभ्यां विलोकिता ।
निकटे वनदेवीव तदुद्याने द्रुमान्तरे ॥४९॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (सजवाभ्यां) वेग से सहित (निर्गताभ्यां) निकली हुईं (ताभ्यां)

इन्हीं समस्त पापों का अवश्य ही भोग्यफल मुझे इस जन्म में प्राप्त हुआ है । हे नाथ ! मैं इस निर्जन जंगल में रहकर क्या करूँ ? ॥४५॥

हे प्राण वल्लभ ! मुझे अनाथ मत छोड़िए, यदि मैं एकाकी अपने पिता के घर जाऊँ, तो अवश्य ही मेरे यश का नाश होगा तथा लोग दुर्वचनों से पीड़ित करेंगे ॥४६॥

हे नाथ ! यदि आप मुझे अपराधिनी समझ रहे हैं, तो भी एक बार शीघ्र दर्शन दीजिए, या आपको तनिक भी दया नहीं जो इस प्रकार मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ॥४७॥ इस प्रकार वह अनेक प्रकार से विलाप करने लगी, उसकी रोने की आवाज जिनमंदिर में स्थित कुमार की दोनों पत्नियों ने सुनी ॥४८॥ ज्यों हि उन्होंने स्वर से किसी दुःखिनी स्त्री की आवाज पहचानी, तो वे शीघ्र ही

उन दोनों ने (तदुद्याने) उस बगीचे के (निकटे) पास में (द्रुमान्तरे) वृक्षों के मध्य में (वनदेवीव) श्रृङ्गारमति को वन देवी के समान (विलोकिता) देखा।

आश्वासिता च सा ताभ्यां बहुधा जिनमन्दिरम्।
जगाम संहृताशेष - विमानादिविधिस्ततः ।।५०।।

अन्वयार्थ–(च) और (सा) वह श्रृङ्गारमति (ताभ्यां) उन दोनों के द्वारा (बहुधा) बहुत प्रकार से (आश्वासिता) आश्वासन को प्राप्त हुई (संहृताशेषविमानादिविधिः) संकोचित सम्पूर्ण विमान आदि की विधि वाली वह (जिनमंदिरं) जिनमंदिर को (जगाम) गई।

प्रसन्न-वदना तत्र त्यक्तार्त्ता भक्ति-तत्परा।
जिनाधीशं नमस्कृत्य तदन्ते समुपाविशत् ।।५१।।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ जिनमंदिर में (त्यक्तार्त्ता) आर्तध्यान से रहित (भक्ति-तत्परा) भक्ति में तत्पर (प्रसन्न-वदना) प्रसन्न मुखवाली श्रृङ्गारमति (जिनाधीशं) जिनेन्द्र भगवान को (नमस्कृत्य) नमस्कार कर (तदन्ते) उन दोनों विमलमति और श्रीमति के पास (समुपाविशत्) बैठ गई।

उदाजहार पृष्टा च तयोः स्वचरितं पुनः।
निशम्यान्योन्यमालोक्य स्मितं ताभ्यां सविस्मयम् ।।५२।।

अन्वयार्थ–(पुनः) फिर उस श्रृङ्गारमति ने (स्वचरितं) अपने चरित्र को (उदाजहार) कहा (च) और (तयोः) उन दोनों [विमलमति और श्रीमति] के (स्व-चरितं) स्वकीय चरित्र को (पृष्टा) पूछा (ताभ्यां) उन दोनों से उनके चरित को (निशम्य) सुनकर (सविस्मयं) आश्चर्य सहित (अन्योन्यं) परस्पर एक-दूसरे को (आलोक्य) देखकर (स्मितं) मुस्कारार्इं।

चिन्तितश्च किमेतेन भवितव्यं प्रियेण नौ।
यतोऽस्मद्वृत्त-संवादि वदत्येषा(ष) वचोऽखिलम् ।।५३।।

अन्वयार्थ–(च) और (चिंतितः) उन दोनों ने विचार किया कि (किं) क्या (एतेन प्रियेण) इसके पति (नौ) हम दोनों के (प्रियेण) प्रिय पतिरूप से (भवितव्यं) होना चाहिए (यतः) क्योंकि (एषा) यह श्रृङ्गारमति (अस्मद्वृत्त-संवादि) हमारे चरित्र को कहने वाले (अखिलं वचः) सभी वचन को (वदति) बोलती है/कहती है।

उसके पास जाने उद्यत हुईं। उन्होंने वहाँ जाकर उद्यान के निकट वनदेवी के समान श्रृङ्गारमति को देखा ।।४९।। सुकुमारियों के बहुत प्रकार से समझाने पर श्रृङ्गारमति का दुःख बहुत कुछ कम हुआ और वह विधिपूर्वक विमान आदि को समेटकर, लेकर जिनमंदिर में चली गई ।।५०।। वहाँ जिनमंदिर में आर्तध्यान से रहित भक्ति में तत्पर प्रसन्न मुखवाली श्रृङ्गारमति, जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके उन दोनों के पास बैठ गई ।।५१।। उस श्रृङ्गारमति ने उन दोनों के लिए अपने चरित्र को कहा और उन दोनों के स्वकीय चरित्र को पूछा। उन दोनों से उनके चरित्र को सुनकर आश्चर्य सहित प्रसन्नतापूर्वक परस्पर एक-दूसरे को देखा ।।५२।। वे दोनों ही विचार में पड़ गईं और सोचने लगीं कि क्या इसके पति ही हम दोनों के पति प्राणनाथ हैं ? क्योंकि जो कुछ यह कह रही है वह सब कुछ हमसे ही संबन्धित प्रतीत हो रहा है ।।५३।।

अथवा किमलीकेन विकल्पेनामुनाधुना।
अयमेव यथाकामं फलताद्दैवपादपः ॥५४॥

अन्वयार्थ–(अथवा) और (अधुना) इस समय (अमुना) इस (अलीकेन विकल्पेन) असत्य विकल्प से (किं) क्या प्रयोजन (अयं) यह (दैवपादपः) हमारा भाग्यरूपी वृक्ष (एव) ही (यथाकामं) इच्छानुसार (फलतात्) फलीभूति होगा।

अवाचि च खगाधीश-देहजा मा शुच[1] शुभे।
समदुःखा यदावाभ्यां भवती च सधर्मिणी ॥५५॥

अन्वयार्थ–(च) और उन दोनों ने (अवाचि) कहा कि (शुभे) हे शुभे! (खगाधीश-देहजा) विद्याधर की पुत्री (मा शुचः) शोक मत कर (यत्) क्योंकि (आवाभ्यां) हम दोनों (च) और (भवती) आप (समदुःखाः) समान दुःख युक्त (सधर्मिणी) समान धर्म वाली सधर्मिणी हैं।

एवं विधानि संसारे सरतां प्राणधारिणाम्।
दुःखानि शतशः सन्ति तद्विषादेन किं सखि ॥५६॥

अन्वयार्थ–(सखि) हे सखी! (संसारे) संसार में (सरतां) भ्रमण करने वाले (प्राणधारिणाम्) प्राणधारियों के (एवंविधानि) इस प्रकार के इष्ट वियोगादि से उत्पन्न (शतशः) सैकड़ों प्रकार के (दुःखानि) दुख (सन्ति) होते हैं (तद्विषादेन किं) उसके विषय में खेद करने से क्या प्रयोजन है।

यथाविधपरिज्ञात-स्ववृत्तान्ता कृता च सा।
श्रुत्वा सन्धारितं चेतः स्वकीयं तयका[2] तदा ॥५७॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (सा) उसने (यथाविधपरिज्ञातस्ववृत्तान्ता) इस प्रकार पूर्णरूप से अपने चरित/समाचार को जानने वाली (कृता) किया (च) और (विमलमति और श्रीमति के चरित्र को) (श्रुत्वा) सुनकर (तयका) उसने (स्वकीयं) अपने (चेतः) मन को (सन्धारितं) अच्छी तरह धारण किया अर्थात् धैर्य बंधाया।

अथवा हमें इस समय व्यर्थ ही असद् विकल्पों से क्या प्रयोजन? यही हमारे पति हों तो हो सकता है, हमारा भाग्यरूपी वृक्ष इच्छानुसार फलीभूत होगा ॥५४॥

और उन दोनों ने कहा हे सखि! विद्याधर पुत्री! शोक मत कर, शोक करने से अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती, देख हम दोनों भी तो तेरे ही समान पति से वियुक्त दुःखिनी हैं। अतः हम सहमर्धिणी हैं।

हे सखी! संसार में भ्रमण करने वाले प्राणियों को इस प्रकार इष्ट वियोगादि से उत्पन्न सैकड़ों प्रकार के दुख होते हैं, अतः उसके विषय में खेद करने से क्या प्रयोजन है? ॥५६॥

इस प्रकार श्रृङ्गारमति ने अपना जीवन परिचय बताकर एवं उनकी दुःखद कथा सुनकर, उसने अपने मन में धैर्य धारण किया ॥५७॥

---

१. शोकं मा कुरु। २. तया "स्वार्थे कः" प्रत्ययः।

दानपूजाश्रुताध्याय-सङ्गताः शुभसङ्गताः।
एवं तिस्रोऽपि ताः सन्ति तत्र प्रीताः परस्परम् ॥५८॥

अन्वयार्थ–(दानपूजाश्रुताध्यायसङ्गताः) सत्पात्रों को दान, श्री जिनेन्द्र प्रभु की पूजा, सत्शास्त्रों के अध्ययन में संलग्न (शुभसङ्गताः) शुभक्रियाओं में रत (एवं) इस प्रकार (तत्र) वहाँ पर (ताः) वे (तिस्रः) तीनों (अपि) ही (परस्परं) परस्पर में (प्रीताः) प्रीतिपूर्वक (सन्ति) रहती हैं/रहने लगीं।

अथ रूपं परावृत्य वामनीभूय तां पुरीम्।
सवयस्यः कुमारोऽपि प्रविश्याजनि गायनः ॥५९॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (सवयस्यः) मित्र सहित (कुमारः अपि) जिनदत्त कुमार भी (रूपं परावृत्य) रूप को बदलकर (वामनीभूय) बौना होकर (तां) उस (पुरीं) नगरी में (प्रविश्य) प्रवेश कर (गायनः) गायक (अजनि) हो गया/बन गया।

गन्धर्वदत्तनामासौ चित्रकौतुककारकः।
गीतैराख्यायकैः कान्तै र्जहार जनतामनः ॥६०॥

अन्वयार्थ–(चित्रकौतुककारकः) अनेक प्रकार के कौतूहलों को करने वाले (गन्धर्वदत्तनाम) गन्धर्वदत्त नामक (असौ) इस जिनदत्त ने (गीतैः) गीतों और (कान्तैः) सुन्दर (आख्यायकैः) कथानकों के द्वारा (जनतामनः) जनता के मन को (जहार) हरण किया/चुराया।

दत्वा जीवनकं राज्ञा विधृतो निजसन्निधौ।
गन्धर्वादिविनोदेन तत्रास्थाज्जनवल्लभः ॥६१॥

अन्वयार्थ–(राज्ञा) राजा ने [जिनदत्त के लिए] (जीवनकं) आजीविका (दत्वा) देकर (निजसन्निधौ) अपने पास में (विधृतः) रख लिया (गन्धर्वादिविनोदेन) वह नृत्य गान आदि द्वारा मनोरंजन से (तत्र) वहाँ (अस्थात्) रहता हुआ (जनवल्लभः) जनप्रिय हो गया।

अन्येद्युर्गदितं राज्ञः पुरस्तादिति केनचित्।
यथा देवात्र तिष्ठन्ति स्त्रियस्तिस्रो जिनालये ॥६२॥

अन्वयार्थ–(अन्येद्युः) अन्य दिन (राज्ञः) राजा के (पुरस्तात्) आगे (केनचित्) किसी ने (इति)

वे तीनों एक साथ मिल-जुलकर पात्रदान, अभिषेकपूर्वक जिनपूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाओं को करती हुई समय बिताने लगीं ॥५८॥ और मित्र सहित कुमार जिनदत्त भी अपनी विद्या से रूप बदलकर बौने के रूप को धारणकर चंपापुर नगरी में प्रवेश कर गायक हो गए ॥५९॥

अनेक प्रकार के कौतूहलों को करने वाले इस जिनदत्त ने अपना गन्धर्वदत्त नाम रखा और गीतों तथा सुंदर कथानकों के द्वारा जनता के मन को हरण करने लगा ॥६०॥

यहाँ तक कि ये इतने प्रसिद्ध हो गए कि, ये एक दिन राजदरबार में पहुँचे और अपने गायन कला से राजा को प्रसन्न कर दरबार के वेतनभोगी गवैया हो मनोरंजन से वहाँ रहते हुए/जनप्रिय हो गए ॥६१॥

एक दिन की बात है कि राजसभा के समय आकर, एक पुरुष ने राजा से कहा-महाराज इसी

इस प्रकार (गदितं) कहा (देव !) हे राजन् ! (अत्र) यहाँ (जिनालये) जिनमंदिर में (तिस्रः) तीन (स्त्रियः) स्त्रियाँ (यथा) इस प्रकार से (तिष्ठन्ति) रहती हैं ।

रूपलावण्यसौभाग्य-कान्तीनां परमं पदम् ।
न हसन्ति न जल्पन्ति समं केनापि ताः प्रभो ॥६३॥
केनापि हेतुनेत्येवं श्रुत्वा भूमिभुजा मुहुः ।
आलोकितमुखोऽवादीद्-विहस्येति स वामनः ॥६४॥युगलं॥

अन्वयार्थ–(प्रभो !) हे राजन् ! (रूपलावण्य-सौभाग्य-कान्तीनां) रूप, सौंदर्य, सौभाग्य और कान्ति की (परमं पदम्) श्रेष्ठस्थान (ताः) वे तीनों (केन अपि) किसी भी (हेतुना) कारण से (केन अपि) किसी के भी (समं) साथ (न हसन्ति) न हँसती हैं (न जल्पन्ति) न बोलती हैं (इति) इस प्रकार (श्रुत्वा) सुनकर (मुहुः) बार-बार (एवं) इस तरह (आलोकित मुखः) देखा है मुख जिसका ऐसा गन्धर्वदत्त नामधारी (सः) उस (वामनः) बौने जिनदत्त ने (विहस्य) हँसकर (भूमिभुजा) राजा से (इति) इस प्रकार (अवादीत्) कहा ।

अहो मानुषमात्रेऽपि श्रृङ्गार-मुख-मानसाः ।
किमेवं स्थापयध्वं भो हासयाम्येष ता अहम् ॥६५॥

अन्वयार्थ–(भो) अरे ! (अहो) आश्चर्य है ! (किं) क्या (मानुषमात्रेअपि) मनुष्य मात्र में भी (एवं) इस प्रकार गुमसुम हास-परिहास से रहितपना (स्थापयध्वं) रहना चाहिए (श्रृङ्गारमुखमानसाः) श्रृंगार में प्रमुख मनवाली (ताः) उनको (एषः अहं) यह मैं गन्धर्वदत्त/जिनदत्त (हासयामि) हँसाता हूँ।

विकासहाससम्पन्नान् द्रुमानपि नरेश्वर ।
विनोदेन करोम्येष मानुषेषु तु का कथा ॥६६॥

अन्वयार्थ–(नरेश्वर) हे नरपति ! (एषः) यह मैं (विनोदेन) विनोद के द्वारा (द्रुमान् अपि) वृक्षों को भी (विकास-हाससम्पन्नान्) विकास हास–पत्तों, फूल, फलों से सम्पन्न (करोमि) करता हूँ (तु) किन्तु (मानुषेषु) मनुष्यों के विषय में (का कथा) क्या कहना ?

नगरी के एक जिनालय में तीन परम सुंदर स्त्रियाँ रहती हैं ॥६२॥ हे राजन् ! रूप, सौंदर्य, सौभाग्य और कांति की श्रेष्ठस्थान, वे तीनों न तो किसी के भी साथ हँसती हैं, न बोलती हैं ॥६३॥

किसी भी कारण से इस प्रकार सुनकर राजा ने बार-बार वामन वेशधारी जिनदत्त के मुख की ओर देखा उस बौने ने हँसकर इस प्रकार कहा ॥६४॥

अहो ! श्रृङ्गार व हास्यरस वाले मनुष्य मात्र को, मैं हँसाने में समर्थ हूँ फिर उनकी क्या बात है । हे महाराज ! जब मनुष्य मात्र श्रृङ्गार का प्रेमी होता है, तब उनकी तो बात ही क्या ? वे तो स्त्रियाँ हैं, वे अवश्य ही हँसेंगी/बोलेंगी ॥६५॥

मैं अपने प्रयत्न से वृक्षों तक को विकास लता फल पत्र युक्त और फूलों से सहित हास्य से सुसंपन्न कर सकता हूँ । मनुष्य की तो फिर बात ही क्या है ? ॥६६॥

ततोऽसौ प्रेषितो राज्ञा स्वल्पलोकैः समं मुदा ।
जगाम सोऽपि सङ्कल्प-सङ्केतः स्वजनैः सह ॥६७॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (असौ) यह जिनदत्त (राज्ञा) राजा के द्वारा (मुदा) हर्ष से (स्वल्पलोकैः समं) थोड़े लोगों के साथ (प्रेषितः) भेजा गया (सः अपि) वह भी (स्वजनैः सह) स्वजनों के साथ (सङ्कल्प-सङ्केतः) संकल्प व संकेत के अनुसार जिनालय को (जगाम) गया।

जिनार्चा प्रणिपत्यान्ते स तासां समुपाविशत् ।
कृतगीतादिकः प्रोचे वयस्यैरिति सादरम् ॥६८॥

अन्वयार्थ–(सः) वह जिनदत्त (जिनार्चा) जिनपूजा और (प्रणिपत्य) नमस्कार कर (तासां) उनके (अन्ते) पास में (समुपाविशत्) बैठ गया (कृतगीतादिकः) नृत्यगीतादि करने वाला वह (वयस्यैः) मित्रों द्वारा (सादरम्) आदरपूर्वक (इति) इस प्रकार (प्रोचे) बोला गया।

यथा कथानकं किञ्चित्कथ्यतां कौतुकावहम् ।
श्रूयतां सावधानैर्भोः कथयामि स्वचेष्टितम् ॥६९॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे (कौतुकावहम्) कौतूहल उत्पन्न करने वाला वैसा (किञ्चित्) थोड़ा (कथानकं) कथानक (कथ्यतां) सुनाइए (भोः) भो ! (सावधानैः) सावधानीपूर्वक (श्रूयतां) सुनिए (स्वचेष्टितम्) अपनी चेष्टा स्वचरित्र को (कथयामि) कहता हूँ।

वसन्तादिपुरादेत्य चम्पोद्यानमुपेयुषा ।
यावत्कान्तापरित्याग स्तावत्तेन निवेदितम् ॥७०॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (वसन्तादिपुरात्) वसंतपुर से (एत्य) आकर (चम्पोद्यानं) चम्पापुर के उद्यान को (उपेयुषा) प्राप्त करने वाले के द्वारा (कान्ता-परित्यागः) स्त्री का परित्याग किया (तावत्) तब तक के वृत्तान्त को (तेन) उस बौने जिनदत्त ने (निवेदितं) कहा।

तदाकर्ण्यालपत् स्मित्वा विमलादिमतिस्तदा ।
किं ज्ञातमिति भोः ब्रूहि सुष्ठु रम्या कथा तव ॥७१॥

अन्वयार्थ–(तदा) तब (तदाकर्ण्य) उसको सुनकर (विमलादिमतिः) विमलमति (स्मित्वा)

जिनदत्त की इस प्रकार अहंकार पूर्ण बात सुनकर राजा ने अपने कुछ लोगों को साथ में, उन्हें तीनों स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए भेजा और वे भी अपने पूर्व में किए गए सङ्कल्प-संकेत के अनुसार जिनालय की तरफ रवाना हुए ॥६७॥ जिनमंदिर में पहुँचकर गन्धर्वदत्त/जिनदत्त ने पहले भगवान की पूजा, स्तुति, भक्ति, प्रणाम, गायन आदि कर उनके पास में बैठ गया, पश्चात् साथियों ने आदरपूर्वक इस प्रकार पूछा ॥६८॥ अच्छा मित्रों ! यदि यही इच्छा है, तो तुम लोग सब सावधान हो जाओ। मैं एक अचरज वाली अपनी बढ़िया कथा कहता हूँ ॥६९॥ इसके बाद उसने अपना ही समस्त वृतांत जो कुछ बीता था, वह वसंतपुर से लगाकर चंपापुरी के उद्यान में विमलमति के त्याग करने तक का कह डाला ॥७०॥ तब उसको सुनकर विमलमति मुस्कराकर बोली, अरे ! कहो इस

मुस्कराकर (अलपत्) बोली (भो) अरे ! (ब्रूहि) कहो (इति किं ज्ञातं) इस प्रकार आपने कैसे जाना ? (तव) आपकी (कथा) कथा तो (सुष्ठु रम्या) बहुत सुन्दर है ।

अत्रान्तरेसमुत्थाप्य नीतोऽसौ स्वजनैस्ततः ।
यथा राजकुले वेला वर्त्तते गम्यतामिति ॥७२॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (अत्रान्तरे) इसी बीच में (स्वजनैः) स्वजनों के द्वारा (असौ) यह (समुत्थाप्य) उठाकर (नीता) ले जाया गया (यथा) इस प्रकार (राजकुले) राजकुल का (बेला) समय (वर्तते) है (इति गम्यतां) इसलिए चलिए ।

तथैवैत्य द्वितीयेऽह्नि स्ववार्त्ता तावदीरिता ।
आरभ्य गमनं द्वीपे यावत्पातः पयोनिधौ ॥७३॥

अन्वयार्थ–(वा) और (तथा) उस तरह (द्वितीये अह्नि) दूसरे दिन (एत्य) आकर (स्ववार्त्ता) अपना चारित्र/वृत्तान्त (द्वीपे) द्वीप में (गमनं) गमन को (आरभ्य) आरंभ कर (तावत्) तब तक (ईरिता) कहा (यावत्) जब तब (पयोनिधौ) समुद्र में (पातः) गिरा ।

ततस्तूष्णीं स्थिते तत्र स्मित्वा श्रीमतिरब्रवीत् ।
किं ततोऽजनि भो भद्र ! सरसेयं कथा तव ॥७४॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तत्र) वहाँ (तूष्णीं स्थिते) चुप रहने पर (स्मित्वा) मुस्करा कर (श्रीमतिः) श्रीमति (अब्रवीत्) बोली (भो भद्र) हे भद्र ! (ततः) उसके बाद (किं) क्या (अजनि) हुआ ? (तव) आपकी (इयं कथा) यह कथा (सरसाः) रसीली है ।

किं याति तव शृण्वत्याः परायत्ता वयं पुनः ।
वर्त्ततेऽवसरो यामो राजमन्दिरमुत्सुकाः ॥७५॥

अन्वयार्थ–(शृण्वत्याः) सुनने वाली (तव) आपका (किं याति) क्या जाता है ? (पुनः) और (वयं) हम (परायत्ताः) पराधीन हैं (राजमंदिरं) राजमंदिर का (अवसरः) समय (वर्तते) है अतः (उत्सुकाः) उत्कण्ठित होते हुए (यामः) जाते हैं ।

प्रकार आपने कैसे जाना ? आपकी कथा बहुत सुंदर है ॥७१॥ अच्छा ! फिर आगे क्या हुआ ? सो कहो । इसे सुनकर जिनदत्त के साथियों ने अजी, राजमंदिर जाने का समय हो गया, कल फिर आकर कहना आदि कहकर उन्हें रोक दिया और साथ में ले अपने स्थान चले आए ॥७२॥

दूसरे दिन फिर आकर वामनरूपधारी जिनदत्त ने अपना चंपापुरी के उद्यान से आगे जाने का और द्वीप से लौटते समय समुद्र में गिरने तक वृतांत कह सुनाया ॥७३॥

जिसे सुनकर श्रीमती ने कहा-हाँ फिर उससे आगे की और कथा सुनाइए । फिर क्या हुआ ? आपकी कथा बड़ी ही मनोहारी है ॥७४॥

अरे ! आप तो सुनने वाली हैं, सुनने में आपका क्या जाता है, पर मैं तो पराधीन हूँ, राजाज्ञानुसार चलना मेरा कर्त्तव्य है, राजमंदिर का समय है, उत्कंठित हर्षित होते हुए चले जाते हैं ॥७५॥

निगद्येति गतः सापि सार्द्धं विमलया तया।
सुचिरंचिन्तयामास किमेतदिति विस्मिताः ॥७६॥

अन्वयार्थ–(इतिनिगद्य) इस प्रकार कहकर वह (गतः) चला गया (सा अपि) उस श्रीमति ने भी (तया) उस (विमलया) विमला के (सार्द्धं) साथ (सुचिरं) बहुत समय तक (चिन्तयामास) विचार किया (एतं किं) यह क्या है ? (इति) इस प्रकार सभी सतियाँ (विस्मिताः) आश्चर्य चकित हो गईं।

अन्यस्मिंश्च समागत्य वासरे खगपत्तने।
आरभ्य स्वागमं प्रोक्तं त्यक्ता यावन्नभश्चरी ॥७७॥

अन्वयार्थ–(च) और (अन्यस्मिन् वासरे) अन्य तीसरे दिन (समागत्य) आकर (खगपत्तने) विद्याधरों के नगर में (स्वागमं) अपने आगमन को (आरभ्य) आरंभ कर (यावत्) जब तक (नभश्चरी) विद्याधर की कन्या को (त्यक्ता) छोड़ा तब तक के सब वृत्तांत को (प्रोक्तं) कहा।

स्मितधौताननावोचत् ततोऽसौ खगदेहजा।
असमाप्य कथां मा गा ब्रूहि जातं ततः किमु ॥७८॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (स्मित-धौतानना) प्रसन्न और उज्ज्वल मुखवाली (असौ) उस (खगदेहजा) विद्याधर की पुत्री ने (अवोचत्) कहा कि (कथां असमाप्य) कथा को समाप्त किए बिना (मा गाः) मत जावो (ब्रूहि) कहो (ततः) इसके बाद (किमु) क्या (जातं) हुआ ?

प्रातरेत्य भणिष्यामि सञ्जल्प्येति ततो गतः।
सम्पन्न-प्रियसङ्गाशा विस्मितास्ता अपि स्थिताः ॥७९॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (प्रातः एत्य) सुबह आकर (भणिष्यामि) कहूँगा (इति सञ्जल्प्य) इस प्रकार कहकर (गतः) चला गया (सम्पन्नप्रियसङ्गाशाः) पूर्ण हुई है प्रिय के समागम की आशा जिनकी ऐसी (ताः अपि) वे भी (विस्मिताः) आश्चर्य युक्त (स्थिताः) वहीं पर स्थित रहीं।

वह इस प्रकार कहकर चला गया, श्रीमति ने भी उस विमला के साथ बहुत समय तक विचार किया, यह क्या है ? इस प्रकार वे आश्चर्य चकित हो गईं ॥७६॥

तदनन्तर उन सतियों के पास आया और संगीत ध्वनि में आगे का कथानक प्रारंभ किया अर्थात् समुद्र से पार हो विद्याधर नगरी में पहुँचना, विद्याधर राजा की कन्या के साथ विवाह कर लाना, इसी चंपा नगर के उद्यान में इस विद्याधरी को छोड़कर गायब होने तक का अपना पूरा वृत्तांत सुना दिया। बस इतना ही कहकर वह जाने को उद्यत ही हुआ कि ॥७७॥

मुस्कराती हुई वह विद्याधर की पुत्री अर्थात् इसी की तीसरी पत्नी बोल उठी, हे भद्र ! अधूरी कथा छोड़कर नहीं जाना, कहिए इसके आगे क्या हुआ ? ॥७८॥

आप सुनना चाहती हैं तो ठीक है, मैं प्रातःकाल सुनाऊँगा। अभी तो समय हो गया है, इस प्रकार कहकर चला गया। अब इन्हें भी विश्वास सा हो गया कि अवश्य ही हमें पति देव का संगम हो सकेगा क्योंकि इन्हीं का चरित्र था यह, अतः पति मिलन की आशा में आश्चर्यचकित हो तीनों वहीं रहने लगीं ॥७९॥

नरेन्द्रोऽपि तदाकर्ण्य विस्मितः पारितोषिकम् ।
ददावस्मै जनः सर्वश्-चित्रितश्च स्वचेष्टितैः ॥८०॥

अन्वयार्थ–(नरेन्द्रः अपि) राजा ने भी (तदाकर्ण्य) उस समाचार को सुनकर (विस्मितः) आश्चर्य चकित होते हुए (अस्मै) इस जिनदत्त के लिए (पारितोषकम्) पुरस्कार (ददौ) दिया (च) और (सर्वः जनः) सभी जन (स्वचेष्ठितैः) अपनी चेष्टाओं से (चित्रितः) चित्रलिखित जान पड़ते थे ।

अथान्येद्युरभूत्तत्र महान्कोलाहलस्ततः ।
पृष्टः कोऽपि नरेन्द्रेण किमेतदिति सोऽब्रवीत् ॥८१॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (ततः) इसके बाद (अन्येद्युः) अन्य दिन (तत्र) वहाँ पर (महान्कोला-हलः) बहुत कोलाहल (अभूत्) हुआ (नरेन्द्रेण) राजा के द्वारा (कः अपि) कोई भी (पृष्टा) पूछा गया (एतत्) यह (किम्) क्या है ? (सः) वह (इति) इस प्रकार (अब्रवीत्) बोला ।

यथा राजगजो देव नाम्ना मलयसुन्दरः ।
आलानस्तम्भ-मुन्मूल्य निःशङ्कं विचरत्ययम् ॥८२॥

अन्वयार्थ–(देव) हे राजन् ! (नाम्ना मलय-सुंदरः यथा) नाम से मलयसुंदर प्रसिद्ध (अयं) यह (राजगजः) मुख्य हाथी (आलानस्तम्भं) हाथी बांधने के खंभे को (उन्मूल्य) उखाड़कर (यथा) जैसे-तैसे (निःशङ्कं) स्वतंत्र (विचरति) घूम रहा है ।

यः कोऽपि वश-मायाति पशुरस्य नरश्च वा ।
विलम्बेन विना नाथ स याति यम-मन्दिरम् ॥८३॥

अन्वयार्थ–(नाथ) हे राजन् ! (यः कोऽपि) जो कोई भी (पशुः वा नरश्च) पशु और मनुष्य (अस्य) इसके (वशं आयाति) वश में आता है (सः) वह (विलम्बेन विना) बिना विलम्ब के (यममंदिरं) मृत्यु को (याति) प्राप्त होता है ।

प्राकारोद्यान-सद्वेश्म-देवतायतनान्ययम् ।
भस्मीकरोति भूपाला-गणयन् भट-पेटकम् ॥८४॥

अन्वयार्थ–(भूपाल !) हे राजन् ! (अयं) यह राजहस्ती (प्राकारोद्यान-सद्वेश्म-देवतायतनानि)

राजा ने भी उस समाचार को सुनकर आश्चर्यचकित हो इस जिनदत्त के लिए पुरस्कार दिया और सभी जन अपनी चेष्टाओं से चित्रलिखित से जान पड़ते थे ॥८०॥ एक दिन की बात है कि नगर में बड़ा ही जोर-शोर से कोलाहल हुआ । लोगों की कलकलाहट सुनकर राजा ने पास बैठे हुए किसी आदमी से उसका कारण पूछा कि यह क्या है ? उत्तर में उसने कहा–॥८१॥ महाराज ! मलयसुंदर नाम का सरकारी हाथी अपने आलान-स्तंभ को तोड़कर मद से सहित हुआ इधर-उधर निःशंक घूम रहा है ॥८२॥ जो कोई भी पशु एवं मनुष्य उसके सामने आता, वह ही विचारा किसी विलम्ब के बिना ही यमराज के मंदिर का अतिथि हो जाता है ॥८३॥

वह हाथी राजा के सैनिक समूह को भी नहीं गिनता हुआ किसी को भी नहीं छोड़ता, जो कुछ

परकोटा, बगीचा, सुन्दर घर, देवालय आदि को (भटपेटकम्) सैनिक समूह को (अगणयन्) नहीं गिनता हुआ (भस्मीकरोति) भस्म कर रहा है।

तन्निशम्य महासत्वाः प्रेषिता वीरपुङ्गवाः।
राज्ञा तेऽपि न संशेकुर्दमने तस्य दन्तिनः ॥८५॥

अन्वयार्थ—(तत् निशम्य) उस समाचार को सुनकर (राज्ञा) राजा ने (महासत्वाः) महाशक्तिशाली (वीरपुङ्गवाः) वीरों में श्रेष्ठ मल्ल (प्रेषिताः) भेजे (ते अपि) वे भी (तस्य) उस (हस्तिनः) हाथी के (दमने) दमन करने में (न संशेकुः) समर्थ नहीं हुए।

एवं दिनत्रयं तत्र पीडयन्नखिलाः प्रजाः।
बम्भ्रमीति करी यावत्पटहस्तावदाहतः ॥८६॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (तत्र) वहाँ पर (दिनत्रयं) तीन दिन तक (अखिलाः प्रजाः) सम्पूर्ण प्रजा को (पीडयन्) पीड़ा पहुँचाता हुआ (करी) हाथी (यावत्) जब तक (बम्भ्रमीति) बार-बार घूमता है (तावत्) तब तक (पटहः) नगाड़ा (आहतः) बजाया गया/भेरी पिटवाई।

यथा हस्तिनमेतं यः कुरुते वशवर्तिनम्।
कन्या प्रदीयते तस्मै सामन्तश्च विधीयते ॥८७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (यः) जो (एतं हस्तिनम्) इस हाथी को (वशवर्तिनम्) अपने वश में (कुरुते) करता है (तस्मै) उसके लिए (कन्या प्रदीयते) यह राज कन्या दी जाएगी (च) और (सामन्तः) सामन्त (विधीयते) बनाया जायेगा।

श्रुत्वेति वेगतः स्पृष्ट्वा पटहं वामनस्ततः।
आजुहाव गजाधीशं सोऽप्यगादुत्करः पुरः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (वामनः) वामन वेशधारी जिनदत्त (इति) इस प्रकार (पटहं) भेरी को (श्रुत्वा) सुनकर (वेगतः) वेग से (गजाधीशं) गजेन्द्र को (स्पृष्ट्वा) छूकर (आजुहाव) सामना किया/बुलाया (सः दुत्करः अपि) वह भयंकर गजेन्द्र भी (पुरः) सामने (अगात्) आ गया।

उसके सामने परकोटा, बगीचा, देवालय, हवेली आदि सामने आते हैंउन सबको नष्ट-भ्रष्ट कर भस्म कर देता है ॥८४॥ उस समाचार को सुनकर राजा ने महाशक्तिशाली वीरश्रेष्ठों को भेजा, वे भी उस हाथी के दमन करने में समर्थ नहीं हुए ॥८५॥ इस प्रकार नगरी में तीन दिन तक सम्पूर्ण प्रजा को पीड़ा पहुँचाता हुआ हाथी किसी भी उपाय से शांत नहीं हुआ, तो अन्त में राजा ने नगर में नगाड़ा बजवाया ॥८६॥ जैसे ही जो मनुष्य इस हाथी को अपने वश में करता है, उसके लिए कन्या दी जाएगी और सामन्त बनाया जायेगा ॥८७॥

[भेरी को सुन बौने जिनदत्त के द्वारा हाथी को वश में करना]

वामन वेशधारी जिनदत्त ने इस प्रकार भेरी की ध्वनि को सुनकर वेग से हाथी को छूकर सामना किया, वह हाथी भी भयंकर रूप से सामने आ गया ॥८८॥

ताडयन्निविडं लोष्ठ मुद्गरैश्चतुरः क्वचित् ।
पृष्ठतः पार्श्वतो धावनग्रतो जठरादधः ॥८९॥
स्वशिक्षा-लाघवं सम्यग्दर्शयन् वलनादिभिः ।
आरुढः श्रम-मानीय तं दत्त-करणस्ततः ॥९०॥

अन्वयार्थ–(पार्श्वतः) बगल से (अग्रतः) आगे से (जठरादधः) पेट के नीचे से (धावन्) दौड़ते हुए (निविडं) घने (लोष्ठमुद्गरैः) पत्थरों और मुद्गरों के द्वारा (ताडयन्) ताड़ित करते हुए (ततः) इसके बाद (दत्तकरणः) मन इन्द्रियों को लगाकर (श्रमं आनीय) श्रम को लाकर अर्थात् थकाकर (स्वशिक्षा-लाघवं) अपनी शिक्षा से लाघव को (सम्यग्दर्शयन्) अच्छी तरह दिखलाते हुए (वलनादिभिः) शक्ति सामर्थ्य से चारों तरफ घुमाने आदि के द्वारा (तं) उस हाथी पर (आरुढः) सवार हो गया ।

साधुवादं समासाद्य जनेभ्यो नृपपुङ्गवम् ।
प्रणम्यालानमानीय करिणं स सुखं स्थितः ॥९१॥

अन्वयार्थ–(जनेभ्यः) मनुष्यों से (साधुवादं) धन्यवाद को (समासाद्य) प्राप्तकर (नृपपुङ्गवम्) श्रेष्ठराजा को (प्रणम्य) नमस्कार कर (करिणं) हाथी को (आलानं आनीय) बांधने वाले खम्भे से बांधकर (सः) वह गन्धर्वदत्त/जिनदत्त (सुखं स्थितः) सुखपूर्वक बैठ गया ।

कुशल जिनदत्त ने कहीं पर पीछे से, बगल से, आगे से, पेट के नीचे से, दौड़ते हुए घने पत्थरों और मुद्गरों के द्वारा ताड़ित करते हुए ॥८९॥

मन इन्द्रियों को लगाकर, श्रम/थकान को लाकर, अपनी शिक्षा के बल से लघुता को अच्छी तरह दिखलाते हुए शक्ति सामर्थ्य से चारों तरफ घुमाने आदि के द्वारा उस हाथी पर सवार हो गए ॥९०॥

हाथी द्वारा कृत उपद्रव को दूर करने के कारण मनुष्यों से धन्यवाद को प्राप्त करते हुए, श्रेष्ठ राजा को नमस्कार कर, हाथी बांधने वाले खम्भे से हाथी को बांधकर, वह बौना जिनदत्त सुखपूर्वक बैठ गया ॥९१॥

॥ इतिश्री भगवद् गुणभद्राचार्यप्रणीते जिनदत्तचरित्रे षष्ठः सर्गः ॥

॥ इस प्रकार श्री भगवान गुणभद्राचार्य प्रणीत जिनदत्त चरित्र में छठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

सप्तमः सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथामात्यैः समं राज्ञा तदेति प्रविचारितम् ।
कुलं यस्य न जानीमो दीयतां देहजा कथम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (राज्ञा) राजा ने (अमात्यैः समं) मंत्रियों के साथ (तत्) उस जिनदत्त के विषय में (इति) इस प्रकार (प्रविचारितम्) विचार विमर्श किया कि (यस्य) जिसके (कुलं) कुल को (न जानीमः) हम नहीं जानते उसको (देहजा) पुत्री (कथम्) कैसे (दीयतां) दी जाये ?

तैरवाचि किमेतेन विकल्पेन महीपते ।
ब्रवीत्याकृतिरेवास्य कुलं कल्याणसूचकम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(तैः अवाचि) उन मंत्रियों ने कहा (महीपते !) हे राजन् ! (एतेन) इस प्रकार के (विकल्पेन) विकल्प से (किं) क्या प्रयोजन है ? (अस्य) इसकी (आकृतिः एव) आकृति ही (कल्याण-सूचकम्) कल्याण को सूचित करने वाले (कुलं) कुल को (ब्रवीति) बोलती/कहती है ।

विनोदेनामुना कोऽपि क्रीडत्येष महामनाः ।
पयोदपटलेनेव प्रच्छन्नो दिवसाधिपः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अपि) तथा (पयोद-पटलेन) मेघपटल से (प्रच्छन्नः) ढके हुए (दिवसाधिपः) सूरज के (इव) समान (एषः) यह (कः) कोई (महामनाः) महापुरुष (अमुना) इस (विनोदेन) हास-परिहास के द्वारा (क्रीड़ति) खेल रहा है ।

शौर्य-सत्व-यशोरूप - विज्ञानैर्नाकिनामपि ।
चमत्कारं करोत्येषोऽ-चिन्त्यमस्य विचेष्टितम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(एषः) यह (शौर्य-सत्व-यशो-रूपविज्ञानैः) पराक्रम, धैर्य, यश, रूप और विशिष्ट ज्ञान के द्वारा (नाकिनां अपि) देवों के भी (चमत्कारं करोति) आश्चर्य को उत्पन्न करता है (अस्य) इसकी (विचेष्टितम्) अद्भुत चेष्टा (अचिन्त्यं) अचिंतनीय है ।

[राजा के द्वारा मन्त्रियों से कन्यादान के बारे में विचार विमर्ष]

राजाज्ञानुसार जब जिनदत्त ने अपने कौशल से मत्त हाथी को वश कर लिया, तो राजा ने उसे अपनी पुत्री के प्रदानार्थ मंत्रियों से सलाह की, कि जिस पुरुष के कुल का पता हमें नहीं उसे प्रतिज्ञानुसार कन्या किस तरह दी जाये ? ॥१॥ उत्तर में मंत्रियों ने कहा—महाराज यह शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस महापराक्रमशाली पुरुष की आकृति से ही इसके मातृ-पितृ कुल की शुद्धि मालूम पड़ रही है ॥२॥ जिस प्रकार मेघ के आच्छादन से आच्छन्न सूर्य आकाश में भ्रमण किया करता है परन्तु उसका तेज नहीं छिपता, उसी प्रकार अवश्य ही यह कोई विशुद्ध वंशोद्भव पुण्यशाली पुरुष अपने रूप को बदलकर इधर-उधर विनोदार्थ घूम रहा है ॥३॥ परन्तु इसकी चेष्टाएँ चिन्तन से परे हैं । यह महामना अपने पराक्रम, धैर्य, यश, रूप एवं विज्ञान से देवों को भी आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है ॥४॥

विशुद्धोभयपक्षाय कन्यास्मै दीयतां ततः।
किञ्चासाध्येष्वयं देव प्रतिच्छन्दस्तवापरः ॥५॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसलिए (विशुद्धोभय-पक्षाय) मातृ और पितृ दोनों पक्षों की अपेक्षा विशुद्ध कुल वाले (अस्मै) इसके लिए (कन्या दीयतां) कन्या दी जाये (च) और (देव !) हे राजन् ! (अयं) यह (असाध्येषु) असाध्यों में (तव) आपका (अपरः) दूसरा वर (किं) क्या (प्रतिच्छन्दः) समानता को करने वाला है अर्थात् नहीं है।

प्रतीतिरस्ति चेन्नाथ पृच्छयतामयमेव हि।
वचः श्रुत्वेति राज्ञासौ पृष्ठ एवं समन्त्रिणा ॥६॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (चेत्) यदि (प्रतीतिः) विश्वास (न अस्ति) नहीं है तो (अयमेव) इससे ही (प्रच्छताम्) पूछिये [पूछा जाये] (राज्ञा) राजा ने (इति) इस प्रकार के (वचः) वचन को (श्रुत्वा) सुनकर (समन्त्रिणा) मंत्रियों से सहित (असौ) यह जिनदत्त (एवं पृष्ठः) इस प्रकार पूछा गया।

विज्ञानाकृतिसत्त्वाढ्यै-र्गुणैर्ज्ञातो वरो मया।
प्रच्छन्नः कोऽपि भद्र त्वं नूनं नरशिरोमणिः ॥७॥

अन्वयार्थ–(अपि) तथा (भद्र) हे भद्र ! (त्वं) तुम (मया) मेरे द्वारा (विज्ञानाकृतिसत्त्वाढ्यैः) विज्ञान, आकृति, धैर्य, वीर्य, पराक्रम आदि से सहित (गुणैः) गुणों के द्वारा (प्रच्छन्नः) गुप्तरूप वाले (नूनं) नियम से (कः) कोई (नरशिरोमणिः) नर श्रेष्ठ (वरः) वर (ज्ञातः) जाने गए हो।

प्रसीद वद सन्देहं हर स्वं प्रकटीकुरु।
तथाप्यात्मानमित्येव मुक्तः स्मित्वा जजल्प सः ॥८॥

अन्वयार्थ–(प्रसीद) प्रसन्न होकर (वद) कहिये (सन्देहं हर) संदेह को दूर कीजिए (स्वं प्रकटीकुरु) अपना असलीरूप प्रकट कीजिए (तथापि) राजा के इस प्रकार निवेदन करने पर भी (आत्मानं) अपने आपको (इति एव) इस प्रकार बौने वेश में ही (मुक्तः) छोड़ता हुआ (सः) वह जिनदत्त (स्मित्वा) मुस्कराकर (जजल्प) बोला।

जिसका कुल उच्च नहीं परन्तु दूषित है, उसमें ऐसे गुण नहीं हो सकते इसलिए निःशंक हो दोनों मातृ-पितृ कुल से शुद्ध इस पुण्यात्मा के लिए पुत्री दीजिए क्योंकि हम अधिक क्या कहें, इससे बढ़कर आपको अन्य और कौन वर कन्या के योग्य मिलेगा ? ॥५॥

[मंत्रियों की सलाह से राजा के द्वारा जिनदत्त का परिचय पूछना]

अथवा यदि इस पर भी आप राजी न हों तो इससे ही इसका कुल, जाति आदि पूछ लीजिए। मंत्रियों के इन वाक्यों से सम्मत हो जाने पर राजा ने जिनदत्त से पूछा ॥६॥ हे सज्जन शिरोमणि ! यद्यपि आकार, विज्ञान, पराक्रम और धैर्य आदि गुणों से तुम मुझे निश्चय से गुप्तरूप में श्रेष्ठकुल में उत्पन्न मालूम पड़ते हो ॥७॥ तथापि हे भद्र ! हम पर प्रसन्न होकर, हमारे संदेह को दूर कीजिए, अपने को असली रूप में प्रकट करो, राजा के इस प्रकार निवेदन करने पर भी अपने को उसी आकृति में रखकर मुस्कराकर जिनदत्त कहने लगे–॥८॥

वसन्तादिपुरावासि - जीवदेववणिक्पतेः ।
जिनदत्त इति ख्यातः सूनुरस्मि नरेश्वर ॥९॥

अन्वयार्थ–(नरेश्वर) हे राजन्! (वसन्तादिपुरावासिजीवदेव-वणिक्पतेः) बसंतपुर के निवासी जीवदेव नामक व्यापारियों के मुखिया का (जिनदत्तः इति ख्यातः) जिनदत्त इस नाम से प्रसिद्ध (सुनुः अस्मि) पुत्र हूँ।

त्वदीयश्रेष्ठिनः पुत्री विमलस्यैका परा प्रभो ।
सिंहलेशस्य विद्याभूश्-चक्रिणो दुहितापरा ॥१०॥

अन्वयार्थ–(प्रभो!) हे स्वामिन्! (त्वदीयश्रेष्ठिनः) आपके सेठ (विमलस्य) विमल की (एका पुत्री) एक पुत्री (परा) दूसरी (सिंहलेशस्य) सिंहलद्वीप के राजा की श्रीमती नाम की पुत्री (अपरा) अन्य दूसरी (विद्याभूश्चक्रिणः) विद्याधर चक्रवर्ती की शृङ्गारमति नाम की (दुहिता) पुत्री।

एतास्तिस्रोऽपि मद्-भार्यास्तिष्ठन्ति जिनवेश्मनि ।
मदीयसङ्गमोत्कण्ठा - कुलिताः कुलकेतवः ॥११॥

अन्वयार्थ–(कुल-केतवः) कुल की ध्वजास्वरूप (मदीयसङ्गमोत्कण्ठाकुलिताः) मुझ से मिलने की उत्कण्ठा से आकुलित (एताः) ये (तिस्रः अपि) तीनों ही (मद्भार्याः) मेरी पत्नियाँ (जिनवेश्मनि) जिनमंदिर में (तिष्ठन्ति) रहतीं हैं।

विपदां सम्पदां देव भाजनीभवता मया ।
अधुना प्राप्तविद्येन क्रीडेति बहुधा कृता ॥१२॥

अन्वयार्थ–(देव!) हे राजन् (विपदां) विपदाओं का तथा (सम्पदां) सम्पदाओं का (भाजनीभवता) भाजन होते हुए (मया) मेरे द्वारा (अधुना) इस समय (प्राप्तविद्येन) प्राप्त हुई विद्या से (इति) इस तरह (बहुधा) बहुत प्रकार की (क्रीडा कृता) क्रीड़ाएँ की हैं।

तदाकूतं ततो ज्ञात्वा हूतास्ताः पृथिवीभुजा ।
तिस्रोऽपि नायिकास्ताश्च प्राप्ताः कञ्चुकिभिः समम् ॥१३॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (पृथिवीभुजा) राजा ने (तदाकूतं) उसके अभिप्राय को

महाराज! सच है आपको बिना बतलाए कैसे मालूम हो सकता है? मैं बसंतपुर के सेठ वैश्यराज जीवदेव का पुत्र हूँ, मेरा नाम जिनदत्त है ॥९॥

मैंने आपके ही नगर निवासी विमलसेठ की विमलमति नाम की पुत्री को ब्याहा है, दूसरी सिंहल द्वीप के राजा की पुत्री श्रीमति और तीसरी विद्याधरों के अधिपति अशोकश्री की पुत्री शृङ्गारमति के साथ विवाह किया है ॥१०॥

कुल की ध्वजा स्वरूप मुझसे मिलने की उत्कण्ठा से आकुलित ये तीनों ही मेरी पत्नियाँ जिनमंदिर में रहती हैं ॥११॥ देव! मैंने इस जन्म में बहुत-सी तो विपत्ति झेली हैं और बहुत-सी संपत्तियों का भोग किया है एवं अनेक विद्याओं को प्राप्त कर इस जगह अनेक क्रीड़ाएँ की हैं ॥१२॥

जिनदत्त का यह वृत्तांत सुन और उसके अभिप्राय को जानकर राजा ने उन जिनमंदिर वासिनी

(ज्ञात्वा) जानकर (ताः) उन तीनों को (आहूताः) बुलवाया (च) और (ताः) वे (तिस्रः अपि) तीनों ही (नायिकाः) पत्नियाँ (कञ्चुकिभिः समम्) कञ्चुकी के साथ (प्राप्ताः) आ गईं।

अत्रोपविश्यतां पुत्र्यः स्वामिना भणिता इति।
प्रणम्योपाविशन्नन्ते विनीतास्ता यथाक्रमम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(स्वामिना इति भणिता) राजा ने इस प्रकार कहा कि (पुत्र्यः) हे पुत्रियों ! (अत्र) यहाँ पर (उपविश्यतां) बैठिए (विनीताः) विनयशील (ताः) वे तीनों (यथाक्रमम्) क्रमानुसार (प्रणम्य) [राजा को] नमस्कार कर (अन्ते) पास में (उपाविशत्) बैठ गईं।

उक्तं ततो नरेन्द्रेण महासत्वो वदत्ययम्।
एतास्तिस्रोऽपि मद्भार्याः सत्यमेवं मृषा किमु ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (नरेन्द्रेण) राजा ने (उक्तं) कहा (अयं) यह (महासत्वः) महा-पराक्रमी (वदति) कहता है कि (एताः) ये (तिस्रः अपि) तीनों ही (मद्भार्याः) मेरी पत्नियाँ हैं (एवं) इस प्रकार (सत्यं) सत्य है (किं) क्या (मृषा) झूठ है ?

अन्योन्यं मुखमालोक्य ताभिरूचे पतिः प्रभो।
न भवत्येव जानाति वार्त्तां तस्यैव केवलम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यं) परस्पर में एक-दूसरे के (मुखं) मुख को (आलोक्य) देखकर (ताभिः ऊचे) उन्होंने कहा (प्रभो !) हे राजन् ! (एव) निश्चय से (पतिः न भवति) यह हमारा पति नहीं हैं। (केवलं) सिर्फ (तस्यैव) उन पति की (वार्तां) वार्ता को (एव) ही (जानाति) जानता है।

अत्रान्तरेकुमारोऽपि पुलकाञ्चितविग्रहः।
आविर्भवत्स्मितं वक्त्रं पिदधातिस्म वाससा ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अत्रान्तरे) इसी बीच (पुलकाञ्चितविग्रहः) रोमाञ्चित/पुलकित शरीर वाला (कुमारः अपि) जिनदत्त कुमार ने भी (आविर्भवत्-स्मितं) प्रकट हुई हँसी को छुपाने के लिए (वाससा) वस्त्र से (वक्त्रं) मुख को (पिदधातिस्म) ढक लिया।

तीनों स्त्रियों को बुलाने के लिए भेजा, वे भी कञ्चुकियों के साथ-साथ राजसभा में आ उपस्थित हो गईं ॥१३॥

राजा ने इस प्रकार कहा हे पुत्रियों ! यहाँ पर बैठिए, विनयशील वे तीनों क्रमानुसार राजा को प्रणाम कर पास में बैठ गईं ॥१४॥

उसके बाद राजा ने कहा, यह महापराक्रमी कहता है कि ये तीनों ही मेरी पत्नियाँ हैं, इस प्रकार क्या सत्य है या झूठ है ? आप कहिए ॥१५॥

यह सुनकर वे तीनों एक-दूसरे का मुख देखने लगीं, कुछ क्षण विचार कर कहने लगीं, हे नरेश ! यह हमारे पति नहीं हैं, केवल हमारे पतिदेव की वार्ता को जानने वाले हैं ॥१६॥

इसी बीच रोमाञ्चित/पुलकित शरीरवाले कुमार ने भी प्रकट हुई हँसी को छुपाने के लिए वस्त्र से मुख को ढक लिया ॥१७॥

भूयोप्युवाच भूपालः पुत्र्यः सम्यक् प्रविच्यताम् ।
ताभिरूचे न सादृश्य-मपि तस्याऽस्ति किं बहु ।।१८।।

अन्वयार्थ–(भूपालः) राजा ने (भूयः अपि) फिर भी (उवाच) कहा (पुत्र्यः) हे पुत्रियों (सम्यक्) सही (प्रविच्यताम्) कहो (ताभिः ऊचेः) उन तीनों ने कहा (किं बहुः) बहुत क्या (तस्य) उन जिनदत्त की (सादृश्यम् अपि) समानता भी (न अस्ति) नहीं है ।

कुमारेण ततस्त्यक्त्वा वामनत्वं कृताकृतिः ।
जिनदत्तस्य सञ्जातः श्यामवर्णेन केवलम् ।।१९।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (कुमारेण) कुमार ने (वामनत्वं) बौनेपने को (त्यक्त्वा) छोड़कर (जिनदत्तस्य) जिनदत्त की (आकृतिः कृता) पूर्व आकृति को किया (केवलं) मगर (श्यामवर्णेन) श्यामवर्ण रूप से (सञ्जातः) हो गया ।

विस्मिताभिस्ततस्ताभिः सलज्ञाभिश्च भूपतिः ।
प्रोचे तात स एवायं परं वर्णेन नो समः ।।२०।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (विस्मिताभिः) आश्चर्य को प्राप्त (च) और (स-लज्ञाभिः) लज्ञा सहित (ताभिः) उन तीनों ने (भूपतिः) राजा से (प्रोचे) कहा (तात) हे तात ! (सः) वह (अयं) यह (एव) ही है (परं) किन्तु (वर्णेन) वर्ण से (समः नो) समान नहीं है ।

ततः स्मित्वाभवत्सोऽपि तप्तजाम्बुनदच्छविः ।
तथा यथाभवाँश्चित्र-लिखिता इव तास्तदा ।।२१।।

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (सः अपि) वह जिनदत्त भी (स्मित्वा) हँसकर (यथा) जैसे ही (तप्तजाम्बुनदच्छविः) तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति वाला [लाल पीत वर्ण] (अभवत्) हो गया (तदा) तब (तथा) वैसे ही (ताः) वे तीनों (चित्रलिखिता इव) चित्रलिखित के समान (अभवन्) हो गईं।

इधर राजा ने यह अचम्भे की बात सुनकर फिर कहा–पुत्रियों ! देखो ! खूब सोच-समझकर बतलाओ । क्या वास्तव में ही यह तुम्हारा पति नहीं है ? राजा की यह बात सुनकर पुत्रियों ने फिर भी यही उत्तर देकर कहा-महाराज ! अन्य की तो क्या बात ? इनके और उनके तो सादृश्यता भी नहीं है ।।१८।।

अब कुमार ने अपनी बौनेपन की आकृति को छोड़ दिया और यथार्थ जिनदत्त की आकृति को धारण कर लिया परन्तु शरीर का रंग काला ही रहने दिया ।।१९।।

अब तो वे तीनों स्त्रियाँ आश्चर्य में मग्न हो लज्जित हो गईं और राजा से बोलीं तात ! ये ही हमारे पति हैं, पर केवल रंग में ये काले हैं और वे पीले रंग जैसे थे ।।२०।।

इस प्रकार सुनते ही, हँसकर कुमार ने जैसे ही तपाये हुए स्वर्ण की भाँति अपने शरीर की वास्तविक छवि को धारण कर लिया, यह विचित्र सहसा परिवर्तन देखकर वैसे ही ये तीनों चित्रलिखित-सी बैठी रह गईं ।।२१।।

उदञ्चदुच्चरोमाञ्च-स्फुटत्कञ्चुक-जालिकाः ।
समुत्थाय ततो लग्नाः स्वामिपादद्वये मुदा ।।२२।।

अन्वयार्थ–(ततः) तत्पश्चात् (उदञ्चदुच्चरोमाञ्चस्फुटत्कञ्चुकजालिकाः) ऊपर को आए व उठे हुए उच्च रोमाञ्चों के खिलने से हर्षरूपी अंकुरों की चोली को पहने हुए (समुत्थाय) उठकर वे तीनों (मुदा) हर्षपूर्वक (स्वामिपादद्वये) स्वामी के दोनों चरणों में (लग्नाः) लग गईं/नम्रीभूत हो गईं ।

यः पुरा ववृधे तीव्रस्तासां विरहपावकः[1] ।
आनन्दाश्रुप्रवाहेण तेनासौ शमितो ध्रुवम् ।।२३।।

अन्वयार्थ–(यः) जो (पुरा) पहले (तासां) उनकी (तीव्रः) तीव्र (विरह-पावकः) विरहरूपी अग्नि (ववृधे) वृद्धि को प्राप्त हुईं थीं (असौ) वह विरहाग्नि (तेन) उस (आनन्दाश्रुप्रवाहेण) आनंदरूपी आंसुओं की धारा से (ध्रुवम्) नियम से (शमितः) शांत हो गईं ।

यदभावि तदा तासां सौख्यं किमपि मानसे ।
तत्र तस्यापि तत्सर्वं कविवाचामगोचरम् ।।२४।।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (तदा) तब (तासां) उन तीनों के (तस्य अपि) और उस जिनदत्त के भी (मानसे) मन के लिए (यत्) जो (किं अपि) कुछ भी (सौख्यं) सुखानुभाव (भावि) हुआ (तत्सर्वं) वह सब (कविवाचाम्) कवि के वचन के (अगोचरम्) अगम्य/अगोचर है ।

सम्भाविताश्च तास्तेन सलज्जा निकटे स्थिताः ।
भूषणाम्बरताम्बूल-पुष्पै राज्ञा प्रपूजिताः ।।२५।।

अन्वयार्थ–(च) और (सलज्जाः) लज्जा सहित (निकटे) पास में (स्थिताः) बैठी हुईं (ताः) वे (तेन) उस जिनदत्त के द्वारा (सम्भाविताः) सम्मानित हुईं (राज्ञा) तब राजा ने (भूषणाम्बर-ताम्बूलपुष्पैः) आभूषण, वस्त्र, पान और पुष्पों के द्वारा (प्रपूजिताः) उनकी प्रकृष्ट पूजा की अर्थात् उनको सम्मानित किया ।

उनका रोम-रोम उल्लसित हो उठा । शरीर में सर्वत्र रोमाञ्च हो जाने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो हर्षाङ्कुरों की चोली/साड़ी ही धारण की हो । वे शीघ्र उठीं और अपने पतिदेव के चरणों में आनंद से नम्रीभूत हो गईं ।।२२।।

जो पूर्व विरह से तीव्र ताप बढ़ रहा था, उस पति-वियोग की अग्नि के संताप को, इस समय आनंद के अश्रु प्रवाह ने शांत कर दिया ।।२३।।

वहाँ तब उन तीनों के व उस जिनदत्त के भी मन में जो कुछ भी सुखानुभव हुआ, वह सब कवि के वचनों के अगोचर है ।।२४।।

और लज्जा सहित पास में बैठी हुई पत्नियाँ, उस जिनदत्त के द्वारा सम्मानित हुईं व राजा ने भी आभूषण, वस्त्र, पान और पुष्पों के द्वारा उनको सम्मानित किया ।।२५।।

---

१. विरहाग्निः ।

ज्ञातवार्त्तः स तत्रैत्य विमलो वणिजां पतिः।
नत्वेशं गाढमालिङ्ग्च जिनदत्तमुपाविशत् ॥२६॥

अन्वयार्थ–(ज्ञातवार्त्तः) समाचार को जानने वाले (सः) उस (वणिजां पतिः) वैश्यों के पति (विमलः) विमलसेठ ने (तत्र) वहाँ पर (एत्य) आकर (ईशम्) राजा को (नत्वा) नमस्कार कर (जिनदत्तं) जिनदत्त को (गाढं आलिङ्ग्च) गाढ़ आलिंगित कर (उपाविशत्) पास में बैठ गया।

क्षेमादिकं परीपृच्छ्य सम्प्राप्तावसरो नृपम्।
उवाचेति यथा देव कुमारः प्रेष्यतां गृहम् ॥२७॥

अन्वयार्थ–(क्षेमादिकं) कुशलतादि को (परिपृच्छ्य) अच्छी तरह पूछकर (सम्प्राप्तावसरः) योग्य अवसर पाकर (नृपम्) राजा को (इति) इस प्रकार (उवाच) बोले (देव!) हे देव! (यथा) जैसे भी हो वैसे (कुमारः) कुमार जिनदत्त (गृहम्) घर को (प्रेष्यतां) भेज दिया जाये।

राज्ञावादीदमेवास्य गेहं गुणमहोदधेः।
यद्यप्येवं तथापीश गाढमुत्कण्ठिता वयम् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(राज्ञा) राजा ने (अवादी) कहा (अस्य) इस (गुणमहोदधेः) गुणों के महासागर का (इदं एव) यह ही (गेहं) घर है सेठ ने कहा (यद्यपि) यद्यपि (एवं) यह आपका इस प्रकार कथन सत्य है (तथापि) तो भी (ईश) हे स्वामिन्! (वयम्) हम (गाढं उत्कण्ठिताः) अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।

सम्भाषादौ कुमारस्य किञ्चौचित्यक्रमोऽस्ति नः।
इति तस्योपरोधेन विसृष्टोऽसौ महीभुजा ॥२९॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (सम्भाषादौ) दोनों के संभाषण आदि में (नः) हमारा (औचित्यक्रमः) उचितपना/उपयुक्तता (किं अस्ति) क्या है? (इति) इस प्रकार (तस्य कुमारस्य) उस जिनदत्त कुमार के (उपरोधेन) आग्रह से (महीभुजा) राजा ने (असौ) उसे (विसृष्टः) जाने की अनुमति दे दी।

सकान्तं सोऽपि तं नीत्वा मन्दिरेमुदितो भृशम्।
सादरं विदधे तस्य तत्रौचित्यं यथाविधि ॥३०॥

विमलमति के पिता विमलसेठ को जब यह समाचार मालूम पड़ा कि उनके जमाई मिल गए हैं, तो वे शीघ्र ही राजसभा में आए और राजा को नमस्कार कर जिनदत्त के आलिंगनादि से परम हर्ष को प्राप्त होते हुए, उनके पास में बैठ गए ॥२६॥ कुशलता आदि अच्छी तरह पूछकर, यथायोग्य अवसर देखकर, राजा से विमलसेठ ने जिनदत्त को अपने घर ले जाने के लिए सम्मति प्रदान करने को कहा ॥२७॥ यह सुनकर राजा ने कहा इस गुणसागर का यही घर है। यद्यपि सेठ ने कहा, यह कथन आपका सत्य है, तो भी हे स्वामिन्! हम अत्यन्त उत्कण्ठित हैं ॥२८॥ दोनों के इस प्रकार वार्तालाप को सुन, कुमार ने कहा, इस समय इनका कहना उचित है, मैं भी जाना चाहता हूँ क्योंकि मेरा भी औचित्य इसी में है, यही क्रम भी ठीक है, इस प्रकार जिनदत्त का आग्रह देखकर नृपति ने भी जाने की अनुमति दे दी ॥२९॥ वह विमलसेठ भी अपने दामाद को पुत्रियों के साथ अपने घर ले गया और

अन्वयार्थ–(सः) वह विमलसेठ (अपि) भी (सकान्तं) पत्नियों सहित (तं) उस जिनदत्त को (भृशम्) अत्यधिक (मुदितः) प्रसन्नतापूर्वक (मन्दिरे) घर में (नीत्वा) ले जाकर (तत्र) वहाँ पर (सः) उस विमलसेठ ने (सादरं) आदर सहित (यथाविधि) विधिपूर्वक (तस्य) उस जिनदत्त का (औचित्यं) उचित सम्मान (विदधे) किया।

प्रारेभे च ततः कर्त्तु-मुत्सवः स तथा जनः।
पौरः सर्वोऽपि चायातस्-तद्दर्शनसमुत्सुकः ॥३१॥

अन्वयार्थ–(च) और (ततः) उसके बाद (सः) उस विमलसेठ ने (तथा) वैसे ही (पौरः जनः) पुरवासियों ने (उत्सवः) उत्सव (कर्त्तुं) करना (प्रारेभे) प्रारम्भ किया (च) और (सर्वः अपि) सब ही नगर निवासी मनुष्य (तद्दर्शनसमुत्सकः) उस जिनदत्त के दर्शन की उत्कंठा से युक्त होते हुए (आयातः) आए।

यथाकालं ततश्चक्रे सुखसम्भाषणादिकम्।
श्रेष्ठिना सोऽपि वृत्तं स्व-मवादीदादितस्ततः ॥३२॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (यथाकालं) समयानुसार (श्रेष्ठिना) सेठ ने कुमार से (सुख-सम्भाषणादिकम्) सुख-दुःखरूप संभाषण आदि (चक्रे) किया (ततः) इसलिए (सः अपि) उस कुमार ने भी (स्वं वृत्तं) अपना समस्त वृत्तान्त (आदितः) आदि से अंत तक (अवादीत्) कहा।

नितम्बिन्योऽपि तास्तस्य साभिज्ञानं सुविस्मिताः।
अश्रौषुर्वृत्तमात्मीयं न्यगदंश्च[1] यथाक्रमम् ॥३३॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (तस्य) उस जिनदत्त की (ताः) उन (सुविस्मिताः) विस्मय को प्राप्त (नितम्बिन्यः) स्त्रियों ने (अपि) भी (यथाक्रमं) क्रम से (साभिज्ञानं) पहिचान सहित (आत्मीयं वृत्तं) अपने वृत्तान्त को (न्यगदन्) कहते हुए (अश्रौषुः) सुनाया।

विदधे च जिनाधीशायतनेषु स[2]मुत्सव[3]म्।
जिनार्चास्नानपूजाद्यं दीनादीनां विहायितम् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(च) और (समुत्सवम्) उत्सव सहित (जिनाधीशायतनेषु) जिनेन्द्र भगवान के मंदिरों

आनंद से उनका आदरपूर्वक यथोचित सम्मान किया ॥३०॥

उस विमलसेठ ने और पुरवासियों ने उत्सव करना प्रारंभ किया और सब ही नगर निवासी उस जिनदत्त के दर्शन की उत्कण्ठा से वहाँ आए ॥३१॥

आने-जाने वालों का तांता कुछ समय बाद शान्त हुआ, तो यथावसर सेठ ने कुमार से सुख संभाषण करना प्रारंभ किया। कुमार ने भी अपना समस्त वृत्तांत आदि से अंत तक क्रमशः सुनाया ॥३२॥

तथा उस जिनदत्त के चरित्र को सुन आश्चर्य को प्राप्त उन स्त्रियों ने क्रमशः पहचान सहित अपने चरित्र को कहा ॥३३॥

तदनन्तर कुमारादि ने उत्सव सहित जिनभवनों में जिनेन्द्र भगवान के महाभिषेक पूजा आदि को

---

१. श्रृण्वन्ति स्म। २. दानम्। ३. इति "क" पुस्तके पाठो नास्ति।

में (जिनार्चास्नानपूजाद्यं) जिनेन्द्र भगवान की पूजा, अभिषेक आदि को (दीनादीनां) अनाथ और सत्पात्रों को (विहायितम्) दान (विदधे) किया।

अथान्येद्युः शुभे लग्ने सुमुहूर्त्ते शुभे तिथौ।
विवाहमङ्गलं राज्ञा कन्यायास्तेन कारितम् ॥३५॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (अन्येद्युः) किसी अन्य दिन (शुभे लग्ने) शुभलग्न में (सुमुहूर्त्ते) अच्छे मुहूर्त्त में (शुभे तिथौ) शुभतिथि में (राज्ञा) राजा ने (कन्यायाः) राजकन्या का (तेन) उस जिनदत्त के साथ (विवाहमङ्गलं) विवाहरूप मांगलिक कार्य (कारितम्) कराया।

राज्यालङ्कारपूर्वं च दत्त्वा देशादिकं बहु।
महासामन्तमेतं स चकार नरनायकः ॥३६॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (सः नरनायकः) उस नरपति राजा ने (राज्यालङ्कारपूर्वं) राजकीय अलंकारपूर्वक (बहु देशादिकं) अनेक देश आदि को (दत्त्वा) देकर (एतं) इस जिनदत्त को (महासामन्तं) महासामन्त (चकार) किया [बनाया]।

प्रेषिताश्च कुमारेण पुरुषास्तातसन्निधौ।
समर्प्य बहुभेदानि द्वीपरत्नानि वेगतः ॥३७॥

अन्वयार्थ–(च) और (कुमारेण) कुमार के द्वारा (बहुभेदानि) बहुत भेद वाले (द्वीपरत्नानि) द्वीपों से प्राप्त अनेक बहुमूल्य रत्नों को (समर्प्य) देकर (पुरुषाः) पुरुषों को (वेगतः) शीघ्रता से (तातसन्निधौ) पिता के पास/समीप (प्रेषिताः) भेजा।

उपलभ्य च ताताद्यास्तदुदन्तं न मानसे।
उल्लासेन ममुश्चन्द्र-विम्बादिव पयोधयः ॥३८॥

अन्वयार्थ–(च) और (ताताद्याः) पिता आदि कुटुम्बीजनों ने (तद् उदन्तं) उसके समाचार को (उपलभ्य) प्राप्त कर (उल्लासेन) उल्लास/प्रसन्नता के द्वारा (चन्द्रबिम्बात्) चन्द्रबिम्ब से (पयोधयः इव) समुद्र के समान (मानसे) मन में (न) नहीं (ममुः) समाए।

करके सत्पात्रों एवं अनाथों को दान दिया ॥३४॥ चम्पानगरी के राजा ने सब प्रकार से संतुष्ट हो, जिनदत्त के साथ अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार; शुभमुहूर्त्त, शुभदिन, शुभलग्न, शुभतिथि एवं शुभविधि से अपनी कन्या का मांगलिक विवाह कर दिया ॥३५॥

एवं राजा ने उस जिनदत्त को बहुत से वस्त्र, आभूषण और देश आदि भेंट में देकर उत्तम सामन्त पद से विभूषित किया ॥३६॥

जब कुमार जिनदत्त, राजसम्मान से सम्मानित और यथेष्ट धनाढ्य हो गए, तो उन्होंने अपने पिता के पास नाना द्वीपों के रत्नों को देकर संदेशवाहक भेजे ॥३७॥

उनसे अपने इकलोते पुत्र के समाचार पाकर सेठ जीवदेव को अपार आनंद हुआ। जिस प्रकार चंद्रमा के उदय से समुद्र अपने अंग में नहीं समाता, उठकर आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार सेठ जीवदेव का हर्ष हृदय में न समा, रोमाञ्चों के छल से बाहर निकल पड़ा ॥३८॥

प्रेषिताश्च ततो लातुं तस्य तातेन चागताः ।
तेऽपि प्रणम्य तं वाच-मूचुरेवं कृतादराः ॥३९॥

अन्वयार्थ–(च) और (ततः) उसके बाद (तातेन) पिता ने (तस्य) उस जिनदत्त के (लातुं) लाने के लिए (प्रेषिताः) लोगों को भेजा (ते) उन (आगताः) आए हुओं ने (अपि) भी (तं प्रणम्य) उस जिनदत्त को प्रणाम कर (कृतादराः) आदर करने वाले वे (एवं) इस प्रकार (वाचं) वचन (ऊचुः) बोले ।

यथा विधीयतां नाथ ! विलम्बेन विनोद्यमः ।
गमनाय किमत्रैवं स्थीयते स्वजनादृते ॥४०॥

अन्वयार्थ–(नाथ) हे स्वामिन् ! (विलम्बेन विना) बिलंब के बिना (गमनाय) गमन के लिए (यथा) इस तरह (उद्यमः) उद्यम (विधीयतां) करिए (अत्र) यहाँ पर (एवं) इस प्रकार (स्वजनात् ऋते) स्वजनों के बिना (किं) क्यों (स्थीयते) रहा जाये ?

वसन्ततिलका छन्दः

तातस्तवाभिनवचन्द्रसमानमूर्ति र्जातो वियोगभरतो भवतोऽतिदुःखात् ।
मातुश्च वाष्पजलविप्लुतकज्ञलाङ्का गण्डस्थली मलिनतां विजहौ न जातु ॥४१॥

अन्वयार्थ–(तव) आपके (तातः) पिता (भवतः) आपके (वियोगभरतः) वियोग के भार से (अतिदुःखात्) अत्यन्त दुःखी होने से (अभिनवचन्द्रसमानमूर्तिः जातः) नवीन दुतिया के चन्द्रमा के समान क्षीण कान्ति शरीर वाले हो गए हैं (च) और (मातुः) माता की (वाष्पजलविप्लुतकज्ञलाङ्का) अश्रु जल की बिन्दुओं से काजल की कालिमा से व्याप्त (गण्डस्थली) दोनों गाल (जातु) कभी भी (मलिनतां) मलीनता को (न विजहौ) नहीं छोड़ते ।

अन्योऽपि बान्धव-जनः सकलो वियोग-दुःखेन दुःस्थहृदयोऽनुदिनं तवास्ते ।
तिष्ठन्ति साम्प्रतममी भवदीयवक्त्र-सन्दर्शनैकरसिकाश्च तदेहिशीघ्रम् ॥४२॥

अन्वयार्थ–(तव) आपके (अन्यः अपि) अन्य भी (सकलः) सभी (बान्धवजनः) बन्धुजन (वियोग-दुःखेन) वियोग के दुख से (अनुदिनं) रात-दिन (दुःस्थहृदयः) दुखित हृदय (आस्ते) हैं (च)

उन्होंने शीघ्र ही कुछ आदमियों को अपने पुत्र के पास लिवाने के लिए भेजा और उन्होंने भी पहुँचकर, उनको प्रणाम कर, आदर से जिनदत्त की सेवा में इस प्रकार निवेदन किया ॥३९॥ हे नाथ ! अब बिना विलम्ब के शीघ्र यहाँ से चलिए, पिता के समीप जाने का उद्यम करना योग्य है । क्योंकि स्वजनों के बिना यहाँ रहना अच्छा नहीं है ॥४०॥ हे सर्वोत्तम ! आपके पिता आपके वियोग में सूख-सूख कर बिल्कुल कांतिहीन चन्द्रमा के समान हो गए हैं, उन्हें आपकी याद में खाना-पीना तक नहीं सुहाता । आपकी माता तो आपके पास में न होने से रात-दिन रोया करती हैं, उनकी गंडस्थली सदा आंसुओं के प्रवाह से भीगीं और आँखों में आँजे गए कज्ज़ल के बहने से काली ही रहती हैं ॥४१॥

और भी अन्य जो आपके कुटुंबीजन हैं, वे भी सब आपकी विरहाग्नि से संतप्त हो दुःख पा रहे हैं एवं सबके सब आपके मुखचंद्र को देखने के लिए लालायित हो रहे हैं, इसलिए आपके पिता जी

और (साम्प्रतं) इस समय (अमी) ये पारिवारिक व नागरिकजन (भवदीयवक्त्रसन्दर्शनैकरसिकाः) केवल आपका मुख देखने के लिए ही मुख्यरूप से लालायित हैं (तत्) उस पितृ गृह को (शीघ्रं) जल्दी (एहि) प्रस्थान कीजिए।

श्रुत्वेति तस्यवचनं नितरां समुत्कः संपृच्छय भूप-वणिगीशपुरःसरं सः।
लोकं चचाल दयितासहितो बलेना-नल्पेन कल्पित-मनोहर-दिव्ययानः ॥४३॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (तस्य) उन [संदेशवाहक पुरुषों के] (वचनं) वचन को (श्रुत्वा) सुनकर (नितरां) अत्यधिक (समुत्कः) उत्सुकता से सहित (सः) उस जिनदत्त ने (भूपवणिगीशपुरस्सरं) राजा और सेठ को मुख्यकर (लोकं) लोक को (संपृच्छय) पूँछकर (दयिता सहितः) पत्नियों के साथ (कल्पितमनोहरदिव्ययानः) बनाए हुए सुन्दर दिव्य विमान से सहित (अनल्पेन बलेन) बहुत सेना के साथ (चचाल) चला/प्रस्थान किया।

प्राप्तस्ततः क्षणतयेव पुरंप्रवृद्धा-नन्देन बान्धवजनेन समं समेत्य।
तातेन कल्पितसमुत्सवमाकुलेन स्वानन्दपूर्ण हृदयेन गृहं स निन्ये ॥४४॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (प्रवृद्धानन्देन) बड़े हुए आनंद से (बान्धवजनेन समं) बन्धुजनों के साथ (समेत्य) सकुशल आकर (क्षणतया एव) क्षणमात्र में ही (पुरं) नगर को (प्राप्तः) प्राप्त हुए पहुँच गये (स्वानन्दपूर्ण-हृदयेन) आत्मीय आनंद से भरे हुए हृदय वाले (आकुलेन तातेन) उत्साहित पिता के द्वारा (सः) वह जिनदत्त (कल्पितसमुत्सवं) किए गए उत्सव से सहित (गृहं) घर को (निन्ये) ले जाया गया/प्रवेश कराया गया।

ने आपकी सेवा में हमें भेजा है, कृपाकर शीघ्र ही चलिए और अपने संयोग से सबको सुखी बनाइए ॥४२॥ अपने पिता के पास से बुलाने के लिए आए हुए आदमियों के संदेश को सुनकर जिनदत्त से भी न रहा गया। उनका हृदय भी अपने माता-पिता और कुटुंबियों से मिलने के लिए लालायित हो गया उन्होंने शीघ्र ही अपने श्वसुर, सेठ और राजा से अपने नगर की ओर जाने की सम्मति मांगी और उसके मिल जाने पर, अपनी समस्त स्त्रियों और परिवार के साथ, मनोहर दिव्य विमान में सवार हो, वे ठाठ-बाट से बहुत सैन्य बल के साथ चल दिए ॥४३॥ महासामंत जिनदत्त उत्साह और सुख के साथ अपने नगर की ओर रवाना होकर शीघ्र अपने पिता के पास जा पहुँचे और पिता ने भी बड़े भारी उत्सव से चारों बहुओं के साथ हर्ष सहित इनका घर में प्रवेश कराया ॥४४॥

॥ इति श्रीभगवद्गुणभद्राचार्य्यप्रणीते श्रीजिनदत्तचरित्रे सप्तमः सर्गः ॥७॥

॥ इस तरह श्री भगवान गुणभद्राचार्य विरचित श्री जिनदत्त चरित्र में सातवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

अष्टमः सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथासौ सदनं प्राप्य प्रस्तुताखिलमङ्गलम् ।
ननाम मातरं सापि रुरोदाघ्राय मस्तकम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (असौ) उस जिनदत्त ने (प्रस्तुताखिलमङ्गलम्) प्रस्तुत किए गए हैं सभी मंगल जिसमें ऐसे (सदनं) घर को (प्राप्य) प्राप्तकर (मातरं) माता को (ननाम) नमस्कार किया (सा अपि) उस माता ने भी (मस्तकम् आघ्राय रुरोद) मस्तक को सूंघकर रुदन किया ।

समाश्वास्य ततस्तां स यथाज्येष्ठं कृताननतिः ।
भद्रासने निविष्टश्च भवन्भाजनमाशिषाम् ॥२॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (सः) उसने (तां) उस माता को (समाश्वास्य) आश्वासन देकर (यथाज्येष्ठं) क्रमशः जेठे/बड़े जनों को (आनतिः कृता) नमस्कार किया (च) और वह (आशिषाम् भाजनं भवन्) आशीर्वादों का पात्र होता हुआ (भद्रासने) भद्र/सुन्दर आसन पर (निविष्टः) बैठ गया ।

अक्षतानि ददौ तत्र मस्तकेऽस्य जनीजनः ।
गीत-वादित्र-नृत्यादि-कृतानि च सहस्रशः ॥३॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (अस्य) इसके (मस्तके) मस्तक पर (जनीजनः) सौभाग्यवती स्त्रियों ने (अक्षतानि) अक्षतों को (ददौ) दिया अर्थात् उसके मस्तक पर अक्षत छोड़े (च) और (सहस्रशः) हजारों (गीत-वादित्र-नृत्यादि-कृतानि) गीत, वादित्र, नृत्यादि किए ।

श्वश्रूं प्रणम्य नारीणा-मन्यासामपि पादयोः ।
पपात क्रम इत्यस्य कान्तानां च चतुष्टयम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(च) और (अस्य) इसकी (कान्तानां चतुष्टयम्) चारों पत्नियों ने (श्वश्रूं) सास को (प्रणम्य) प्रणाम कर (अन्यासाम् नारीणां अपि) अन्य वृद्ध स्त्रियों के भी (पादयोः) चरण युगल में (पपात) प्रणाम/नमन किया (इति क्रमः) ऐसा सज्जनों का क्रम लोकव्यवहार है ।

उस समय होने वाले समस्त मांगलिक चिह्नों से भूषित गृह में प्रवेश कर जिनदत्त ने माता को प्रणाम किया और उसने भी अपने चिर वियुक्त पुत्र को देखकर रोते हुए मस्तक को सूंघा ॥१॥

माता की यह दशा देख जिनदत्त ने उसे अच्छी तरह समझाकर धैर्य बंधाया उसके बाद क्रम-क्रम से अपने वृद्धों को प्रणाम कर, उनकी आशीषें ग्रहण करके भद्रासन पर बैठ गए ॥२॥

उसके बाद नगर की तथा कुटुम्ब की स्त्रियों ने उनके ऊपर अक्षत बिखेरे और हजारों गाजों-बाजों के साथ मंगल गीत गाए ॥३॥

इस प्रकार जिनदत्त के जब मंगलाचार और आदर सत्कार हो चुके, तो उनकी चारों पत्नियों ने क्रम से सास-श्वसुर को प्रणाम कर अन्य भी वृद्ध स्त्रियों के पैर छुए और उन्होंने भी उनका यथायोग्य सत्कार किया ॥४॥

निविष्टं च समासन्न-वनिता-जन-मध्यतः ।
स्वरूप-सम्पदा सर्व-भाविताहित-विस्मयम् ॥५॥

अन्वयार्थ–(च) और (समासन्नवनिताजनमध्यतः) पारिवारिक निकट की नारी जनों के मध्य में (निविष्टं) बैठी हुईं वे चारों बहुएँ (स्वरूपसम्पदा) अपने रूप सौन्दर्य की संपदा से (सर्वभाविताहित-विस्मयम्) सभी के द्वारा संभावित/भाए गए आश्चर्य को उत्पन्न कर रहीं थीं ।

सम्भाविताश्च सर्वेऽपि बान्धवाः स्निग्धबुद्धयः ।
सस्त्रीकास्तन्मुखाम्भोज-लीननेत्रालिमालिकाः ॥६॥

अन्वयार्थ–(अपि) और (सस्त्रीकाः) स्त्रियों से सहित (तन्मुखाम्भोज-लीन-नेत्रालि-मालिकाः) उस जिनदत्त के मुखरूपी कमलों में लीन नेत्ररूपी भौरों की माला वाले (स्निग्ध-बुद्धयः) स्नेह-बुद्धि युक्त (सर्वे बान्धवाः) सभी बन्धुजन ने (सम्भाविताः) आदर/सत्कार किया ।

गत्वा ततो जिनेन्द्राणां सर्वेष्वायतनेष्वसौ ।
भक्त्या पूजादिकं कृत्वा चकारोत्सवमादृतः ॥७॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (असौ) उस जिनदत्त ने (जिनेन्द्राणां) जिनेन्द्रों के (सर्वेषु आयतनेषु) सभी आयतनों/मंदिरों में (गत्वा) जाकर (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (पूजादिकं) पूजा-अभिषेक आदि को (कृत्वा) करके (आदृतः) आदर से (उत्सवं) उत्सव को (चकार) किया ।

प्रणनाम गुरूणां च पाद-पद्मानि भक्तितः ।
कृतकृत्य-मिवात्मानं मेने संभाषितश्च तैः ॥८॥

अन्वयार्थ–(च) और (गुरूणां) गुरुओं के (पाद-पद्मानि) चरण कमलों को (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (प्रणनाम) प्रणाम किया (तैः) उनसे (संभाषितः) सम्भाषण/कुशलक्षेम वार्ता की (च) तथा (आत्मानं) अपने आपको (कृतकृत्यं इव) कृतकृत्य के समान (मेने) माना ।

यथायोग्य विनयोपचार कर, वे चारों अन्य स्त्रियों से आवेष्टित हो यथायोग्य आसन पर आसीन हुईं, उनका रूप-लावण्य सबको आश्चर्य चकित कर रहा था अर्थात् सभी की दृष्टि इनके सौन्दर्यपान में लगी हुईं थीं ॥५॥

सर्व बान्धव जन, सस्नेह बुद्धि से उसके गुण, बल, पौरुष से नाना प्रकार सम्भावित कल्पनाओं में मुग्ध थे । जिनदत्त को उसकी अनुपम सुंदर स्त्रियों सहित देख सभी जन उसके मुख के निहारने में निर्निमेष पलक थे, ऐसा प्रतीत होता था मानों मुखरूपी कमल पर ये नेत्ररूपी भ्रमरों की पंक्तिमालाएँ क्रीड़ा कर रही हों ॥६॥

जब समस्त घर का उत्सव समाप्त हो गया, तो जिनदत्त ने अपनी पत्नियों के साथ नगर के समस्त जिन आयतनों/मंदिरों में जाकर भक्ति से अभिषेक-पूजादि करके महान् उत्सव मनाया । जिनभक्ति के पश्चात् गुरु वंदना को गए ॥७॥

जिनालय में स्थित श्री एकदेश वीतरागी-मुनिवृन्दों के पादपद्मों में भक्ति से नमस्कार किया । उनके साथ धार्मिक-संभाषण कर अपने को कृतकृत्य माना ॥८॥

आगत्य च ततोऽदायि दीनानाथार्थिनां धनम् ।
यथाकामं कुमारेण मारेणेव समूर्त्तिना ॥९॥

अन्वयार्थ–(च) और (ततः) वहाँ से (आगत्य) आकर (समूर्तिना) मूर्तिमान शरीरधारी साक्षात् दिखने वाले (मारेण इव) कामदेव के समान (कुमारेण) कुमार ने (यथाकामं) इच्छानुसार (दीनानाथार्थिनां) योग्य दीन-अनाथ याचकों को (धनम्) धन (अदायि) दिया ।

तथास्य चरितं श्रुत्वा पूजितोऽसौ विशेषतः ।
चन्द्रशेखर-राजेन जनैरन्यैश्च सादरम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(तथा) और (विशेषतः) विशेषरूप से (अस्य चरितं) इसके चरित्र को (श्रुत्वा) सुनकर (चन्द्रशेखर-राजेन) चन्द्रशेखर राजा के द्वारा (च) और (अन्यैः जनैः) अन्य जनों के द्वारा (सादरं) आदरपूर्वक (असौ) यह जिनदत्त (पूजितः) सम्मानित किया गया ।

इत्थ-मानन्द-मुत्पाद्य तातादीना-मुवाच सः ।
यथाक्षणं स्ववृत्तान्त-मशेषं प्रश्नपूर्वकम् ॥११॥

अन्वयार्थ–(इत्थं) इस प्रकार (तातादीनाम्) माता-पिता आदि के (आनन्दम्) आनंद को (उत्पाद्य) उत्पन्न कर (सः) उसने (यथाक्षणं) समयानुसार (प्रश्न-पूर्वकं) पूछने पर (अशेषं) सम्पूर्ण (स्ववृत्तान्तं) अपने चरित्र को (उवाच) कहा ।

यान्ति तत्र दिनान्यस्य सुरस्येव सुरालये ।
पञ्चेन्द्रियं सुखं सम्यक् भुञ्जानस्य निरन्तरम् ॥१२॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (निरन्तरं) निरंतर (पञ्चेन्द्रियं-सुखम्) पञ्चेन्द्रियों के सुख को (सम्यक्) अच्छी तरह (भुञ्जानस्य) भोगने वाले (अस्य) इस जिनदत्त के (दिनानि) दिन (सुरालये) देवलोक में (सुरस्य इव) देव के समान (यान्ति) व्यतीत होने लगे ।

उद्यान-दीर्घिकाशाल-शोभितानि पदे पदे ।
अकारयच्च चित्राणि मन्दिराणि जिनेशिनाम् ॥१३॥

अन्वयार्थ–(च) और उसने (पदे-पदे) स्थान-स्थान पर (उद्यानदीर्घिका-शालशोभितानि)

और वहाँ से आकर मूर्तिमान कामदेव सदृश स्वरूप वाले कुमार जिनदत्त ने इच्छानुसार दीन-अनाथ याचकों को धन दिया ॥९॥

वसंतपुर के नृपति चंद्रशेखर ने जब इनकी लोगों के मुख से प्रशंसा सुनी, तो उसने भी इनका खूब आदर-सत्कार किया और अन्य जनों ने भी यथायोग्य उनका सम्मान किया ॥१०॥

इस प्रकार माता-पिता आदि के आनंद को उत्पन्न कर उसने समय के अनुसार पूँछने पर अपने सम्पूर्ण चरित्र को कहा ॥११॥

वहाँ पर निरन्तर पञ्च इन्द्रियों के सुख को अच्छी तरह भोगने वाले इस जिनदत्त के दिन देवलोक में देव के समान व्यतीत होने लगे ॥१२॥

और उस जिनदत्त ने स्थान-स्थान पर बगीचा, वापिका और कोट से सुशोभित जिनेन्द्र भगवान

बगीचा वापिका और कोट से सुशोभित (चित्राणि) चित्र-विचित्र रचना से युक्त (जिनेशिनाम्) जिनेन्द्र भगवान के (मन्दिराणि) मन्दिरों को (अकारयत्) किया/करवाया/बनवाया।

सारं श्रावकधर्म्मस्य विततार यथाविधि।
चतुर्विधस्य-सङ्घस्य दानमेष चतुर्विधम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(एषः) इसने (श्रावक-धर्म्मस्य) श्रावक धर्म के (सारं) साररूप (चतुर्विधस्य) चार प्रकार के (संघस्य) संघ के लिए (चतुर्विधम्) चारों प्रकार के (दानम्) दान को (यथाविधि) विधिपूर्वक (विततार) वितरण किया/दिया।

सप्रार्चनः प्रयातिस्म पर्वणां च चतुष्टये।
इष्टं जनं समादा वन्दितुं जिनपुङ्गवान् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(च) और (सः) वह (पर्वणां चतुष्टये) दो अष्टमी व दो चतुर्दशी इन चार पर्वों में (इष्टं जनं) इष्टजनों को (समादाय) साथ में लेकर (जिनपुङ्गवान्) जिन श्रेष्ठों तीर्थङ्करों की (प्रार्चनः) प्रकृष्ट पूजा सहित (वन्दितुं) वंदना के लिए (प्रयातिस्म) जाता था।

पञ्चकल्याणभूभागान् मेरूं कुलशिलोच्चयान्।
एति चानम्य भक्त्यासौ चारणर्षियतीश्वरान् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(असौ) यह जिनदत्त (भक्त्या) अत्यंत भक्ति से (पञ्चकल्याण-भू-भागान्) पञ्च कल्याणक भूमियों के प्रदेशों (मेरून्) सुमेरुपर्वतों (कुलशिलोच्यान्) कुलाचल पर्वतों के समूह को (च) और (चारणर्षियतीश्वरान्) चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वरों की (आनम्य) नमन/वंदना करने को (एति) जाता था।

तथातिशयसम्पन्नं दृष्ट्वा जनपदोऽप्यसौ।
तं बभूव समस्तोऽपि जिनधर्मपरायणः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(तं) उसको (तथातिशयसम्पन्नं) उस तरह धर्म के अतिशय से युक्त (दृष्ट्वा) देखकर (असौ) यह (समस्तः) सभी (जनपदः) जनपद/देशवासी (अपि) भी (जिनधर्मपरायणः) जिनधर्म में तत्पर (बभूव) हो गया।

के चित्र-विचित्र रचना से युक्त मन्दिरों को बनवाया ॥१३॥

जिनदत्त ने श्रावक धर्म के सारभूत, चारों प्रकार के दान को विधिपूर्वक चार प्रकार के संघ में दिया ॥१४॥

तथा वह दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्वों में इष्टजनों के साथ जिन-श्रेष्ठों/जिनवरों की उत्कृष्ट पूजा सहित वंदना के लिए जाता था ॥१५॥

अत्यंत प्रगाढ़ भक्ति से पञ्च कल्याणक-भूमियों की वंदना, मेरु, कुलपर्वत आदि पर जाकर चारण ऋषीश्वरादि की वंदना करने जाता था ॥१६॥

जिनदत्त के इस तरह धार्मिक कृत्यों के करने से अन्य समस्त नगर निवासियों पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता था, वे इनके धनाढ्य होने पर भी, प्रबल धार्मिकभाव को देखकर खूब ही धर्म-ध्यान करने में दृढ़ हो जाते थे ॥१७॥

गजाश्व-रथ-धेनूना-मन्यासा-मपि सम्पदाम् ।
जाता संख्या गृहेनास्य वीचीनामिव सागरे ॥१८॥

अन्वयार्थ–(गजाश्व-रथ-धेनूनाम्) हाथी, घोड़ा, रथ और गायों की (अन्यासाम् सम्पदाम् अपि) अन्य संपदाओं की भी (अस्य गृहे) इसके घर में (सागरे) समुद्र में (वीचीनां इव) लहरों के समान (संख्या न जाता) संख्या नहीं हो सकती थी अर्थात् उसके घर में अपार संपदा थी ।

ऋतवोऽपि वसन्ताद्याः सकान्तस्य यथोचितम् ।
भुञ्जानस्य प्रयान्त्यस्य सुखं शारीरमानसम् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(सकान्तस्य) पत्नियों के साथ (यथोचितं) यथायोग्य अनुकूल (शारीरमानसम्) शारीरिक और मानसिक (सुखं) सुख को (भुञ्जानस्य) भोगने वाले (अस्य) इस जिनदत्त के (वसन्ताद्याः) वसन्त आदि (ऋतवः अपि) ऋतुएँ भी (प्रयान्ति) व्यतीत होती थीं ।

सुदत्तजयदत्ताख्यौ विमलादिमतिः सुतौ ।
वसन्तलेखया सार्धं सुप्रभं श्रीमती तथा ॥२०॥
सुकेतुं जयकेतुं च केतुं गरुडपूर्वकम् ।
खगाधीशतनूजा च विजयादिमतिं सुताम् ॥२१॥
सुमित्रं जयमित्रं च वसुमित्रं नृपात्मजा ।
प्राप पुत्रान्तुरीयाश्च पुत्रीं नाम्ना प्रभावतीम् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(विमलादिमतीः) विमलमति ने (सुदत्तजयदत्ताख्यौ) सुदत्त और जयदत्त नामक (सुतौ) दो पुत्रों को (तथा) और (श्रीमती) श्रीमति ने (वसन्तलेखया सार्धं) वसन्तलेखा पुत्री के साथ (सुप्रभं) सुप्रभ पुत्र को (च) और (खगाधीश-तनूजा) विद्याधर राजा की पुत्री शृंगारमती ने (सुकेतुं) सुकेतु (जयकेतुं) जयकेतु और (गरुडपूर्वकं केतुं) गरुड़केतु को (च) तथा (विजयादिमतिं) विजयमति (सुतां) पुत्री को (च) और (तुरीयां) चौथी (नृपात्मजा) राजपुत्री विलासमति ने (सुमित्रं) सुमित्र (जयमित्रं) जयमित्र (च) और (वसुमित्रं) वसुमित्र (पुत्रान्) पुत्रों को (अथ) और (प्रभावतीम्) प्रभावती (नाम्ना) नाम की (पुत्रीं) पुत्री को (प्राप) प्राप्त किया ।

धर्म के प्रभाव से, जिनदत्त के हाथी, घोड़ा, रथ, गाय, सोना, चाँदी आदि सब प्रकार की संपत्ति यथेष्ट हो गई थी । जिस प्रकार समुद्र में तरंगों का पता नहीं लगता कि कितनी आईं और कितनी गईं ? उसी प्रकार जिनदत्त के संपत्तियों की गिनती न थी ॥१८॥

अपने प्रियतमाओं के साथ भोगविलास करने वाले उस जिनदत्त की वसन्तादि ऋतुएँ भी अनूकूल हो गईं । उसका शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार के सुखानुभव पूर्वक समय व्यतीत होने लगा ॥१९॥

इनके पहली स्त्री विमलमति से सुदत्त और जयदत्त पुत्र, श्रीमती से बसंतलेखा पुत्री और सुप्रभ पुत्र, विद्याधर राजपुत्री शृंगारमती से विजयमती सुपुत्री व सुकेतु, जयकेतु एवं गरुड़केतु तीन पुत्र तथा चंपानगरी के महाराजा की पुत्री विलासमती से सुमित्र, जयमित्र, वसुमित्र तीन पुत्र एवं प्रभावती नाम की पुत्री उत्पन्न हुई, इस तरह कुल मिलाकर इनके नौ पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ थीं ॥२०,२१,२२॥

कारितश्च समस्तानां जन्म-नाम-परीणयः ।
तथा महोत्सवस्तेन यथा लोकः सुविस्मितः ॥२३॥

अन्वयार्थ–(च) और (तेन) उस जिनदत्त के द्वारा (समस्तानां) सभी पुत्र-पुत्रियों के (जन्मनामपरीणयः(ये)) जन्म, नामकरण और विवाह (महोत्सवः) महोत्सव (तथा) उस प्रकार (कारितः) कराए (यथा) जिससे (लोकः) लोग (सुविस्मितः) आश्चर्य में पड़ गए ।

एवं वर्द्धयतस्तस्य त्रिवर्गोद्दामपादपम् ।
कालः कोऽपि जगामास्य मग्नस्य सुखसागरे॥२४॥

अन्वयार्थ–(एवं) इस प्रकार (तस्य) उसका (त्रिवर्गोद्दामपादपम्) त्रिवर्ग/धर्म, अर्थ और कामरूप श्रेष्ठ वृक्ष को (वर्द्धयतः) बढ़ाते हुए (सुखसागरे) सुखरूपी सागर में (मग्नस्य) मग्न रहने वाले (अस्य) इस जिनदत्त का (कः अपि) कुछ (कालः) समय (जगाम) बीत गया ।

अन्यदासौ पुरस्कृत्य सर्वर्त्तुकुसुममादिकम् ।
विज्ञप्तो वनपालेन सभामध्यव्यवस्थितः ॥२५॥

अन्वयार्थ–(अन्यदा) अन्य समय (असौ) यह (सभामध्ये) सभा के बीच में (व्यवस्थितः) बैठा था (वनपालेन) वनपाल ने (सर्वर्त्तुकुसुमादिकम्) सभी ऋतुओं के फल-फूल आदि को (पुरस्कृत्य) भेंटकर (विज्ञप्तः) सूचित किया/सूचना दी ।

शृङ्गार-तिलकोद्याने प्रातरद्य समागतः ।
दधत्समाधिगुप्ताख्यां चतुर्ज्ञानी मुनीश्वरः ॥२६॥

अन्वयार्थ–(अद्य) आज (प्रातः) सुबह (शृङ्गारतिलकोद्याने) शृङ्गारतिलक उद्यान में (समाधि-गुप्तख्यां दधत्) समाधिगुप्त नाम को धारण करते हुए (चतुर्ज्ञानी) मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय इन चारों ज्ञानों के धारक (मुनीश्वरः) मुनियों के स्वामी (समागतः) आये हुए हैं ।

ऋतवस्तस्य भक्त्यैव यौगपद्या-दुपागताः ।
पुष्पाभरण-मग्राहि[1] दृष्ट्वैव च वनश्रिया ॥२७॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उन मुनीश्वर की (भक्त्या एव) भक्ति से ही मानों (ऋतवः) सभी ऋतुएँ

एवं उसने सबके यथायोग्य रीति से अपनी अवस्थानुसार ठाट-बाट से जन्मोत्सव, नामकरण और विवाह आदि उत्सव कराये थे ॥२३॥ इस तरह धर्म, अर्थ और काम तीनों को समान रीति से पालते हुए जिनदत्त का समय बीत रहा था ॥२४॥ एक दिन जिनदत्त राजसभा के मध्य में बैठे हुए थे । उसी समय वनपाल ने सभी ऋतुओं के फल-फूल आदि को भेंटकर सूचना दी ॥२५॥

हे श्रेष्ठिन् ! बड़े ही आनंद और उत्सव की बात है कि आज प्रातःकाल मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञान के धारक समाधिगुप्त नाम के मुनि महाराज, हमारे शृङ्गारतिलक नाम के बगीचे में पधारे हैं ॥२६॥ और उनके प्रभाव से उनकी सेवा करने के लिए ही मानों वहाँ छहों ऋतुएँ

१. गृहीतम् ।

(यौगपद्यात्) एक साथ (उपागताः) आ गईं (च) और (वनश्रिया) वनरूपी लक्ष्मी ने उन मुनिराज को (दृष्ट्वा एव) देखकर ही मानों (पुष्पाभरणं अग्राहि) पुष्परूपी आभरणों को ग्रहण किया ।

सरस्योऽप्यभवँस्तत्र विकचाम्भोज-लोचनाः ।
जडाशयोऽपि को नाम नोल्लासि मुनिदर्शनात् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (मुनिदर्शनात्) मुनिवर के दर्शन से (सरस्यः अपि) तालाब भी (विकचाम्भोज-लोचनाः) विकसित कमलरूप लोचन वाले (अभवन्) हो गए (को नाम) ऐसा कौन (जडाशयः अपि) मूर्ख बुद्धि मनुष्य अथवा जलाशय है जो (नोल्लासी) उल्लसित ना हुआ हो ।

मञ्जुगुञ्जदलिव्रातो भ्राम्यँस्तत्र विराजते ।
निर्गच्छन्निव तद्भीत्या पापपुञ्जो रुदन् वनात् ॥२९॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ उद्यान में (मञ्जुगुञ्जदलिव्रातः) सुन्दर गुञ्जार शब्द करता हुआ भौरों का समूह (भ्राम्यन्) इधर-उधर घूमता हुआ (विराजते) सुशोभित हो रहा है (तद्भीत्या) उन मुनिराज के भय से ही मानों (वनात्) वन से (निर्गच्छत् इव) बाहर निकलते हुए के समान (रुदन्) रोता हुआ (पाप-पुञ्जः) पाप का समूह ही हो ।

आश्रित्य सहकाराणां शाखाः प्रत्यग्रमञ्जरीः ।
भव्याँस्तत्राह्वयन्तीव कोकिलाः कलनिस्वनाः ॥३०॥

अन्वयार्थ–(सहकाराणां) आम्र वृक्षों की (शाखाः) शाखाएँ (प्रत्यग्रमञ्जरीः) नवीन प्रशाखाओं का (आश्रित्य) आश्रय कर [बैठकर] (कलनिस्वनाः) कुहु-कुहु की मधुर आवाज करने वाली (कोकिलाः) कोयलें (भव्यान्) भव्यजीवों को (तत्र) वहाँ (आह्वयन्ती इव) बुलाती हुई-सी जान पढ़ती थीं ।

तत्रावकेशिनो[१]ऽप्याशु फलपुष्पचिता विभो ।
वर्त्तते सर्वसामान्यं तादृशानां हि चेष्टितम् ॥३१॥

अन्वयार्थ–(विभो) हे स्वामिन् (तत्र) वहाँ पर (अवकेशिनः अपि) फल-फूल से रहित वृक्ष

आ उपस्थित हुईं, जिससे कि असमय में ही समस्त वृक्ष फल-फूलों से लद गए ॥२७॥ हे कुमार ! वहाँ पर मुनिवर के दर्शन से तालाब भी विकसित कमलरूपी नेत्रों को धारण करने वाले हो गए हैं, तो फिर मूर्ख बुद्धि कौन ऐसा है जो मुनि के दर्शन से आनंदित न हो ? अर्थात् सभी आनंदित थे ॥२८॥

शब्द कर गुञ्जारते हुए भ्रमर, पुष्पों की सुगंधि के लोभ में इधर-उधर घूम रहे हैं, सो वे मुनिराज के भय से रोकर-भागते हुए पाप सरीखे मालूम पड़ते थे । पाप को काले रंग की उपमा दी जाती है, भ्रमर काले होते हैं। अतः उनको श्रीगुणभद्र देव ने पाप की उपमा दी है ॥२९॥

आम्रवृक्षों के ऊपर नवीन मञ्जरी के आ जाने से उसके भक्षण करने से मत्त हुई कोकिलायें जो मधुर शब्द करती हैं, वे मुनिदर्शन के लिये भव्यों को बुलाते हुए के समान मालूम पड़ती थीं ॥३०॥

जो वृक्ष लताएँ बन्ध्या थीं, जिनपर कभी आज तक फल-फूल न आये थे, वे भी आज मुनि-पति

---

१. वन्ध्याः ।

लतायें भी (आशु) शीघ्र (फलपुष्पचिता) फल-पुष्पों से व्याप्त हो गईं (हि) क्योंकि (तादृशानां) वैसे महापुरुषों की (चेष्टितम्) चैष्टाएँ (सर्वसामान्यं) सबका भला करने वालीं (वर्तत्ते) होतीं हैं।

मन्दगन्धवहोद्भूता नृत्यन्ति कुसुमाञ्जलिम्।
प्रक्षिप्येव लतास्तत्र तदानन्देऽङ्गनोचिताम्॥३२॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (तदानन्दे) उस आनंद में यानी मुनिराज के आगमन की खुशी में (अङ्गनोचिताम्) स्त्रियों के योग्य हाव-भाव अङ्गचालन आदि पूर्वक (मन्द-गन्धवहोद्भूता) मंद सुगन्धित वायु से उत्पन्न (कुसुमाञ्जलिम्) फूलों की अंजुली को (प्रक्षिप्येव) बिखेर कर ही मानो (लताः) लताएँ (नृत्यन्ति) नाच रही हों।

वाति प्रभञ्जनस्तत्र[1] मानिनीमानभञ्जनः।
तादृशस्य प्रभोः सङ्गे तथा किं नोपजायते॥३३॥

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (मानिनीमानभञ्जनः) स्त्रियों के मान को खण्डित करने वाली (प्रभञ्जनः) वायु (वाति) बहती है (तादृशस्य) उस तरह के विवक्षित वीतरागी (प्रभोः) मुनिराज के (सङ्गे) सान्निध्य में (तथा) उस तरह स्त्रियों का मान भंजन/खण्डन (किं नोपजायते) क्यों नहीं होगा अर्थात् होगा ही ?

आसते यतयस्तत्र विविधर्द्धि-विराजिताः।
धर्माः समूर्त्तयो मन्ये भव्यपुण्याय ते तथा॥३४॥

अन्वयार्थ–(मन्ये) मैं मानता हूँ कि (तत्र) वहाँ पर (विविधर्द्धिविराजिताः) अनेक ऋद्धियों से सुशोभित (यतयः) यतिगण (समूर्त्तयः धर्माः) मूर्तिमान साक्षात् धर्म ही हैं (ते) वे (भव्य-पुण्याय) भव्यजीवों के पुण्य के लिए (तथा) उस प्रकार यहाँ (आसते) विराजमान/पधारे हैं।

अपायुस्तत्क्षणादेव[2] सर्वपापानि पश्यताम्।
सक्ताः संयमिनः शश्वत् स्वाध्यायध्यानकर्मणि॥३५॥

अन्वयार्थ–(शश्वत्) निरंतर (स्वाध्यायध्यानकर्मणि) स्वाध्याय तथा ध्यान कर्म में (सक्ताः)

के माहात्म्य से फल-पुष्पों से व्याप्त दीख रहीं हैं, क्योंकि महापुरुषों की चेष्टाएँ सबका हित करने वाली होती हैं॥३१॥ जिस प्रकार बड़े भारी आनंद में आकर स्त्रियाँ अपने हाव-भाव, अङ्गचालन आदि पूर्वक नृत्य करती हैं, उसी प्रकार उस उद्यान की लताएँ भी मंद सुगंध पवन से प्रेरित हो, मुनि दर्शन के आनंद से भरे हुए के समान अपनी कुसुमाञ्जलि को बिखेर कर नृत्य उत्सव करती हुईं-सी मालूम पड़ती थीं॥३२॥ हे नाथ ! स्त्रियों का मान भञ्जन करने वाली वायु बह रही है इस प्रकार के एकदेश वीतरागी मुनिराज का सम्पर्क प्राप्तकर पवन, नारी जनों के मान कषाय को नष्ट करने वाली क्यों न होगी ? हो ही गई॥३३॥ वहाँ अनेक ऋद्धिधारी ऋषिराज विराजमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो धर्म ही साक्षात् मूर्तिमान होकर आया हो, ऐसे वे, भव्यजीवों के पुण्य के लिए ही इस प्रकार यहाँ पधारे हैं॥३४॥ निरंतर ध्यान, स्वाध्याय में संलग्न उन संयमियों का दर्शन, दर्शन करने

१. वायुः। २. जग्मुः।

संलग्न (संयमिनः) संयमी मुनिराज (पश्यताम्) दर्शन करने वालों के (सर्वपापानि) सभी पापों को (तत्क्षणात् एव) उस क्षण में ही (अपायुः) चले जाते हैं/नष्ट हो जाते हैं।

निशम्य तं प्रदायास्मै प्रसादं मुदितस्ततः।
ननाम तां दिशं गत्वा भक्त्या सप्तपदानि सः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(तं) उन मुनिराज के आगमन के समाचार को (निशम्य) सुनकर (मुदितः) प्रसन्न होते हुए जिनदत्त ने (अस्मै) इस वनपाल के लिए (प्रसादं) पुरस्कार को (प्रदाय) देकर (ततः) उसके बाद (सः) उसने (तां दिशं) उस दिशा की ओर लक्ष्य कर (सप्तपदानि) सात कदम (गत्वा) जाकर (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (ननाम) परोक्ष नमस्कार किया।

सकान्तो मिलिताशेष-बन्धुलोकपरिच्छदः।
तत्कालोचितयानेन वन्दनायै चचाल सः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(मिलिताशेष-बन्धुलोक-परिच्छदः) सम्मिलित सभी बन्धुजन और नौकर-चाकर, परिजन, पुरजन व (सकान्तः) पत्नियों सहित (सः) वह जिनदत्त (तत्कालोचित-यानेन) उस समय के योग्य सवारी के द्वारा मुनि (वन्दनायै) वंदना के लिए (चचाल) चला।

उत्तीर्य दूरतो यानाद् विवेशासौ वनान्तरम्।
कूजद्विहङ्गमाराव[1] - विहितस्वागत-क्रियम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(कूजद्विहङ्ग-माराव-विहितस्वागत-क्रियम्) कूजते हुए पक्षियों के कलरव से की गई है स्वागत की क्रिया जिसकी ऐसा (असौ) यह जिनदत्त (यानात्) यान से (दूरतः) दूर से ही (उत्तीर्य) उतर कर (वनान्तरम्) वन के भीतर (विवेश) प्रविष्ट हुआ।

प्रदेशं स ततः प्राप यत्रास्ते यतिनायकः।
आसीनोऽशोकवृक्षस्य मूलेऽमलशिलातले ॥३९॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (सः) वह (प्रदेशं) उस प्रदेश को (प्राप) प्राप्त हुआ (यत्र)

वाले भव्यजीवों के पाप समूह को तत्काल नष्ट करता था ॥३५॥

इस प्रकार वनपाल के मुख से, चार ज्ञान के धारक समाधिगुप्त मुनि महाराज के आगमन का वृत्तांत सुनकर, जिनदत्त को अपार हर्ष हुआ और अपने आसन से उठकर जिस दिशा में मुनि महाराज विराजमान थे, उसी दिशा में सात कदम जाकर उन्हें भक्ति भाव से परोक्ष नमस्कार किया तथा उस वनपाल के लिए पुरस्कार दिया ॥३६॥

इसके बाद जिनदत्त अपने भाई-बंधुओं व पत्नियों के साथ-साथ, उस समय के योग्य वाहन में सवार हो शृङ्गारतिलक बगीचे की ओर मुनिदर्शन के लिए चले ॥३७॥

जिस समय उद्यान, थोड़ी दूर रह गया तो जिनदत्त और उनके साथी विनय से नम्र हो अपनी-अपनी सवारियों से उतरे और वहाँ से पैदल ही उद्यान में प्रवेश किया। उस समय पक्षीगण मनोरम स्वर में कूज रहे थे मानों उनका स्वागत गीत ही गा रहे हों ॥३८॥

तत्पश्चात् शीघ्र ही वह उस प्रदेश में पहुँचा, जहाँ मुनिनायक अशोक वृक्ष के नीचे स्वच्छ-निर्मल

---

१. शब्दैः कृतसत्क्रियम्।

जहाँ पर (यतिनायकः) गणनायक मुनिराज (अशोकवृक्षस्य) अशोक वृक्ष के (मूले) नीचे (अमलशिलातले) निर्मल शिला तल पर (आसीनः) बैठ हुए (आस्ते) थे।

त्रिःपरीत्य ततः स्तुत्वा तमन्यांश्च यतीश्वरान्।
विनीतात्मा यथास्थानं निविष्टोऽसौ कृताञ्जलिः ॥४०॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (तं) उन मुनिराज की (त्रिःपरीत्य) तीन परिक्रमा कर (स्तुत्वा) स्तुति कर (च) और (अन्यान्) अन्य (यतीश्वरान्) यतीश्वरों को नमस्कार, स्तुति, वंदन आदि कर (विनीतात्मा) विनय स्वभाव वाला (असौ) यह जिनदत्त (कृताञ्जलिः) दोनों हाथों को जोड़कर (यथास्थानं) यथास्थान (निविष्टः) बैठ गया।

पुण्यांकुरैरिवाशेषां कुर्वन् विच्छुरितां सभाम्।
धर्मवृद्धिं बभाणासौ यतीशो दशनांशुभिः ॥४१॥

अन्वयार्थ–(पुण्यांकुरैः) पुण्यरूपी अङ्कुरों के (इव) समान (असौ यतीशः) उन मुनिराज ने (दशनांशुभिः) दाँतों की किरणों के द्वारा (अशेषां) सम्पूर्ण (सभाम्) सभा को (विच्छुरितां कुर्वन्) व्याप्त करते हुए (धर्मवृद्धिं) धर्म वृद्धि रूप आशीर्वाद को (बभाण) कहा।

ततोऽवादीदयं भक्ति-नम्रमूर्त्तिर्मुनीश्वरम्।
मादृशां मुग्धबुद्धीनां दुर्लभं तव दर्शनम् ॥४२॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (भक्तिनम्रमूर्त्तिः) भक्ति से नम्रीभूत शरीर वाला (अयं) यह जिनदत्त (मुनीश्वरम्) मुनीश्वर को (अवादीत्) बोला (मादृशां) मेरे जैसे (मुग्धबुद्धीनां) मोहित बुद्धि वालों को (तव) आपका (दर्शनम्) दर्शन (दुर्लभं) दुर्लभ है।

तावदेव जगन्नाथ मोहान्धतमसावृतम्।
विचरन्ति न ते यावद्भानोरिव वचोंऽशवः ॥४३॥

अन्वयार्थ–(जगन्नाथ!) हे जगत् के स्वामिन्! यह जीव (तावत् एव) तब तक ही (मोहान्धतमसावृतम्) मोहरूपी अंधकार से व्याप्त है (यावत्) जब तक कि (भानोः इव) सूर्य के समान (ते) आपकी (वचः अंशवः) वचनरूपी किरणें (न विचरन्ति) नहीं फैलती हैं।

प्रासुक शिला तल पर विराजमान थे ॥३९॥ उनके समीप पहुँचकर जिनदत्त ने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, भक्ति भाव से स्तुति पढ़ी और यथाक्रम से अन्य सभी मुनिराजों को नमस्कार कर वह विनीतात्मा जिनदत्त, दोनों हाथ जोड़कर यथास्थान बैठ गया ॥४०॥ जिनदत्त और उनके साथियों को आया देख उनके नमस्कारादि कर चुकने के बाद, मुनि महाराज ने भी पुण्याङ्कुर के समान अपनी दाँतों की किरणों से सभा को व्याप्त करते हुए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया ॥४१॥ इस प्रकार जब समस्त परस्पर का कर्त्तव्य हो चुका, तो जिनदत्त ने भक्ति-भाव से नम्र होकर कहा-हे प्रभु! मेरे जैसे मुग्ध-मन्द बुद्धि वालों को आपका दर्शन अति दुर्लभ है ॥४२॥ तो भी हे जगत् के नायक! जीव तब तक ही मोहरूपी अंधकार से व्याप्त हैं, जब तक कि आपके वचनरूपी सूर्य की किरणें उन्हें प्राप्त नहीं होतीं ॥४३॥

भवान्धकूपसम्पाति विश्वमाशु भवत्यदः।
भवादृशा न चेत्सन्ति रत्नदीपास्तमश्छिदः ॥४४॥

अन्वयार्थ–(चेत्) यदि (भवादृशाः) आप जैसे (तमच्छिदः) अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाले मनुष्यरूपी (रत्नदीपाः) रत्नदीपक (न सन्ति) न हों तो (अदः) यह (विश्वं) सारा संसार (आसु) शीघ्र ही (भवान्धकूपसम्पाति) संसाररूपी अंधकूप में गिरने वाला (भवति) हो जाये।

विषयाशाहुताशेन दह्यमाने जगद्वने।
उदभूद्भव्यपुण्येन सुधामेघो भवानिह ॥४५॥

अन्वयार्थ–(विषायाशाहुताशेन) विषयों की आशारूपी अग्नि से (जगद्वने) जगतरूपी जंगल के (दह्यमाने) जलने पर (इह) इसलोक में (भव्यपुण्येन) भव्यों के पुण्य से (भवान्) आप (सुधामेघः) अमृत को बरसाने वाले बादल (उदभूत्) प्रगट हुए हैं।

त्वत्पादपद्मसङ्गेऽपि यस्तत्त्वं नावबुध्यते।
मन्दभाग्यः समुद्रेऽपि शंखकानां स भाजनम् ॥४६॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (त्वत्पादपद्मसङ्गे अपि) आपके चरण कमलों की संगति में भी (तत्त्वं) तत्व को (न अवबुध्यते) नहीं जानता (सः) वह (मन्दभाग्यः) मन्दभागी/भाग्यहीन (समुद्रे अपि) समुद्र में भी (शंखकानां) रत्नों को छोड़कर शंख-शुक्ति/सीप आदि का (भाजनम्) पात्र होता है।

सूर्याचन्द्रमसौ यत्र करप्रसरवर्जितौ।
ज्ञानाख्यं तव तत्रापि, चक्षुः प्रतिहतं न हि ॥४७॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (करप्रसरवर्जितौ) किरणों के प्रसार से रहित होते हैं (तत्रापि) वहाँ पर भी (तव) आपका (ज्ञानाख्यं) ज्ञान नामक (चक्षुः) नेत्र (हि) नियमरूप से (प्रतिहतं) बाधित (न) नहीं होता।

यदि आप सरीखे सर्वथा मूढ़ता के नाशक देदीप्यमान रत्नदीपक इस मोहपूर्ण संसार में नहीं हों, तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि समस्त ही प्राणी जन्म-मरण रूप अंधे कुंए में गिरकर अपने प्राण गँवा बैठे ॥४४॥

इन्द्रिय विषयों के भोगने की लालसारूप अग्नि से निरंतर जलने वाले, इस संसार में आप सरीखे धर्मरूपी अमृत बरसाने वाले मुनि-मेघों का भव्यों के पुण्य प्रताप से ही उदय होता है ॥४५॥

जो मनुष्य आपके पवित्र चरण कमलों की एक बार संगति पाकर भी संसार के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता, वह मंदभाग्य/मूढ़ रत्नों के खजानेरूप समुद्र के पास जाकर भी रत्नों को ग्रहण न कर शंख, सीप आदि को ही ग्रहण करता है ॥४६॥

हे देव! जिस जगह सूर्य और चंद्रमा की तीक्ष्ण किरणें प्रविष्ट हो अंधकार दूर कर पदार्थ को दिखा नहीं सकतीं, वहाँ पर भी आपका ज्ञान-चक्षु अपने प्रभाव से पदार्थों को देखता है ॥४७॥

अतः प्रसादतो नाथ ! भवतां भवभेदिनाम् ।
शुश्रूषति[1] मनः किञ्चिज्जन्मान्तरगतं मम ॥४८॥

अन्वयार्थ–(अतः) इसलिए (नाथ) हे स्वामिन् ! (भवभेदिनाम्) संसार का भेदन करने वाले (भवतां) आपके (प्रसादतः) प्रसाद से (मम मनः) मेरा मन (किंञ्चित्) कुछ (जन्मान्तरगतं) पूर्वभवों को (शुश्रूषति) सुनना चाहता है ।

कर्मणा केन योगीन्द्र ! प्राप्तं सौख्यं परं ततः ।
परम्परामनर्थानां ततश्च सकलाः श्रियः ॥४९॥

अन्वयार्थ–(योगीन्द्र !) हे योगीश्वर ! (केन कर्मणा) किस कर्म से (परं) उत्कृष्ट (सौख्यं) सुख को (ततः) उसके बाद (अनर्थानां) अनर्थों/कष्टों की (पराम्परां) परम्परा को (च) और (ततः) उसके बाद (सकलाः) सम्पूर्ण (श्रियः) लक्ष्मी (प्राप्तं) प्राप्त हुई ।

संयोगश्च जगद्वन्द्य ! कथमासां चतसृणाम् ।
अत्यन्तदूरजातानां नायिकानां ममाभवत् ॥५०॥

अन्वयार्थ–(च) और (जगद्वन्द्य !) हे जगत् के द्वारा वंदनीय (अत्यन्तदूरजातानां) अत्यंत दूर उत्पन्न होने वाली (आसाम्) इन (चतसृणाम्) चारों (नायिकानां) नायिकाओं [पत्नियों] का (मम) मेरा (संयोगः) संयोग (कथं) कैसे (अभवत्) हुआ ?

निशम्येति वचस्तस्य प्रोवाच यतिसत्तमः ।
सावधानो महाभव्य वर्ण्यमानं मया शृणु ॥५१॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस जिनदत्त के (इति) इस प्रकार (वचः) वचन को (निशम्य) सुनकर (यति-सत्तमः) यति श्रेष्ठ (प्रोवाच) बोले (महाभव्य !) हे महाभव्य ! (मया) मेरे द्वारा (वर्ण्यमानं) वर्णन किए जाने वाले वृत्त को (सावधानः) सावधानी पूर्वक (शृणु) सुनो ।

सुखाभासाभिरामाणि दुःखान्येव हि भुञ्जताम् ।
कर्मजालनिबद्धानां यानि जन्मानि देहिनाम् ॥५२॥

अन्वयार्थ–(कर्मजालनिबद्धानां) कर्म के जंजाल से बंधे हुए (देहिनाम्) शरीर धारियों के

इसलिए हे नाथ ! संसार समुद्र के पार कराने वाली आपकी कृपा से, मैं अपने कुछ पूर्वभवों का वृत्तांत सुनना चाहता हूँ ॥४८॥ हे योगीन्द्र ! मैंने किस कर्म के द्वारा तो अपार संपत्ति पा, सुख भोगा, और किस कर्म द्वारा विपत्तियां झेलीं और उसके बाद सम्पूर्ण लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥४९॥ और हे जगत् वन्द्य ! इन चारों अनिंद्य सुन्दरियों का संयोग किस कारण से मिला है ? यद्यपि ये अत्यंत दूर देश में उत्पन्न हुई हैं ? फिर भी मुझे वह दूरी अधिक न होकर मैं स्वयं वहाँ पहुँच गया और अनायास ही संयोग हो गया । इसका क्या कारण है ? ॥५०॥ इस प्रकार जिनदत्त द्वारा अपने भवान्तर पूछे जाने पर, वे मुनियों के शिरोमणि आचार्य इस प्रकार बोले, हे भद्र ! यदि तुम्हें सुनना है, तो सावधान हो जाओ । मैं जो पूर्वभव का वृतान्त वर्णन करूँ, उसे एकाग्र होकर सुनो ॥५१॥ यह कर्मबद्ध जीव

---

१. श्रोतुमिच्छति ।

(यानि) जो (जन्मानि) जन्म/भव हैं वे (हि) नियम से (सुखाभासाभिरामाणि) सुखाभास से सुंदर लगने वाले (दुःखानि) दुखरूप (एव) ही (भुञ्जताम्) भोगे जाते हैं।

अनादिकालतोऽनादि-संसारे परिवर्तनाम्।
जानात्येव जिनस्तानि संख्यातुं न पुनः क्षमः ॥५३॥

अन्वयार्थ—(अनादिसंसारे) अनादिकालीन संसार में (अनादिकालतः) अनादिकाल से (परिवर्तनाम्) परिवर्तनों को (जिनः एव) जिनेन्द्र भगवान ही (जानाति) जानते हैं (पुनः) किन्तु हम (तानि) उनको (संख्यातुं) गिनाने के लिए (क्षमः) सक्षम (न) नहीं हैं।

अतोऽनन्तरमेवाहं भवं तव वदाम्यहो।
यत्तत्रैव चिराद्भद्र! भवतो हितसम्भवः ॥५४॥

अन्वयार्थ—(अहो) अहो! (अतः) इसलिए (अहं) मैं (तव) तुम्हारे (अनन्तरं एव) अन्तर से रहित इससे पहले के ही (भवं) भव को (वदामि) कहता हूँ (भद्र!) हे भद्र! (यत्) जो (तत्रैव) उसमें ही (भवतः) तुम्हारा (चिरात्) चिरस्थायी (हितसंभवः) हित होगा।

अस्त्यत्र भरतक्षेत्रे देशोऽवन्तिः स्वशोभया।
सस्पृहा मर्त्त्यलोकस्य कृतायेन सुरा अपि ॥५५॥

अन्वयार्थ—(मर्त्यलोकस्य) मनुष्य लोक के (भरतक्षेत्रे) भरत क्षेत्र में (अत्र) यहाँ (अवन्तिः देशः) अवन्ति नामक देश है (येन) जिस देश ने (स्वशोभया) अपनी शोभा से (सुराः अपि) देव भी (सस्पृहा) इच्छा सहित (कृता) किए अर्थात् वह नगर इतना सुंदर है कि वहाँ आने के लिए देव भी लालायित रहते हैं।

पतन्ति यत्र शालीनां केदारेषु मधुव्रताः।
मलिनोभयपक्षा हि के[1]दारेषु पराङ्मुखाः ॥५६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ पर (शालीनां) शाली धान्यों की (केदारेषु) क्यारियों में (मधुव्रताः) भौंरे (पतन्ति) पड़ते हैं (हि) क्योंकि (मलिनोभयपक्षा) जिन लोगों के दोनों पक्ष [मातृ-पितृ कुल

इन्द्रियजन्य सुखों को सुख मानता है किन्तु वे सुखाभास हैं, निश्चय से वे दुःख ही हैं। कर्म जाल में बद्ध प्राणियों को जो कुछ सुख-दुःख हैं, वे सब दुखरूप ही हैं। वे क्षण भर को सुख जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु विपाक में दुःख कारक ही हैं ॥५२॥ इस परिवर्तनशील अनादि संसार में अनादिकाल से जीव ने कितने दुख भोगें हैं? उन्हें सर्वज्ञ अरहंत भगवान ही जान सकते हैं किन्तु वे भी उनकी संख्या गिनाने के लिए सक्षम नहीं हैं ॥५३॥ अतः मैं तुम्हारे अनन्तर पूर्वभव को ही कहता हूँ, हे भद्र! उससे ही तुम्हारा हित संभव है ॥५४॥ इसी जम्बूद्वीप की दक्षिण दिशा में जो यह भरतक्षेत्र है, उसमें अपनी शोभा से स्वर्ग को भी लजाने वाला अवन्ति नामक देश है। वहाँ आने के लिए देव भी लालायित रहते हैं ॥५५॥ वहाँ पर भ्रमर, शाली धान्यों की क्यारियों में उनकी सुगंधि से मत्त हो-हो कर पड़ते हैं सो ठीक ही है, जिन लोगों के दोनों पक्ष मातृ-पितृ कुल मलिन/दूषित काले हैं। वे कौन लोग परस्त्रियों से

१.मनिला दारेषु पराङ्मुखा न भवन्ति।

पक्ष] सदोष हैं (के दारेषु) वे कौन लोग स्त्रियों में (पराङ्मुखः) पराङ्मुख होते हैं ?

चक्राङ्किता विराजन्ते राजहंस निषेविताः।
मार्गेषु यत्र पद्माढ्या चक्रिणो वा[1] जलाशयाः ॥५७॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जिस अवन्ति देश में (मार्गेषु) मार्गों में (जलाशयाः) जलाशय/तालाब (चक्रिणः वा) चक्रवर्ती के समान (चक्राङ्किताः) चक्र अस्त्र से सहित तालाब पक्ष में चकवा पक्षी से सहित (राजहंस निषेविताः) चक्री पक्ष में श्रेष्ठ राजाओं से सेवित (तालाब पक्ष में) राजहंस पक्षियों से सेवित (पद्माढ्याः) लक्ष्मी से सहित दूसरे पक्ष में कमलों से सहित (विराजन्ते) सुशोभित होते हैं।

सरसा सदलङ्कारा व्यक्तवर्णव्यवस्थितिः।
प्रसादौजोयुता यत्र कथेव जनता कवेः ॥५८॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (जनता) प्रजा (कवेः) कवि की (कथा इव) कथा के समान (सरसा) रस से सहित जिस प्रकार कवि की कविता श्रृंगार आदि रसों से सरस होती है, उसी प्रकार प्रजा भी सरस आनंद से सहित (सदलङ्कारा) जिस प्रकार कविता अच्छे अलङ्कार; शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार आदि काव्य के अलंकारों से भूषित होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी श्रेष्ठअलंङ्कार/आभूषणों से सुशोभित सुन्दर है (व्यक्तवर्णव्यवस्थितिः) जिस प्रकार कविता वर्णों की स्पष्टता से व्यक्त होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी वर्ण-क्षत्रिय आदि वर्णों की व्यक्त/स्पष्ट स्थिति से सहित थी, (प्रसादौजोयुता) जिस प्रकार कविता प्रसाद, ओज आदि काव्य के गुणों से युक्त रहती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी प्रसन्नता, ओजस्विता आदि गुणों से सर्वदा युक्त रहती थी।

[2]तत्रास्त्युज्ञयिनी नाम नगरी नरसत्तम !।
यथेयं राजते हार-लतयेव वराङ्गना ॥५९॥

अन्वयार्थ–(नर-सत्तम) हे नरोत्तम ! (तत्र) वहाँ उस अवन्ति देश में (यथा) जैसे (वराङ्गना) सौभाग्यवती श्रेष्ठसती स्त्री (हारलतया) हाररूपी लता से (राजते) शोभती है (तथा) वैसे ही (इयं)

पराङ्मुख होते हैं ? अर्थात् नहीं होते ॥५६॥ उस देश में जगह-जगह तालाब हैं और वे चक्रवर्ती सरीखे मालूम पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार चक्री; चक्र-अस्त्र विशेष से शोभित, श्रेष्ठ राजरूपी हंसों से सेवित और लक्ष्मी से सहित होता है, उसी प्रकार वे तालाब भी चकवा-चकवी से सहित, राजहंसों से सेवित और कमलों से सुशोभित होते हैं ॥५७॥ वहाँ की प्रजा श्रेष्ठकवि की कविता के समान गुणवाली है जिस प्रकार कवि की कविता रस से सरस/रसवती होती है, उसी प्रकार प्रजा भी सरस आनंद भोगने वाली थी। जिस प्रकार कविता शब्दालङ्कार प्रभृति काव्य के अलङ्कारों से भूषित होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी श्रेष्ठ-२ अलङ्कार/आभूषणों से विभूषित थी। कविता जिस प्रकार वर्णों की स्पष्टता से व्यक्त होती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी क्षत्रिय आदि वर्णों की व्यक्त स्थिति से सहित और जिस प्रकार कविता प्रसाद, ओज आदि काव्य के गुणों से युक्त रहती है, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा भी प्रसन्नता, तेजस्विता आदि गुणों से सर्वदा युक्त रहती थी ॥५८॥ हे नरोत्तम ! इस अवन्ति देश में

---

१. वा शब्द इवार्थे। २. अवन्तिदेश में उज्ञैनी नगरी के विक्रमधर्म राजा का वर्णन

यह (उज्ञयिनी-नाम-नगरी) उज्जैन नाम की नगरी (अस्ति) शोभायमान है ।

प्राकार-शिखरानद्ध पद्मरागाऽशुभिर्निशि ।
पतितैः खातिकानीरे रथाङ्गा विरहव्यथाम् ।।६०।।
यत्र मुक्तैव जायन्ते सङ्गमाभिमुखा मुदा ।
उदयं दिननाथस्य मन्यमाना इवाभितः ।।६१।।युग्मम्।।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (निशि) रात्रि में (प्राकारशिखरानद्ध-पद्मरागाऽशुभिः) कोट की शिखर पर लगे हुए पद्मरागमणियों की किरणों से (खातिकानीरे) खाई के जल में (पतितैः) गिरने से (मुदा) हर्षपूर्वक (सङ्गमाभिमुखा) संगम के अभिमुख (रथाङ्गा) चकवा-चकवी (विरहव्यथाम्) विरहव्यथा को (अभितः) सब ओर से (दिननाथस्य) सूर्य के (उदयं) उदय को (मन्यमाना इव) मानते हुए के समान (मुक्ता एव) छूट ही (जायन्ते) जाते हैं ।

यत्र प्रासाद-संलग्न-नीलांशु-शवलः शशी ।
मुदे स्वच्छन्दनारीणां जायते निशि सर्वदा ।।६२।।

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (प्रासाद-संलग्ननीलांशुशवलः) प्रसादों/भवनों में लगी हुई नीलमणियों की नीली किरणों से मलिन (शशी) चन्द्रमा (निशि) रात्रि में (सर्वदा) सदा ही (स्वच्छन्द-नारीणां) स्वच्छन्दचारिणी स्त्रियों के (मुदे) हर्ष के लिए (जायते) होता है ।

समग्रवसुधासार-सम्पदां जन्मभूमिका ।
आवासाय कृता धात्रा या नृणां पुण्यशालिनाम् ।।६३।।

अन्वयार्थ–(समग्र-वसुधा-सार-सम्पदां) सम्पूर्ण पृथ्वी की सारभूत संपदाओं की (जन्मभूमिका) जन्मभूमि स्वरूप (या) जो (पुण्यशालिनाम्) पुण्यशाली (नृणां) मनुष्यों के (आवासाय) निवास के लिए ही (धात्रा) विधाता/भाग्य ने (कृता) बनाई थी ।

तत्र विक्रमधर्माख्यो भूपोऽभूद्भवनान्तरम् ।
जगाहे लीलया यस्य यशः पूर्णेन्दुसुन्दरम् ।।६४।।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ पर (विक्रमधर्माख्यः) विक्रमधर्म नामक (भूपः) राजा (अभूत्) था (यस्य) जिसका (पूर्णेन्दुसुन्दरम्) पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुंदर (यशः) यश (लीलया) लीला मात्र

उज्ञयिनी नाम की सुंदर नगरी है । यह हार सहित सुन्दर सती स्त्री की भाँति शोभित होती है ।।५९।।

उसके चारों ओर एक परकोटा और एक खाई है जो कि परकोटे के शिखर में लगे हुए पद्मराग मणिएँ, जो अपनी किरणों की कान्ति से चकवा-चकवियों की विरहव्यथा को सर्वदा हरण किया करते हैं और सूर्य के उदय-अनुदय की उन चकवा-चकवियों को कुछ भी चिंता नहीं करने देते ।।६०,६१।। उस नगरी के प्रासादों में लगी हुई नीलमणियों की कान्ति से मलिन हुआ चंद्रमा सर्वदा ही स्वच्छन्द चारिणी स्त्रियों के हर्ष को करता था ।।६२।। एवं वह नगरी ब्रह्मा/भाग्य द्वारा पुण्यात्मा लोगों के लिए समस्त संपत्तियों की जन्मभूमि सरीखी बनाई गई मालूम पड़ती थी ।।६३।। उस उज्ञयिनी नगरी का एक छत्राधिपति विक्रमधर्म नाम का राजा था, इसका पूर्णिमा के चांद के समान यश, लीला मात्र

से (भुवनान्तरम्) समस्त लोक में (जगाहे) व्याप्त हो गया।

शोभायै केवलं यस्य चातुरङ्गमभूद्बलम्।
प्रतापैनैव यत्सेवां कारिता सकलारयः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(यत् प्रतापेन एव) जिसके प्रताप ने ही (सकलारयः(रिभिः)) सभी शत्रुओं से (सेवां) सेवा (कारिता) कराई अतः (यस्य) जिसकी (चातुरङ्गम् बलं) चतुरंग सेना (केवलं) सिर्फ (शोभायै) शोभा के लिए (अभूत) थी।

पद्मश्रीरभवत्तस्य पद्मेव मधुविद्विषः।
प्रिया प्रकर्षमापन्ना रूपादिगुणगोचरम् ॥६६॥

अन्वयार्थ—(मधुविद्विषः इव) मधुसूदन विष्णु के समान (तस्य) उस राजा के (पद्मा इव) लक्ष्मी के समान (रूपादिगुणगोचरम्) रूपादि गुणों से युक्त (प्रकर्षं आपन्ना) प्रकृष्टता को प्राप्त (पद्मश्रीः) पद्मश्री नाम की (प्रिया) प्रिय रानी (अभवत्) हुई थी।

अथासीद्धनदेवाख्यः श्रीमानत्रैव वाणिजः।
समुद्र इव नीराणां गुणानामधिवासभूः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (इव) जैसे (समुद्रः) समुद्र (नीराणां) पानी का (अधिवासभूः) खजाना होता है वैसे ही वह (अत्र) यहाँ पर (धनदेवाख्यः) धनदेव नामक (श्रीमान्) लक्ष्मीपति (वाणिजः) वणिक/व्यापारी (गुणानाम्) गुणों का (एव) ही (अधिवासभूः) निवास स्थान/खजाना (असीत्) था।

यशोमतिरिति ख्याता कुल-शील-समुज्वला।
बभूव वल्लभा तस्य कुशला गृहकर्मणि ॥६८॥

अन्वयार्थ—(तस्य) उसकी (यशोमतिः इति ख्याता) यशोमति इस नाम से विख्यात/प्रसिद्ध (कुल-शील-समुज्वला) कुल और शील से समुज्वल (गृहकर्मणि) गृहकार्यों में (कुशला वल्लभा) चतुर प्रिय-पत्नी (बभूव) थी।

यथाकालं तया सार्द्धं भुञ्जानस्य निरन्तरम्।
सुखं सुतार्थिनो जातो भवानस्य तनूरुहः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(यथाकालं) समयानुसार (तया सार्द्धं) उस यशोमति के साथ (निरन्तरम्) निरन्तर (सुखं) सुख को (भुञ्जानस्य) भोगने वाले (सुतार्थिनः) पुत्र के इच्छुक (अस्य) इस धनदेव

से समस्त लोक में व्याप्त हो गया ॥६४॥ जिसके प्रताप से ही, शत्रु लोगों के वशीभूत हो जाने से, चतुरङ्ग सेना, केवल शोभा के लिए ही थी ॥६५॥ उस विक्रमधर्म राजा के पद्मश्री नाम की, स्त्रियों के सर्व गुणों से विभूषित परम सुंदरी पट्टरानी थी ॥६६॥ इसी उज्जयिनी नगरी में एक धनदेव नाम का वणिक रहता था, वह जलनिधि समुद्र के समान गम्भीर और अनेक गुणों का निधान/स्थान था ॥६७॥ उसके कुल एवं शील से पवित्र, परम रूपवती, गृहस्थी के समस्त कार्यों में सुचतुर यशोमती नाम की स्त्री थी ॥६८॥

ये सेठ-सेठानी, अपने पूर्व पुण्य के प्रभाव से, मनमाने सांसारिक सुख भोगते थे, कुछ काल के

सेठ के (भवान्) आप (तनुरुहः) पुत्र (जातः) उत्पन्न हुए ।

यथाकामं ततस्तातो बन्धुलोकसमन्वितः ।
चकार शिवदेवाख्यां भवतो भव्यबान्धव ।।७०।।

अन्वयार्थ–(भव्यबान्धव) हे भव्यबान्धव ! (ततः) उसके बाद (भवतः) आपके (तातः) पिता ने (यथाकामं) इच्छानुसार (बन्धुलोकसमन्वितः) बन्धुजनों से सहित (शिवदेवाख्यां) शिवदेव नाम को (चकार) किया/रखा ।

पूर्वपापोदयात्तत्र वर्द्धसे त्वं यथा यथा ।
क्षीयतेऽर्थः कुटुम्बेन सार्द्धं गेहे तथा तथा ।।७१।।

अन्वयार्थ–(तत्र) वहाँ (पूर्वपापोदयात्) पूर्व उपार्जित पापकर्म के उदय से (त्वं) तुम (यथा यथा) जैसे-जैसे (वर्द्धसे) वृद्धि को प्राप्त हुए (तथा तथा) वैसे-वैसे (गेहे) घर में (कुटुम्बेन सार्द्धं) कुटुम्ब के साथ (अर्थः) धन (क्षीयते) नष्ट होने लगा ।

अपरेद्युः पतितयाशु व्योमतो विद्युता व्रजन् ।
हट्टमार्गे हतस्तातो यथाभूद्भस्मसात्तथा ।।७२।।

अन्वयार्थ–(तथा) और (अपरेद्युः) किसी एक दिन (हट्टमार्गे) बाजार के मार्ग में (व्रजन्) जाते हुए (तातः) पिता (व्योमतः) आकाश से (पतितया) टूटी/गिरी (विद्युता) बिजली से (आशु) शीघ्र ही (यथा) इस प्रकार (भस्मसात्) भस्मसात्/भस्मीभूत (अभूत) हो गए ।

ततः शोकाकुलेनास्य बन्धुलोकेन निर्मितम् ।
मृतकर्म्म रुरोदारं[1] माता च करुणं तव ।।७३।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (अस्य) इस शिवदेव के (शोकाकुलेन) शोक से आकुलित दुखी (बन्धुलोकेन) बन्धुजनों ने पिता की (मृतकर्म्म) मरणकालिक क्रिया को (निर्मितम्) किया (च) और (तव) तुम्हारी (माता) माता ने (करुणं) करुणाजनक (अरं) अधिक (रुरोद) रुदन किया ।

बीतने पर उन दोनों के तुम पुत्र हुए ।।६९।। और हे भव्यबान्धव ! तुम्हारे पिता ने अपने भाई-बन्धुओं के साथ उत्सव कर तुम्हारा शिवदेव नाम रखा ।।७०।।

तुमने उससे पहले जन्म में घोर पाप किए थे, इसलिए शिवदेव के भव में वे उदय में आए और उसी के कारण ज्यों-ज्यों तुम बढ़ने लगे, त्यों-त्यों तुम्हारे कुटुम्बियों की घटवारी के संग साथ तुम्हारे पिता का धन भी घटने लगा ।।७१।।

आखिर एक दिन ऐसा पाप का उदय आया कि बाजार की सड़क पर आकाश से टूटकर बिजली गिरी उससे जलकर भस्मीभूत, तुम्हारे पिता परलोक सिधार गए ।।७२।।

तुम्हारे पिता की मृत्यु होने पर, दुःखित हो कुटुंबियों ने उनकी दाह-क्रिया कर दी और समय बीतने पर उन्हें भुला भी दिया परन्तु तुम्हारी माता को बड़ा ही कष्ट पहुँचा वह बिलख-बिलख कर रोने लगी ।।७३।।

---

१. अतिशयेन ।

हा नाथ ! क्व गतस्त्यक्त्वा बालं बालेन्दुसुन्दरम् ।
कथमेषा भविष्यामि हताशा भवतोज्झिता ।।७४।।

अन्वयार्थ–(हा नाथ !) हाय नाथ ! (बालेन्दुसुन्दरम्) बाल चन्द्रमा के समान सुंदर (बालं) बालक को (त्यक्त्वा) छोड़कर (क्व गतः) कहाँ चले गए ? (भवतोज्झिता) आपके द्वारा छोड़ी गई (एषा) यह मैं (हताशा) नष्ट आशा वाली (कथं) कैसी (भविष्यामि) होऊँगी ?

गतं क्षयं क्षणात्कान्त भवतैव समं धनम् ।
दिनं दिनाधिपेनेव कथं पुत्रो भविष्यति ।।७५।।

अन्वयार्थ–(कान्त) हे पतिदेव ! (भवता समं एव) आपके साथ ही (क्षणात्) क्षणभर में (धनम्) धन (क्षयं) नाश को (गतं) प्राप्त हो गया (इव दिनाधिपेन) जैसे सूरज के साथ (दिनं) दिन समाप्त हो जाता है (पुत्रः) पुत्र (कथं) कैसा/क्या/किस रूप में (भविष्यति) होगा ?

इत्यादिकं विलप्यासौ संलग्ना गृहकर्मणि ।
ववृधे च भवांस्तत्र दीनमूर्तिः सुदुःखितः ।।७६।।

अन्वयार्थ–(असौ) यह (इत्यादिकं) इत्यादि/इस प्रकार से (विलप्य) विलाप कर (गृहकर्मणि) घर के कार्यों में (संलग्ना) लग गईं (च) और (तत्र) वहाँ पर (भवान्) तुम (दीनमूर्तिः) दीन आकृति (सुदुःखितः) दुःख सहित (ववृधे) बढ़ने लगे ।

तमालोक्य जनः सर्वो ब्रवीतीति तथा सुतः ।
समस्तातेन नो जातु रविणेव शनैश्चरः ।।७७।।

अन्वयार्थ–(तथा) उस प्रकार दीनहीन (तं आलोक्य) उस पुत्र को देखकर (सर्वजनः) सभी लोग (इति ब्रवीति) इस प्रकार कहते हैं (यथा) जैसे यह (सुतः) पुत्र (रविणा) सूर्य से (शनैश्चरः इव) शनिश्चर के समान प्रसूत है (तातेन) पिता के (समः) समान (जातु) कभी भी (नो) नहीं है ।

क्रमाच्च यौवनं प्राप्तः कृतदारपरिग्रहः ।
ग्रामान्तरे प्रयात्येव वणिज्यायै दिने दिने ।।७८।।

अन्वयार्थ–(च) और वह (क्रमात्) क्रम से (यौवनं) यौवन को (प्राप्तः) प्राप्त होता हुआ

हे नाथ ! मुझ अभागिनी के प्राणाधार/पतिदेव तुम मुझे छोड़ कहाँ गए ? यदि तुम्हें मेरी कुछ भी चिंता न थी, तो इस नन्हें बाल चंद्र के समान सुंदर अपने इकलौते पुत्र की ही कुछ चिंता तो की होती । हा ! अब मैं आपके बिना इस संसार में कैसे जिऊँगी, किस तरह इस नन्हें बालक को पाल-पोषकर बड़ा कर सकूँगी ? हा ! मेरी समस्त ही आशाएँ मिट्टी में मिल गईं ।।७४।। हे नाथ ! आपके साथ-साथ ही धन भी नष्ट हो गया, यह सूर्य के समान पुत्र दिन-दिन किस प्रकार पलेगा अर्थात् कौन सहायी होगा ? ।।७५।। इस प्रकार नाना विलापों को कर तुम्हारी माता किसी प्रकार कुटुंबियों के समझाने-बुझाने से शांत हुई और कोई उपाय न देखकर, गृहकर्मों को करती हुई तुम्हें पाल-पोषकर बढ़ाने लगी और तुम भी बहुत ही दुःख से दीनतापूर्वक दिन-दिन बढ़ने लगे ।।७६।। तथा पुत्र को इस प्रकार दीन-हीन देखकर लोग कहते हैं, यह कहाँ से ऐसा हुआ है ? क्या कभी रवि से शनिश्चर होता है अर्थात् सूर्य समान पिता से यह शनिश्चर पुत्र हुआ है ? ।।७७।। इस प्रकार क्रमशः

(कृत-दार-परिग्रहः) स्वीकार किया है स्त्री के परिग्रह को जिसने अर्थात् विवाहित होता हुआ (दिने दिने एव) प्रतिदिन ही (वणिज्यायै) व्यापार के लिए (ग्रामन्तरे) दूसरे गाँव में (प्रयाति) जाता है ।

ततः किञ्चित्समानीय कुरुते स दिनत्रयम् ।
स प्रातश्चलितोऽन्येद्यु-र्लात्वा परिकरं निजम् ।।७९।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (सः) वह (किञ्चित्समानीय) कुछ धन लाकर (दिनत्रयम्) तीन दिन को (कुरुते) करता था (अन्येद्युः) अन्य दिन (सः) वह (निजम्) अपने (परिकरं) परिकर को (लात्वा) लेकर (प्रातः) सुबह (चलितः) निकला ।

अन्तरेऽत्र ततस्तेन मूलेऽ[१]श्वत्थमहीरुहः(हे) ।
त्रिकाल-योग-सम्पन्नः सर्व-सत्व-हितोद्यतः ।।८०।।
महारामाधिवासोऽपि निःकामो मानवर्जितः ।
भाजनं सर्व-मानानां सद्वेषो द्वेष-शून्य-धीः ।।८१।।
उद्यतो बन्ध-विध्वंसे गुप्ति-त्रितय-संयुतः ।
नितान्तं शान्त-रूपोऽपि सदा समितिभासुरः ।।८२।।
मुरजादि-विधिव्रात - कृशतायात-विग्रहः ।
पञ्चेन्द्रिय-मनोदुष्ट - सम्यग्विहित-निग्रहः ।।८३।।
मासोपवास-मास्थाय निरुद्ध-सकलेन्द्रियः ।
पर्यङ्कासन-संस्थानो ध्यायन् सहज-मात्मनः ।।८४।।
दृष्टोऽदृष्टसमस्तार्थो मुनीन्द्रो विमलाभिधः ।
प्रणनाम ततस्तस्य पादौ (पादयोः) मुदितमानसः ।।८५।।कुलकं।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (तेन) उसने (अत्र अन्तरे) इसी बीच यहाँ उज्जैनी के बाहर (अश्वत्थ-महीरुहः मूले) पीपल वृक्ष के नीचे (त्रिकालयोगसम्पन्नः) तीनों काल सम्बंधी योग से सहित (सर्वसत्वहितोद्यतः) सभी प्राणियों का हित करने में तत्पर (महारामाधिवासः अपि) महा आराम/उद्यान निवासी होने पर भी आत्मस्वरूप के ध्याता (निःकामः) कामवासना से रहित (मानवर्जितः) मान कषाय से रहित (सर्वमानानां) सभी सम्मानों के (भाजनं) पात्र तथा (सद्वेषः) विषय विकारों के

यौवन को प्राप्त, विवाहित हो, आजीविका के लिए प्रतिदिन ग्रामान्तर को जाने लगा ।।७८।। अतः अपने परिवार को कुछ लाकर देता, उससे तीन दिन काम चलता, किसी एक दिन वह अपने परिवार को लेकर प्रातःकाल ही बनजी/व्यापार करने निकला ।।७९।। एक दिन की बात है कि तुम खूब सबेरे ही वणिजी के लिए दूसरे गाँव को जा रहे थे कि रास्ते में पवित्र पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ एक मुनिराज तुम्हें दिखाई पड़े । वे मुनि सामान्य मुनि न थे, वे तीनों काल में योग धारण करते हुए सर्व प्राणियों के हितैषी । वे महान् उद्यान निवासी होकर भी अपनी आत्मारूपी वाटिका में निवास करते हुए निष्काम, मान रहित होते हुए भी सबके द्वारा माननीय/सम्मान भाजन, द्वेष विहीन

१. पिप्पलः

प्रति द्वेष से सहित होकर भी (द्वेषशून्यधीः) द्वेष से रहित बुद्धि वाले थे और कर्म (बन्धविध्वंसे) बन्ध के विनाश करने में (उद्यतः) तत्पर (गुप्तित्रितयसंयुतः) तीन गुप्तियों से सहित (नितान्तं) अत्यंत (शान्तरूपः) शांतरूप (सदा) हमेशा (समितिभासुरः) समितियों से शोभायमान (मुरजादि-विधिव्रात-कृशतायातविग्रहः) मुरज बंध आदि व्रतों के समूह को धारण करने से कृश शरीर वाले होकर भी (पञ्चेन्द्रिय-मनोदुष्ट-सम्यग्विहित-निग्रहः) पाँच इन्द्रिय और प्रबल मन की दुष्टता का सम्यक् निग्रह करने वाले (मासोपवासं आस्थाय) महीनों के उपवास में स्थिर होकर (निरुद्ध-सकलेन्द्रियः) सभी इन्द्रियों को रोकने वाले (पर्यङ्कासनसंस्थानः) पर्यंकासन/पालथी लगाकर बैठे हुए (आत्मनः) आत्मा के (सहजं) स्वभाविक स्वरूप को (ध्यायन्) ध्याते हुए (अदृष्टसमस्तार्थः दृष्टः) परोक्ष सभी पदार्थों के ज्ञाता (विमलाभिधः) विमल नाम के (मुनीन्द्रः) मुनीन्द्र थे (ततः) इसलिए (मुदितमानसः) प्रसन्नचित्त शिवदत्त ने (तस्यपादयोः) उन मुनीन्द्र के चरणों में (प्रणनाम) प्रणाम किया।

अचिन्तयत् संसारे द्वावेव सुखिनौ जनौ।
पद्मातपत्रमाधत्ते यस्य यश्च जितेन्द्रियः ॥८६॥

अन्वयार्थ—(च) तथा उसने (अचिन्तयत्) विचार किया (संसारे) संसार में (द्वौ एव) दो ही (सुखिनौ जनौ) सुखी जन हैं (यस्य) जिसके (पद्मां) लक्ष्मी (आतपत्रं) छत्र को (आधत्ते) धारण करती है अर्थात् लक्ष्मी की छत्रछाया जिसको है (च) और (यः) जो (जितेन्द्रियः) इन्द्रिय विजयी है।

चक्रिणोऽपि न तत्सौख्यं यदेतस्य तपस्यतः।
रागरोषवशश्चक्री यतिस्ताभ्यां विवर्जितः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(तत्सौख्यं) वह सुख (चक्रिणः अपि) चक्रवर्ती के भी (न) नहीं है (यत्) जो (तस्य) उस (तपस्यतः) तप करने वाले के है (चक्री) चक्रवर्ती (राग-रोषवशः) रागद्वेष के वशवर्ती है (यतिः) मुनि (ताभ्यां) उस रागद्वेष से (विवर्जितः) रहित हैं।

अर्थात् द्वेष बुद्धि से रहित होकर विषयों में द्वेष सहित तथा कर्मों के आस्रव और बंध के विध्वंस करने में लीन मनोगुप्ति, वचोगुप्ति और कायगुप्ति के धारक नितान्त शांतरूप होकर सदा समितियों से प्रकाशमान मुरजबंध आदि व्रत समूह से कृशकाय होते हुए भी पाँच इन्द्रिय व मन की दुष्टता का निग्रह करने वाले, महीने दो-दो महीने के उपवास कर संपूर्ण इन्द्रियों को रोक पर्यङ्कासन मांड अपने आत्मा के सहज, शुद्ध स्वरूप के चिंतन में लवलीन हो जाने वाले तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष समस्त पदार्थों के ज्ञाता। उनका पवित्र नाम विमल मुनीन्द्र था। उन्हें देखकर तुम्हारे हृदय में स्वाभाविक भक्ति का निर्झर फूट पड़ा। तुमने हर्षित हो अपने बनिजी की बकुचिये को उतार कर एक ओर रख दिया और मुनि के पैरों में पड़कर नमस्कार किया ॥८०,८१,८२,८३, ८४,८५॥ तथा उसने विचार किया कि संसार में दो ही पुरुष सुखी हैं, एक तो वे, जो कि लक्ष्मीवान, एक छत्र पृथ्वी का राज्य करते हैं और दूसरे वे जो कि जितेन्द्रिय तपस्वी हैं ॥८६॥ अथवा तपस्वी के साथ चक्रवर्ती का साम्य मिलाना योग्य नहीं है, तपस्वी की अपेक्षा चक्रवर्ती को किंचित मात्र भी सुख नहीं है क्योंकि पहिला तो रागद्वेष से रहित आत्मसुख भोजी है और दूसरा रागद्वेष के सर्वदा अधीन विनाशीक इन्द्रिय सुख का अनुभव करने वाला है ॥८७॥

चिन्तयित्वेति सन्नम्य भूयो भूयोऽपि भक्तितः।
सङ्गगाम यथाभीष्टं करोत्येवं च नित्यशः ॥८८॥

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार (चिन्तयित्वा) विचार कर (भक्तितः) भक्ति से (भूयः भूयः) पुनः-पुनः मुनिराज को (सन्नम्य) अच्छी तरह नमस्कार कर (सङ्गगाम) चला गया (अपि) और (यथा अभीष्टं) जैसे अपना इच्छित सिद्ध हो (च) तथा वह (एवं) इस प्रकार (नित्यशः) प्रतिदिन (करोति) करता है।

जातेऽन्यदा यतेस्तस्य पारणादिवसे[1] सति।
चिन्तितं मानसे तेन तद्गुणग्रामवासिना ॥८९॥

अन्वयार्थ–(अन्यदा) अन्य किसी समय (तस्य) उस (यतेः) मुनि के (पारणादिवसे जाते सति) पारणा का दिन प्राप्त होने पर (तद्गुणग्रामवासिना) मुनिराज के गुणों के समूह में निवास करने वाले (तेन) उस वणिक पुत्र तुमने (मानसे) मन में (चिन्तितं) विचार किया।

कस्याद्य मन्दिरं पाद-पांसुभिः पुण्यभागिनः।
करिष्यत्यद्य कल्याण-भाजनं यतिनायकः ॥९०॥

अन्वयार्थ–(अद्य) आज (यतिनायकः) ये मुनिराज (पादपांसुभिः) चरणों की धूलि से (कस्य) किस (पुण्यभागिनः) पुण्यवान के (मंदिरं) घर को (अद्य) अभी (कल्याणभाजनं) कल्याण का पात्र (करिष्यति) करेंगे।

उत्तमोत्तम-भोगानां भाजनं जायतां जनः।
कथं न तत्र यत्रामी विद्यन्ते पात्रसत्तमाः ॥९१॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (अमी) ये (पात्रसत्तमाः) उत्तम पात्र मुनिराज (विद्यन्ते) रहते हैं (तत्र) वहाँ पर (जनः) मनुष्य (उत्तमोत्तमभोगानां) उत्तमोत्तम भोगों के (भाजनं) पात्र (कथं) कैसे (न जायतां) नहीं होंगे? अर्थात् अवश्य ही होंगे।

इस प्रकार भक्तिभाव से नम्रीभूत हो तुम हर रोज प्रातःकाल आने की मन में इच्छा कर अपनी कार्य सिद्धि के लिए चले गए और प्रतिदिन उसी प्रकार आने-जाने लगे ॥८८॥

कुछ दिन के बाद मुनिराज के योग समाप्त होने का दिन आया और उपवासों का अन्त होने से पारणा का दिन हुआ, तो उससे पहले ही तुमने अपने मन में गुणों के ज्ञाता होने से यह विचार किया कि ॥८९॥ अहा! ये अद्वितीय तपस्वी यतिदेव आज अपने पैरों की धूलि से किस पुण्यात्मा के घर को पवित्र करेंगे। किस मनुष्य के भाग्य का सितारा इतना देदीप्यमान होगा, जिसको ये कल्याण का भाजन बनाएँगे? ॥९०॥

जिस मनुष्य के यहाँ ऐसे-ऐसे उत्तम पात्र अपना आतिथ्य स्वीकार करते हैं, उसको किसी भी ऐहिक और पारलौकिक सुख की सामग्री की कमी नहीं रहती। वह अवश्य ही उत्तम से उत्तम भोगों का पात्र बन जाता है ॥९१॥

---

१. द्वितीयादिनस्य भोजनसमये।

अत्यल्पेनापि दत्तेन पात्रस्यैवंविधस्य हि।
तन्नास्ति प्राप्यते यन्न वाञ्छितं परजन्मनि ॥९२॥

अन्वयार्थ–(हि) क्योंकि (एवंविधस्य पात्रस्य) इस प्रकार के उत्तम पात्र मुनिवर को (अत्यल्पेनापि) बहुत थोड़ा भी (दत्तेन) देने से (परजन्मनि) परभव में (ततः) वह (वाञ्छितं) इच्छित (नास्ति) नहीं है (यत्) जो (न प्राप्यते) प्राप्त न हो।

दर्शनेनैव पापानि नश्यन्त्यस्य रवेरिव।
तमांसि कथ्यते किं वा यदि दानादिसङ्गमः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(अस्य) इन मुनिराज के (दर्शनेन एव) दर्शन से ही (रवेः) सूर्य से (तमांसि) अंधकार के (इव) समान (पापानि) पापों को (नश्यन्ति) नष्टकर देते हैं (यदि वा) फिर अगर (दानादिसङ्गमः) दानादि का संयोग हो जाये तो (किं) क्या (कथ्यते) कहा जाये?

मादृशां मन्दभाग्यानां विलीयन्ते मनोरथाः।
असम्पूर्णा मनस्येव, तरङ्गा इव वारिधेः ॥९४॥

अन्वयार्थ–(मादृशां) मुझ जैसे (मन्दभाग्यानां) मन्दभागियों के (मनोरथाः) मन के विचार (वारिधेः) समुद्र की (तरङ्गा इव) तरंगों के समान (असम्पूर्णा) अपूर्ण (मनसि एव) मन में ही (विलीयन्ते) विलीन हो जाते हैं।

आक्रामन्ति विपुण्यस्य पादपद्मैर्न मन्दिरम्।
यतयो जायते कस्य प्राङ्गणे[1] वा सुरद्रुमः ॥९५॥

अन्वयार्थ–(विपुण्यस्य) पुण्यहीन के (यतयः) मुनिजन (पादपद्मैः) चरण कमलों से (मंदिरम्) घर को (न आक्रामन्ति) नहीं आते हैं अर्थात् पुण्यहीन के घर में मुनिराजों के चरण नहीं पड़ते (वा) अथवा (कस्य) किस पुण्यहीन के (प्राङ्गणे) आंगन में (सुरद्रुमः) कल्पवृक्ष (जायते) होता है?

इन मुनि सरीखे उत्कृष्ट पात्रों को थोड़े-थोड़ा भी यदि निर्दोष भक्ति द्वारा दान दिया जाये, तो संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो इच्छा करने मात्र से इस जन्म की तो बात क्या परजन्म में भी प्राप्त न हो जाये ॥९२॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने मात्र से अंधकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे तपस्वी महात्माओं के दर्शन मात्र से पापों का समुदाय समूल नष्ट हो जाता है। फिर यदि दान आदि की सहायता से इनका संगम प्राप्त कर लिया जाये तो फिर कहना ही क्या है? ॥९३॥

जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं और फिर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मुझ मंद भाग्य की इच्छाएँ मन में उठती हैं और बिना पूर्ण हुए ही विलीन हो जाती हैं ॥९४॥

जिस मनुष्य का पुण्य नष्ट हो गया अथवा है ही नहीं, उसके घर को तपस्वी मुनिराज अपने चरणकमलों से पवित्र नहीं करते सो ठीक ही है, बिना उत्कृष्ट पुण्य के कल्पवृक्ष को कब किसके घर होते हुए देखा व सुना है? ॥९५॥

---

२. गृहाङ्गणे।

परित्यज्य न पुण्यानि हेतुमस्य वितर्कये।
कञ्चनापि यतीशस्य लाभे चिन्तामणेरिव ॥९६॥

अन्वयार्थ–(चिन्तामणेः इव) चिन्तामणि रत्न के समान (कञ्चनापि) किसी भी (यतीशस्य) यतीश्वर/मुनिवर के (लाभे) लाभ में (पुण्यानि) पुण्य कर्मों को (परित्यज्य) छोड़कर (अस्य) इसका (हेतुं) कारण (न वितर्कये) नहीं सोचे।

तथापि सावधानोऽस्मि मा कदाचित्तदागमः।
व्यवसायवशात्पुंसां जायते विपुलं फलम् ॥९७॥

अन्वयार्थ–(तथापि) तो भी (सावधानः अस्मि) मैं सावधान हूँ (कदाचित्) कभी (मा) मुझे/मेरे लिए (तदागमः) उन मुनिराज का आगमन हो सकता है क्योंकि (पुंसां) पुरुषों के (व्यवसायवशात्) पुरुषार्थ के वश से (विपुलं) बहुत अधिक (फलं) फल (जायते) प्राप्त होता है।

विभाव्येति प्रसन्नात्मा धौतवस्त्रोत्तरीयकः।
मार्गमन्वेषयंस्तस्य तस्थौ द्वारेस्वसद्मनः ॥९८॥

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार (विभाव्य) विचार कर (प्रसन्नात्मा) प्रसन्नचित्त वह शिवदेव वैश्य (धौतवस्त्रोत्तरीयकः) धुले हुये निर्मल धोती-दुपट्टे को पहने हुए (तस्य) उन मुनिराज के (मार्गं) मार्ग को (अन्वेषयन्) खोजता हुआ (स्वसद्मनः) अपने मकान के (द्वारे) द्वार पर (तस्थौ) खड़ा हो गया।

अथासौ प्रेरितस्तस्य पुण्यैरिव यथा मुनिः।
तैनैवाप क्रमात् क्रामन्नुच्चनीचगृहावलीः ॥९९॥

अन्वयार्थ–(अथ) और (असौ मुनिः) वह मुनि (यथा) जैसे (तस्य) उस वैश्य के (पुण्यैः) पुण्यों से (प्रेरितः इव) प्रेरित हुए के समान (क्रमात्) क्रम से (उच्चनीचगृहावलीः) ऊँची-नीची अमीर-गरीब घरों की पंक्ति को (क्रमात्) क्रम से (क्रामन्) चलते/पार करते हुए (तेन एव) उस सेठ के द्वारा ही (आप) प्राप्त किए गए अर्थात् मुनिराज उस सेठ के घर की ओर पधारे।

जिस प्रकार चिंतामणि रत्न पापियों को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार इन सरीखे मुनियों का दान देने का समागम भी बिना उत्कृष्ट पुण्य के प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि ऊपर विचारी गई बातें सब ठीक हैं तथापि कौन कह सकता है कि उस पुण्य का उदय मेरे कब हो जाये? इसलिए मुझे उनके आगमन की प्रतीक्षा में सावधान रहना चाहिए क्योंकि परिश्रम करते रहने से ही मनुष्यों को विपुल फल की प्राप्ति होती है ॥९७॥

इस प्रकार नाना तर्क-वितर्कों को करता हुआ वह शिवदेव वैश्य धुले हुए स्वच्छ निर्मल धोती-दुपट्टे को पहिनकर अपने घर के दरवाजे पर खड़ा हो गया और उन मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा ॥९८॥

मुनिराज पारणा के लिए उज्जैन नगर में पधारे और अनेक ऊँचे-नीचे अमीर-गरीब, महल, मकानों को क्रमशः लांघते हुए उस वैश्य के पुण्य द्वारा प्रेरित किये हुए के समान उसी की तरफ आने लगे ॥९९॥

वीक्षितश्च ततस्तेन दुर्गतेनेव सन्निधिः ।
पुण्यपुञ्ज इव स्वस्याभिमुखो वा स्ववेश्मनः ।।१००।।

अन्वयार्थ–(च) और (ततः) उसके बाद (तेन) उस सेठ ने (दुर्गतेन) गरीब के लिए (सन्निधिः) श्रेष्ठनिधि के समान और (पुण्यपुञ्जः इव) पुण्यराशि के समान (स्ववेश्मनः) अपने घर के (वा) अथवा (स्वस्य अभिमुखः) अपने सम्मुख मुनिराज को (वीक्षितः) देखा ।

अग्रेभूय स्वतस्तेन प्रत्यग्राहि प्रयत्नतः ।
उच्चस्थानस्थितस्यास्य चक्रे चरणधोवनम् ।।१०१।।

अन्वयार्थ–(अग्रेभूय) आगे होकर (तेन) उस सेठ ने (स्वतः) स्वयं (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (प्रत्यग्राहि) पड़गाहन किया और (उच्चस्थान-स्थितस्य) उच्च स्थान पर स्थित (अस्य) इन मुनिराज के (चरणधोवनम्) चरणों का धोना/अभिषेक/प्रक्षालन (चक्रे) किया ।

तत्प्रवन्द्योदकं कृत्वा पूजामष्टविधामसौ ।
यावद्भोजयते भुक्तिं धर्ममूर्तिमुनीश्वरम् ।।१०२।।

अन्वयार्थ–(असौ) उसने (तत्) उस (उदकं) चरण जल की (प्रवन्द्य) वंदना कर (अष्ट विधां पूजां) आठ प्रकार की पूजा को (कृत्वा) करके (यावद्) जब तक (धर्ममूर्तिमुनीश्वरम्) धर्म की मूर्ति मुनिराज को (भुक्तिं) भोजन को (भोजयते) करवाता है ।

सूरदेवयशोदेव - नन्ददत्तवणिक्सुताः ।
पद्मावती जयश्रीश्च सुलेखा मदनावली ।।१०३।।
लात्वा लेहनकं तावत् सर्वाभरणभूषिताः ।
मत्वा सुवासिनीत्यस्य मातुराप्ता गृहं क्षणात् ।।१०४।।युग्मं।।

अन्वयार्थ–(तावत्) तब तक (सर्वाभरण-भूषिताः) सभी आभरणों से विभूषित (सूरदेव-यशोदेव-नन्ददत्त-वणिक्सुताः) सूरदेव, यशोदेव, नन्द व दत्त वैश्यों की पुत्रियाँ (पद्मावती) पद्मावती (जयश्रीः) जयश्री (सुलेखा) सुलेखा (च) और (मदनावली) मदनावली (सुवासिनी इति मत्वा) यह सुवासित है इस प्रकार मानकर (लेहनकं) हलुए को (लात्वा) लाकर (अस्य) इसकी (मातुः) माता के (गृहं) घर को (क्षणात्) क्षणभर में (आप्ताः) प्राप्त हुईं ।

मुनिराज को अपनी तरफ आते हुए देखकर शिवदेव ने अपना बड़ा ही भाग्य समझा, जिस प्रकार दरिद्र को निधि की प्राप्ति होने से अपार हर्ष होता है, उसी प्रकार असीम हर्ष हुआ और देहधारी पुण्य के पुञ्ज के समान उन्हें अपने घर आते देखा ।।१००।। घर के पास मुनिराज के आते ही शिवदेव ने प्रयत्नपूर्वक उनका पड़गाहन किया और ऊँचे आसन पर विराजमान कर उनके चरणों का अभिषेक/प्रक्षालन किया ।।१०१।। उस चरण जल की वंदना करके अष्ट प्रकार की पूजा कर नवधा भक्ति से आहार देता है ।।१०२।। इसी बीच में सूरदेव, यशोदेव और नन्ददत्त वैश्यों की पद्मावती, जयश्री, सुलेखा और मदनावली नाम की पुत्रियाँ सम्पूर्ण आभरणों से भूषित होती हुईं साथ में सुरभित हलुआ को लेकर इसकी माता के घर आईं ।।१०३,१०४।।

निविष्टास्तास्ततः सर्वास्तत्रासावपि साधवे ।
तन्मध्यात्प्रददौ किञ्चित् तद् वाक्यात् तुतुषुश्च ताः ।।१०५।।

अन्वयार्थ–(ततः) इसके बाद (ताः सर्वाः) वे सभी (तत्र) वहाँ पर (निविष्टाः) बैठ गईं (असौ अपि) उस शिवदेव ने भी (साधवे) साधु के लिए (तन्मध्यात्) उनके द्वारा लाए गए हलुए में से (किञ्चित्) कुछ मुनिराज को (प्रददौ) प्रदान किया (च) और (तद्वाक्यात्) उसके वचन से (ताः) वे (तुतुषुः) संतुष्ट हुईं ।

अचिन्तयँश्च ता धन्य-तम एषः महामतिः ।
यस्यैवं दुर्गतस्यापि धर्मकार्यमहोद्यमः ।।१०६।।

अन्वयार्थ–(च) और (ताः) वे चारों कन्याएँ (अचिन्तयन्) विचार करने लगीं (एषः महामतिः) यह महाबुद्धिमान (धन्यतमः) धन्यतम है (यस्य) इसके (एवं) इस प्रकार (दुर्गतस्य अपि) गरीब होने पर भी (धर्म-कार्य-महोद्यमः) धर्म कार्य करने में महान् उद्यम है ।

नरनाथादयोऽप्यस्य पादपद्मावलोकनम् ।
वाञ्छन्तोऽपि लभन्ते न मुनेर्दानं किमुच्यते ।।१०७।।

अन्वयार्थ–(नरनाथादयः अपि) राजा आदि भी (अस्य) इन मुनि के (पादपद्मावलोकनम्) चरण-कमलों के दर्शन को (वाञ्छन्तः अपि) चाहते हुए भी (न लभन्ते) प्राप्त नहीं कर पाते (मुनेः दानं) फिर मुनि के दान को (किं उच्यते) क्या कहा जाये ?

अयि लक्ष्मि ! किमन्धासि येनैवं गुणशालिने ।
सस्पृहा नररत्नाय सात्विकाय न जायसे ।।१०८।।

अन्वयार्थ–(अयि लक्ष्मी !) अरि लक्ष्मी ! (किं) क्या (अन्धासि) तू अन्धी है (येन) जिससे (एवं) इस प्रकार के (गुणशालिने) गुणशाली (सात्विकाय) सात्विक (नररत्नाय) नररत्न के लिए (सस्पृहा) इच्छा सहित (न जायसे) नहीं होती ।

जन्मना वा धनेनाऽपि विवेकेनापि किं नृणाम् ।
यदीदृशे महापात्रे न किञ्चिदुपचर्यते ।।१०९।।

अन्वयार्थ–(अपि) तथा (नृणां) मनुष्य के (जन्मना) जन्म से (धनेन) धन से (विवेकेन अपि) और विवेक से भी (किं) क्या मतलब है ? (यत्) जो (यदीदृशे) इस प्रकार के (महापात्रे) महापात्र के

तथा इसके बाद वे वहाँ सभी बैठ गईं । शिवदेव ने उनके लाए हुए हलुए में से उन मुनिराज को कुछ अंश दे दिया और उसके इस व्यवहार से वे वैश्य पुत्रियाँ बहुत ही संतुष्ट हुईं ।।१०५।। उन्होंने सोचा कि यह बुद्धिमान अति धन्य है, इसके यद्यपि धन नहीं है, वणिजी से अपना पेट भरता है तथापि धार्मिक कार्यों के करने का उत्साह इसका बहुत ही प्रशंसनीय है ।।१०६।। जिन महात्मा के चरण कमलों के दर्शन को बड़े-बड़े राजे-महाराजे तरसते हैं परन्तु पा नहीं सकते उनके दर्शन की तो क्या बात ? इसने उन्हें दान भी दे दिया है ।।१०७।। अयि लक्ष्मी ! क्या तू सचमुच ही अंधी है, जो इस गुणशाली ! सात्विक पुरुष को नहीं अपनाती ? इस पर कृपा नहीं करती ।।१०८।। संसार में मनुष्यों के पास यदि अत्यन्त धन भी हो और विवेक भी हो तो क्या प्रयोजन ? यदि इस प्रकार के महापात्र

विषय में (किञ्चिद्) कुछ भी (न उपचर्यते) सेवा शुश्रुषा नहीं करता ।

एतस्य यानि पुण्यानि तानि नान्यस्य निश्चितम् ।
यदेतद्गृहमायातो दुर्लभो जगतां पतिः ॥११०॥

अन्वयार्थ–(एतस्य) इसके (यानि) जो (पुण्यानि) पुण्य कर्म हैं (तानि) वे (निश्चितम्) निश्चित-रूप से (अन्यस्य) अन्य के नहीं हैं (यत्) जो (एतद् गृहम्) इसके घर (दुर्लभः) दुर्लभ (जगतां पतिः) जगत के स्वामी मुनिराज (आयातः) आए हैं ।

श्रद्दधे च तदा ताभिस्तद्दानं भक्तिपूर्वकम् ।
मुहुर्मुनिं मुहुस्तं च पश्यन्तीभिः सविस्मयम् ॥१११॥

अन्वयार्थ–(च) और (तदा) तब (मुहुः मुहुः) बार-बार (मुनिम्) मुनिराज को (तं) उस शिवदेव को (सविस्मयम्) आश्चर्यपूर्वक (पश्यन्तीभिः) देखती हुई (ताभिः) उन वैश्य पुत्रियों ने (भक्तिपूर्वकम्) भक्तिपूर्वक (तद्दानं) उस दान की (श्रद्दधे) श्रद्धा की ।

त्वयापि पारितः साधु र्भक्तितो मनसा परम् ।
आशङ्का विहिता मातुस्तद्दानासहना हि सा ॥११२॥

अन्वयार्थ–(त्वया अपि) तुम्हारे द्वारा तो (परं भक्तितः) उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक (मनसा) मन से (साधुः पारितः) साधु की पारणा कराई गई (हि) किन्तु (सा) वह (तद्दानासहना) उस दान में असहनशील है ऐसी (मातुः) तुम्हारी माता के विषय में तुमने (आशङ्का विहिता) आशंका की ।

भुक्त्वा सोऽपि जगामातो यथाभीष्टं मुनीश्वरः ।
अनुव्रज्य प्रणम्यायाद्[1] वाणिजोऽपि निजालयम् ॥११३॥

अन्वयार्थ–(अतः) और यहाँ (सः) वह (मुनीश्वरः) मुनिराज (अपि) भी (भुक्त्वा) आहार कर (यथाभीष्टं) अभीष्ट स्थान को (जगाम) चले गए (वणिजः अपि) वैश्य भी (अनुव्रज्य) मुनिराज के पीछे जाकर (प्रणम्य) नमस्कार कर (निजालयम्) अपने घर को (आयात्) वापिस आ गया ।

यत्त्वया विहितं भद्र सिद्धयत्येतन्न कस्यचित् ।
भाजनं सर्वकल्याण-सम्पदां नियतं भवान् ॥११४॥

अन्वयार्थ–(भद्र) हे भद्र ! (यत्) जो (त्वया) तुम्हारे द्वारा (विहितं) किया गया (एतत्) यह

के लिए कुछ भी उपचार नहीं करे ॥१०९॥ इसके बराबर अवश्य ही अन्य किसी का भी पुण्य नहीं है नहीं तो क्या भला ! ये सर्व साधारण को दुर्लभ त्रिलोकीनाथ इसके घर स्वयं आते ॥११०॥ इस प्रकार मन में सोच-विचार कर उन वणिक पुत्रियों ने उस पात्रदान की खूब ही अनुमोदना की और बार-बार उस शिवदेव को तथा मुनिराज को भक्ति भरे नेत्रों से देखा ॥१११॥ तुम शिवदेव ने तो भक्ति रस से पूर्णमन हो, मुनि को आहार दान दे पारणा कराई परन्तु माता कदाचित् आकर कुछ विघ्न न कर दे इस भय से तुमने आशंका की ॥११२॥ आहार ले मुनिराज तो वन की तरफ विहार कर गए और वह वणिक थोड़ी दूर उनके पीछे जाकर नमस्कार कर अपने घर लौट आया ॥११३॥ भद्र ! जो तुमने किया वह किसी से नहीं हो सकता, तुम निश्चय ही समस्त सम्पत्तियों के घर हो

१. अयात "अगात्" इति पाठद्वयं ।

(कस्यचित्) किसी के भी (न सिद्ध्यति) सिद्ध नहीं होता (भवान्) आप (नियतं) नियम से (सर्वकल्याणसम्पदां) सभी कल्याणरूप सम्पदाओं के (भाजनं) स्थान हो ।

प्रशस्येति गतास्तास्तं स्वसद्म मुदितास्तराम् ।
बुभुजे प्रत्यहं कृत्वातिथीनां संप्रतीक्षणं ? ।।११५।।

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार (ता:) वे वैश्य पुत्रियाँ (तं) उस शिवदेव की (प्रशस्य) प्रशंसा कर (मुदितास्तराम्) अत्यधिक प्रसन्न होती हुईं (स्वसद्म) अपने घर को (गता:) चली गईं और (प्रत्यहं) प्रतिदिन (अतिथीनां) अतिथियों का (संप्रतीक्षणं कृत्वा) द्वाराप्रेक्षण करके (बुभुजे) भोजन करने लगीं ।

पृथ्वी छन्द:

यतीश-गुण-भावित: सहज-सौम्यतासङ्गतो
वसन्निति विहायिते[1] रसिकचित्तवृत्तिस्तदा ।
जगाम मृतिगोचरं सुचिरकालतो वाणिजो
निरन्तरमिमास्तथा समनुभूय सौख्यं मृता: ।।११६।।

अन्वयार्थ–(तदा) तब (यतीशगुणभावित:) मुनिराज के गुणों में भावों से सहित (सहजसौम्यता- सङ्गत:) सहज सौम्यता को प्राप्त (विहायिते) दान में (रसिक-चित्तवृत्ति:) रसिक मनोवृत्तिपूर्वक (सुचिरकालत:) बहुत समय पर्यन्त (वाणिज:) वैश्य ने (इति) इस प्रकार (वसन्) निवास करते हुए (मृतिगोचरं जगाम) मृत्यु को प्राप्त किया (तथा) और (इमा:) ये वैश्य पुत्रियाँ भी (निरंतरं) निरंतर (सौख्यं) सुख का (समनुभूय) अनुभव कर (मृता:) मरण को प्राप्त हुईं ।

।।११४।। इस प्रकार वे वैश्य पुत्रियाँ उस शिवदेव की प्रशंसा कर अत्यधिक प्रसन्न होती हुईं ? अपने घर को चली गईं और प्रतिदिन अतिथियों का द्वाराप्रेक्षण करके भोजन करने लगीं ।।११५।। तब मुनिराज के गुणों में भावों से सहित सहज सौम्यता को प्राप्त दान में रसिक मनोवृत्तिपूर्वक बहुत समय पर्यन्त वैश्य ने इस प्रकार निवास करते हुए मृत्यु को प्राप्त किया और इन वैश्य पुत्रियों ने भी निरंतर सुख का अनुभव करके मरण को प्राप्त किया ।।११६।।

।। इति श्रीभगवद्गुणभद्राचार्य्यप्रणीते श्रीजिनदत्तचरित्रे/जिनदत्तकथासमुच्चये दान-फल-व्यावर्णना नाम अष्टम: सर्ग: ।।७।।

।।इस तरह श्री भगवान गुणभद्राचार्य विरचित श्री जिनदत्त चरित्र में मुनि आहार-दान के फल का विशेष वर्णन करने वाला आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।।

---

१. दाने ।

नवम सर्गः

अनुष्टुप् छन्द

अथासौ शिवदेवोऽभूद्-भवांस्तद्दान-पुण्यतः।
श्रेष्ठिनो जीवदेवस्य जिनदत्ताभिधः सुतः ॥१॥

अन्वयार्थ–(अथ) तदनन्तर (असौ) यह (शिवदेवः) शिवदेव (तद्दान-पुण्यतः) उस दान के पुण्य से (भवान्) आप (जीवदेवस्य) जीवदेव सेठ के (जिनदत्ताभिधः) जिनदत्त नामक (सुतः) पुत्र (अभूत्) हुए हो।

प्राप्तस्त्वं तत एवासि सौख्यं सर्वाङ्ग-गोचरम्।
अथवा लभ्यते किं न पात्र-दानेन देहिभिः ॥२॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (त्वमेव) तुम ही (सर्वाङ्गगोचरम्) सर्वांगीण (सौख्यं) सुख को (प्राप्तः असि) प्राप्त हुए हो (अथवा) और (देहिभिः) देहधारियों के द्वारा (पात्रदानेन) पात्रदान से (किं न लभ्यते) क्या प्राप्त नहीं किया जाता ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त किया जाता है।

तासां यथानुरागेण सर्वदैवासि भावितः।
तेनान्यासु न ते स्त्रीषु साभिलाषमभून्मनः ॥३॥

अन्वयार्थ–(यथा) जिस प्रकार (तासां) उन वैश्य पुत्रियों के (अनुरागेण) अनुराग से तुम (सर्वदा एव) सदा ही (भावितः असि) भाए गए हो (तेन) उस कारण से (अन्यासु) अन्य (स्त्रीषु) स्त्रियों में (ते) तुम्हारा (मनः) मन (साभिलाषं) अभिलाषा युक्त (न अभूत) नहीं हुआ।

जननीशङ्कया यच्च संक्लिष्टं हृदयं तदा।
विपाकात्तस्य चावापि मध्येऽनर्थपरम्परा ॥४॥

अन्वयार्थ–(च) और (यत्) जो (तदा) तब (जननीशङ्कया) माता की शंका से (हृदयं) हृदय (संक्लिष्टं) संक्लेष को प्राप्त हुआ था (तस्य) उसके (विपाकात्) फल से (मध्ये) बीच में (अनर्थपरंपरा) कष्टों की परम्परा (अवापि) प्राप्त हुई।

इसके बाद वह शिवदेव मरकर दान के पुण्य प्रभाव से तुम जीवदेव सेठ के पुत्र जिनदत्त हुए हो ॥१॥

तुझे जो कुछ भी सुख प्राप्त हुए हैं, वे सब उसी दान के माहात्म्य से हुए हैं क्योंकि पात्रदान से सब ही सुख प्राप्त होते हैं ॥२॥

उन वैश्य पुत्रियों के अनुराग से तुम सदा ही भाए गए हो, उस कारण से अन्य स्त्रियों में तुम्हारा मन अभिलाषा युक्त नहीं हुआ ॥३॥

दान देते समय जो हृदय में माता के आ जाने की शंका से संक्लिष्टता आ गई थी, उससे जो भक्ति में न्यूनता हो जाने से, पुण्य में न्यूनता हो गई थी, उसी के फल से बीच में अनर्थों की परम्परा तुम्हें प्राप्त हुई ॥४॥

तद्विरामे च सम्पन्नं सम्पदां पदमुत्तमम् ।
कन्याचतुष्टयं तच्च स्वपरीणामयोगतः ॥५॥
चम्पायां सिंहलद्वीपे रथनूपुरपत्तने ।
चम्पायामेव सञ्जातं नारीरत्नचतुष्टयम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(तद्विरामे) उस पापकर्म के उदय के अंत में (सम्पदां) सम्पदाओं के (उत्तमं पदं) उत्तम पद को (सम्पन्नं) प्राप्त हुए (च) और (स्वपरीणामयोगतः) अपने परिणामों के अनुसार (तत्) वे (कन्या-चतुष्टयं) चारों कन्याएँ (चम्पायां) चंपानगरी में (सिंहलद्वीपे) सिंहलद्वीप में (रथनूपुर पत्तने) रथनुपुर नगर में (चम्पायाम् एव) और चंपापुर में ही (नारी रत्नचतुष्टयम्) चारों नारीरत्न (सञ्जातं) उत्पन्न हुए ।

विमलातिमतिः पूर्वा श्रीमती गदिता परा ।
शृङ्गारादिमतिश्चान्या विलासादिमतिस्तथा ॥७॥

अन्वयार्थ—(पूर्वा विमलातिमतिः) पहली विमलमति (अपरा) दूसरी (श्रीमतीः) श्रीमति (च) और (अन्या) अन्य तीसरी (शृङ्गारादिमतिः) शृङ्गारमति (तथा) और (विलासादिमतिः) चौथी विलासमती (गदिता) कही गई हैं ।

परिणीतास्त्वया सर्वास्तत्र तत्र नरान्तरम् ।
अनिच्छन्त्यः क्रमाद्भद्र ! भवत्सङ्गम-लालसाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(भद्र !) हे भद्र ! (सर्वाः) ये सभी चारों (नरान्तरम्) अन्य पुरुषों को (अनिच्छन्त्यः) नहीं चाहतीं हुईं (भवत्सङ्गम-लालसाः) तुम्हारे ही संगम की लालसा रखने वाली (क्रमात्) क्रम से (तत्र तत्र) उस-उस नगर में जाकर (त्वया) तुमने उनके साथ (परिणीता) परिणय/विवाह किया ।

माहात्म्यात्तस्य दानस्य सार्ध-माभिर्निरन्तरम् ।
सारं संसारवासस्य भुज्यते भवता सुखम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(तस्य दानस्य) उस आहार दान के (माहात्म्यात्) माहात्म्य से (भवता) तुम्हारे द्वारा (आभिः सार्धं) इनके साथ (निरन्तरम्) सतत (संसार-वासस्य) संसार वास के (सारं सुखम्) सारभूत

उस पाप कर्म के अंत होने पर उत्कृष्ट संपत्ति के साथ-साथ अपने परिणाम के अनुसार पूर्वभव की चारों कन्याएँ। प्रथम चंपानगरी में, दूसरी सिंहलद्वीप में, तीसरी रथनुपुर नगर में और चौथी फिर चंपापुर नगर में ही ये क्रमशः चारों नारी रत्न प्राप्त हुए ॥५,६॥

प्रथम का नाम विमलमती, द्वितीय का नाम श्रीमती, तीसरी का नाम शृङ्गारमती और चौथी का नाम विलासमती विख्यात हुआ ॥७॥

हे भद्र ! ये चारों ही अन्य पुरुषों से विरक्त, तुम्हारे ही संगम की लालसा रखने वाली थी, उनको क्रम से उस-उस नगर में जाकर तुमने वरण किया ॥८॥

यह सब उस आहार दान का ही माहात्म्य है कि तुम इन चारों प्रिय पत्नियों के साथ निरन्तर संसार वास के सारभूत सुखों को भोग रहे हो ॥९॥

सुख को (भुज्यते) भोगा जा रहा है ॥९॥

निगद्येति यतौ तत्र विरते स्मृतवानसौ।
निजजन्म समं ताभि-र्मुमूर्च्छ च ततो द्रुतम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार (निगद्य) जिनदत्त के पूर्वभवों को कहकर (तत्र) उस विषय में (यतौ विरते) मुनिराज के विरत होने पर [कह चुकने पर] (असौ) वह जिनदत्त (निजजन्म स्मृतवान्) अपने पूर्वभव के स्मरण वाला हो गया (च) और (ततः) इसलिए (द्रुतं) शीघ्र ही (ताभिः समं) उन चारों स्त्रियों के साथ (मुमूर्च्छ) मूर्छित हो गया।

अचिरादुपचारं स समासाद्य ततो जवात्।
अङ्गनाभिः समं पृष्ट उत्थितो विस्मितैर्जनैः ॥११॥

अन्वयार्थ–(सः) वह (अचिरात्) शीघ्र ही (उपचारं) उपचार को (समासाद्य) प्राप्त कर (जवात्) वेग से (अङ्गनाभिः समं) पत्नियों के साथ (उत्थितः) उठा और (विस्मितैः जनैः) आश्चर्य को प्राप्त मनुष्यों के द्वारा (पृष्टः) पूंछा गया।

उदीर्य च तथा वृत्तं जनेभ्यो भव्यबान्धवः।
इदं विचिन्तयामास संविग्नो हृदये तदा ॥१२॥

अन्वयार्थ–(च) और (भव्यवान्धवः) भव्यों के बंधु उस जिनदत्त ने (जनेभ्यः) मनुष्यों से (तथा वृत्तं) उस प्रकार अपने पूर्वभव के वृत्तांत को (उदीर्य) कहा (तदा) तब (संविग्नः) संवेग को प्राप्त उसने (हृदये) हृदय में (इदं) यह (विचिन्तयामास) विचार किया।

अद्यैव साधुनाऽनेन चक्षुरुद्घाटितं मम।
विषयाशाविमुग्धस्य दर्शयित्वा भवान्तरम् ॥१३॥

अन्वयार्थ–(विषयाशाविमुग्धस्य) इन्द्रिय के विषयों की लालसा में मोहित रहने वाले (मम) मेरे (चक्षुः) नेत्र (अनेन साधुना) इन साधु के द्वारा (अद्य एव) आज ही (भवान्तरम्) पूर्वभवों को (दर्शयित्वा) दिखलाकर (उद्घाटितं) खोले गए हैं।

न मया विहितं किञ्चित्तदा दौर्गत्य-योगतः।
अज्ञत्वाच्च तथापीत्थं सम्पदामस्मि भाजनम् ॥१४॥

अन्वयार्थ–(च) और (तदा) तब पूर्वभव में (दौर्गत्य-योगतः) दुर्भाग्य के योग से (मया) मेरे

इस प्रकार जिनदत्त के पूर्वभवों का समस्त वृत्तांत जब मुनिराज कह चुके, तो जिनदत्त तथा स्त्रियों को अपने पूर्वभव का समस्त वृत्तांत याद हो आया और उससे उन्हें मूर्छा आ गई ॥१०॥ शीघ्र ही उचित उपचार करने पर वेग से अपनी पत्नियों के साथ वह उठ बैठा। उपस्थित जन विस्मित हुए और अचेत होने का कारण पूछने लगे ॥११॥ जिनदत्त ने भी अपना सकल वृत्तान्त सुनाया, सबकी शंका निवारण की तथा संसार से उद्विग्न मन होकर इस प्रकार चिन्तवन करने लगे ॥१२॥ ये मुनिराज मेरे परम उपकारी हैं। मैं इन्द्रिय विषयों की लालसा में मत्त हो उन्हीं को तृप्त करने में लगा हुआ था। इन्होंने पहले जन्म का समस्त वृतांत बतलाकर सचेत कर दिया ॥१३॥ यद्यपि मैंने उस

द्वारा (अज्ञत्वात्) अज्ञानी होने से (किञ्चित्) कुछ भी विशेष धर्म कार्य (न विहितं) नहीं किया गया (तथापि) तो भी (इत्थं) इस प्रकार (संपदां) संपदाओं का (भाजनम्) पात्र (अस्मि) हुआ हूँ।

अत्यल्पमप्यहो न्यस्तं विधिना पात्रसत्तमे।
शतशाखं फलत्याशु वटबीजमिव ध्रुवम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अहो) आश्चर्य है! (पात्रसत्तमे) श्रेष्ठपात्र में (विधिना) विधिपूर्वक (न्यस्तं) दिया गया (अत्यल्पं अपि) बहुत थोड़ा भी दान (वटबीजं इव) वटबीज के समान (ध्रुवम्) निश्चित ही (शतशाखं) सैकड़ों शाखाओं के रूप में (आशु) शीघ्र ही (फलति) फलता है।

तावतैव यदि प्राप्तः सम्पदं जगदुत्तमाम्।
स्वर्मोक्षसुखसम्पत्तिः सुलभैव ततो ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(तावत् एव) उतने ही थोड़े दान से (यदि) अगर (जगदुत्तमाम्) जगत में उत्तम (सम्पदं) सम्पदा को (प्राप्तः) प्राप्त किया है (ततः) तो इससे (ध्रुवम्) नियम से (स्वर्मोक्षसुख-सम्पत्तिः) स्वर्ग व मोक्षरूप सम्पदा (सुलभः एव) सुलभ ही है।

परं चेतयते जन्तु-र्नात्मानं मूढमानसः।
प्रमाद-मद-मात्सर्य - मोहाज्ञानैर्निरन्तरम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(परं) किन्तु (मूढमानसः) मूढ़बुद्धि (जन्तुः) प्राणी (प्रमाद-मद-मात्सर्य-मोहाज्ञानैः) आलस्य, घमण्ड, ईर्ष्या, अज्ञान से (निरन्तरम्) सदा ही (आत्मानं) आत्मा को (न चेतयते) चित्त में नहीं लाते/अनुभव नहीं करते/नहीं जानते।

न माता न पिता नैव सुहृदः स्निग्ध-बुद्धयः।
तथा प्रेमकरा नृणां निस्पृहा यतयो यथा ॥१८॥

अन्वयार्थ—(न माता न पिता) ना माता ना पिता (नैव) और ना ही (स्निग्ध-बुद्धयः) अनुराग बुद्धि वाले (सुहृदः) मित्रगण (नृणां) मनुष्यों के (तथा) उस तरह (प्रेमकरा) प्रेम करने वाले (न) नहीं हैं (यथा) जैसे (निस्पृहा) इच्छा रहित निरीह (यतयः) मुनिजन होते हैं।

समय दरिद्र तथा अज्ञानी होने के कारण कुछ विशेष धर्माचरण न किया, तो भी मैं इस समय सब तरह से संपत्तियों की कृपा का पात्र हुआ हूँ ॥१४॥ अहा! देखो! मैंने बहुत ही थोड़ा-सा दान पहले भव में सत्पात्र के लिए दिया था, वह ही जिस प्रकार छोटा वट का बीज बड़ा हो जाता है और अनेक शाखा-प्रशाखाओं में फैलता है, उसी प्रकार नाना संपत्तियों के द्वारा अब यह फल रहा है ॥१५॥ यदि उस अत्यल्प दान का ही इतना माहात्म्य है और संसार की उत्तम संपत्तियों का कारण हुआ है, तो स्वर्ग व मोक्ष की संपत्तियाँ अवश्य ही सुलभ रीति से प्राप्त हो जाएगीं। इसमें कोई संदेह नहीं है॥१६॥ लेकिन प्रमाद, मद, मात्सर्य, मोह और अज्ञान आदि दुर्भावों के वशीभूत हुए मूढ़ मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को नहीं विचारते ॥१७॥ वे यह नहीं सोचते कि संसार में न तो उतना माता ही हित कर सकती है तथा न पिता, भाई बंधु और मित्र ही कर सकते हैं। जितना कि निरीह साधु प्रेम, वात्सल्य द्वारा परहित कर सकते हैं ॥१८॥

जिनशासनमुद्दिश्य दीयते किमपीह यत्।
क्रियते कृतकृत्यत्वं तेनैवास्ति विसंशयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(इह) इसलोक में (जिनशासनं उद्दिश्य) जिनशासन को उद्देश्य करके (यत्) जो (किं अपि) कुछ भी (दीयते) दिया जाता है (तेन एव) उसके द्वारा ही (कृतकृत्यत्वं) कृतकृत्यपना (क्रियते) किया जाता है (विसंशयम् अस्ति) इसमें संशय नहीं है।

अधुनाविकला सर्वा सामग्री मम वर्त्तते।
परित्यज्य बहिर्भावं विदधामि ततो हितम् ॥२०॥

अन्वयार्थ–(अधुना) इस समय (मम) मेरे (अविकला) अविकलरूप से (सर्वा सामग्री) सम्पूर्ण सामग्री (वर्त्तते) है (ततः) इसलिए मैं (बहिर्भावं) बाह्यभावों को (परित्यज्य) छोड़कर (हितम्) हित को (विदधामि) करता हूँ।

तथा ह्ययं महामोह-हुताश-शमनाम्बुदः।
अस्माकमेव पुण्येन समायान्मुनिपुङ्गवः ॥२१॥

अन्वयार्थ–(तथा हि) क्योंकि (अयं) यह (अस्माकं) हमारे (पुण्येन एव) पुण्य से ही (महामोह- हुताश-शमनाम्बुदः) महामोहरूपी अग्नि के शमन के लिए मेघ स्वरूप (मुनिपुङ्गवः) मुनिश्रेष्ठ (समायात्) आए हैं।

जर्जरीकुरुतेऽद्यापि न शरीरमिदं जरा।
आक्रमन्ती महावेगाद् वात्येव च कुटीरकम् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(अद्यापि) आज भी जब तक (इदं शरीरं कुटीरकं) इस शरीररूपी कुटिया को (जरा) बुढ़ापा (न जर्जरी कुरुते) जीर्ण-शीर्ण नहीं करता है (च) और (वात्या इव) महावायु के समान (महावेगात्) महावेग से (न आक्रमन्ती) आक्रमण नहीं करता अर्थात् जब तक मृत्यु नहीं आती तब तक उससे पहले ही आत्महित कर लेना चाहिए।

विवेकोऽपि स्थिरीभूतो मनागस्य महामुनेः।
वचसैव हृदि व्यक्ता विज्ञाता च भवस्थितिः ॥२३॥

अन्वयार्थ–(अस्य) इन (महामुनेः) महामुनि के (मनाक् अपि) थोड़े से भी (वचसा एव)

इसलोक में जिनशासन का उद्देश्य करके जो कुछ भी दिया जाता है, उसके द्वारा ही कृतकृत्यपना प्राप्त किया जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१९॥ इस समय मुझे प्रायः सब ही सामग्री प्राप्त है, इसलिए बाहिरी हित को छोड़कर मुझे भीतरी सच्चा हित करना चाहिए ॥२०॥ मेरे पुण्य के प्रताप से ही महामोहरूपी तीव्र अग्नि को शांत करने के लिए मेघ के समान ये मुनिराज मुझे प्राप्त हुए हैं ॥२१॥ जब तक भारी वेग से आँधी के समान दिन पर दिन बीतने के कारण शीघ्र ही समीप आने वाली वृद्धावस्था मेरी इस शरीररूपी झोपड़ी को गिराये नहीं देती है, तब तक उससे पहले ही मुझे अपना हित कर लेना चाहिए ॥२२॥ इन महामुनि के उपदेश से मेरे हृदय में भेद-विज्ञानरूप विवेक प्रकट हुआ है, जो मैंने अपनी पूर्वजन्म की दशा जान ली है, उससे मैं चित्त में

वचन से ही (हृदि) हृदय में (विवेकः) विवेक (स्थिरीभूतः) स्थिर हो गया है (च) और (भवस्थितिः) पूर्वभवों का वृत्तांत (व्यक्ता) स्पष्ट (विज्ञाता) जान लिया है।

पादमूले मुनेरस्य विदधामि ततस्तपः।
विचिन्त्येति ततो नत्वा समुवाच यतीश्वरम् ॥२४॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसलिए (अस्य मुनेः) इन मुनि के (पादमूले) चरण सान्निध्य में मैं (तपः) तप को (विदधामि) धारण करता हूँ (ततः) उसके बाद (इति विचिन्त्य) इस प्रकार विचार कर (यतीश्वरम्) मुनिराज को (नत्वा) नमस्कार कर (समुवाच) बोला।

यथा प्रसादतो नाथ भवतः स्वभवो मया।
सम्यगध्यक्षतां नीतो नरामरनमस्कृतः ॥२५॥

अन्वयार्थ–(नरामर-नमस्कृतः) मनुष्यों और देवों के द्वारा नमस्कार को प्राप्त (यथा) जैसे (भवतः) आपके (प्रसादतः) प्रसाद से (मया) मैंने (स्वभवः) अपना पूर्वभव (सम्यक् अध्यक्षतां) अच्छी तरह से प्रत्यक्षपने को (नीतः) प्राप्त किया अर्थात् जाना है।

न कल्पपादपः सूते न च कामदुधा न च।
चिन्तामणिरचिन्त्यं यत् फलं त्वत्पादसेवनम् ॥२६॥

अन्वयार्थ–हे स्वामिन्! (यत्) जो (त्वत्पादसेवनम्) आपके चरणों की सेवा रूप (अचिन्त्यं) अचिंतनीय (फलं) फल है वह (न कल्पपादपः) न कल्पवृक्ष (न च) और न (कामदुधा) कामधेनु (न च) और न ही (चिंतामणिः) चिंतामणि रत्न (सूते) उत्पन्न करता है।

तावदन्धो जनः सर्वः सर्वतो बोधशून्यकः।
त्वत्पादपद्मपर्यन्तं यावदेति न भक्तितः ॥२७॥

अन्वयार्थ–(तावत्) तब तक (सर्वतः) सब तरफ से (बोधशून्यकः) आत्मज्ञान से शून्य (सर्वः जनः) सभी जन (अन्धः) अन्धे हैं (यावत्) जब तक (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (त्वत्पादपद्मपर्यन्तं) आपके चरण कमलों की निकटता को/सान्निध्य को (न एति) प्राप्त नहीं होते।

स्थिर हो चुका हूँ ॥२३॥ इसलिए इन ही मुनिराज के चरण तल में मुझे दीक्षा लेकर तप धारण करना चाहिए, इस प्रकार हृदय में दृढ़रीति से सोच-समझकर जिनदत्त ने मुनिराज से निवेदन किया कि ॥२४॥ मनुष्यों और देवों के द्वारा नमस्कृत हे नाथ! आपके प्रसाद से मैंने अपने पूर्वजन्म का वृत्तांत स्पष्ट जान लिया है ॥२५॥

आपके चरणों की सेवा से मेरा बड़ा ही हित हुआ है, वह कल्पवृक्षों से नहीं प्राप्त हो सकता, जो फल अभीष्ट पदार्थ देने वाली कामधेनु गाय, प्रसव नहीं कर सकती और जो चिंता करने मात्र से प्रदान करने वाला चिंतामणि रत्न नहीं दे सकता, वह हितदायी फल आपके चरण कमलों के सेवन करने से प्राप्त हुआ है ॥२६॥

जब तक मनुष्य आपके चरणों का सहारा ले उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्त नहीं होता, तब तक वह नेत्रों से देखता हुआ भी वास्तव में अंधा है ॥२७॥

भावि भूतं भवद्वस्तु तदस्तीह न भूतले।
ज्ञाने तव न यत्स्वामिन् करस्थामलकायते ॥२८॥

अन्वयार्थ–(इह) इसलोक में (स्वामिन्!) हे श्रमणों के स्वामी! (भूतले) पृथ्वीतल पर (भूतं) भूतकालीन (भावी) भविष्यकालीन (भवद्) वर्तमान कालिक (तद् वस्तु न अस्ति) वह वस्तु नहीं है (यत्) जो (तव ज्ञाने) आपके ज्ञान में (करस्थामलकायते) हाथ की हथेली पर रखे हुए आँवले समान (न अस्ति) न झलकती हो।

भ्राम्यतां नाथ! जीवाना-मस्मिन्संसारकानने।
सम्यग्मार्गोपदेष्टान्यो, भवतोऽस्ति न कश्चन ॥२९॥

अन्वयार्थ–(नाथ!) हे यति स्वामिन्! (अस्मिन्) इस (संसारकानने) संसाररूपी जंगल में (भ्राम्यतां) भटकते हुए (जीवानाम्) जीवों के (सम्यग्मार्गोपदेष्टा) समीचीन मार्ग का उपदेश करने वाले (भवतः) आपसे (अन्यः) अन्य दूसरा (कश्चन) कोई (न अस्ति) नहीं है।

शरणं च त्वमेवासि सदा दुर्गतिपाततः।
त्रस्यतामस्तु ते नाथ प्रसादो मम दीक्षया ॥३०॥

अन्वयार्थ–(नाथ!) हे ऋषिनाथ! (दुर्गतिपाततः) दुर्गति में गिरने से (सदा) सतत (त्रस्यतां) दुःखी होने वाले जीवों के (त्वं एव) तुम ही (शरणं असि) शरण हो (मम) मेरे लिए (दीक्षया) दीक्षा के द्वारा (ते) तुम्हारा (प्रसादः) प्रसाद/कृपा (अस्तु) प्राप्त होवे।

स निशम्य वचस्तस्य प्रोवाचेति यतीश्वरः।
भव्यचूडामणे! सूक्त-मुक्तं किन्तु परं शृणु ॥३१॥

अन्वयार्थ–(तस्य) उस जिनदत्त के (वचः) वचन को (निशम्य) सुनकर (सः) वह (यतीश्वरः) मुनिराज (इति) इस प्रकार (प्रोवाच) बोले (भव्य-चूड़ामणे!) हे भव्य चूड़ामणि! (सूक्तं उक्तं) तुमने ठीक कहा (किन्तु) परन्तु (परं) फिर भी (शृणु) तुम सुनो।

त्वादृशां सुकुमाराणां तपो नामैव सुन्दरम्।
न जातु सहते जाती-कुसुमं हिमवर्षणम् ॥३२॥

अन्वयार्थ–(त्वादृशां) तुम्हारे जैसे (सुकुमाराणां) सुकुमारों के लिए (तपः) तप (नामैव

हे जिन स्वामिन्! संसार में न तो कोई पदार्थ ऐसा पैदा ही हुआ है, न हो रहा है और न पैदा ही होगा, जो आपके ज्ञान में हाथ की हथेली पर रखे हुए आँवले के समान स्पष्ट और प्रत्यक्ष न दीखता हो ॥२८॥ हे मुनिनाथ! संसाररूपी गहन वन में मार्ग न सूझने से नाना दुःख भोगते हुए इन प्राणियों को सीधा और सच्चा मार्ग दिखाने वाले आप ही हैं और अन्य कोई नहीं ॥२९॥ हे मुनिनाथ! दुर्गति में गिरते हुए, सदा दुखी रहने वाले, जीवों के आप ही सही शरण हैं, मेरे लिए दीक्षा प्रदान कर आप प्रसन्न होवें ॥३०॥ जिनदत्त की उपर्युक्त विनती को सुनकर मुनिराज बोले हे भव्य! तुमने जो कहा है वह ठीक है, पर कुछ वक्तव्य है उसे भी सुनो ॥३१॥ तुम्हारे जैसे सुकुमारों के लिए तप, नाम से ही

सुंदरम्) नाम से ही सुंदर है (जातीकुसुमं) उत्तम जाति का फूल (हिमवर्षणम्) बर्फ की वर्षा को (जातु) कभी भी (न सहते) सहन नहीं करता ।

बालुकाकवलैर्भोक्तुं पातुं ज्वाला हविर्भुजः ।
बद्धुं गन्धवहो दोर्भ्यां तरीतुं मकरालयः ॥३३॥
मेरुस्तोलयितुं खड्ग-धारायां खलु लीलया ।
शक्यं सच्चरितुं जातु प्राप्तुं पारं विहायसः ॥३४॥
न तु नैर्ग्रन्थ्यदीक्षायाः सन्मुखं क्षणमप्यहो ।
भवितुं भावि यत्तत्र कष्टमेव समन्ततः ॥३५॥
क्षुधादि च तथा ह्यङ्ग-नाग्न्यं[1]मङ्गोपतापकम् ।
धर्त्तव्यं विधुतोद्दाम-मनोमल्लविजृम्भितम् ॥३६॥विशेषकम्॥

अन्वयार्थ—(बालुका-कवलैर्भोक्तुं) कौर/ग्रासों के द्वारा रेत खाना (हविर्भुजः ज्वाला) अग्नि की ज्वाला (पातुं) पीना (गन्धवहः) वायु (बद्धुं) बांधना (दोर्भ्यां) भुजाओं से (मकरालयः) समुद्र को (तरीतुं) तैरना (खलु) नियम से (लीलया) लीलापूर्वक (खड्गधारायां) तलवार की धार पर (सच्चरितुं) गमन करना (मेरुः) मेरुपर्वत (तोलयितुं) तौलना (विहायसः) आकाश के (पारं) पार (प्राप्तुं) प्राप्त करना (जातु) कभी (शक्यं) संभव है (तु) किन्तु (अहो) आश्चर्य है! (नैर्ग्रन्थ्य-दीक्षायाः) परिग्रह रहित जिनदीक्षा के (सन्मुखं) सामने (भवितुं) होना (क्षणम् अपि) क्षणभर भी (न शक्यं) संभव नहीं है (यत्) क्योंकि (तत्र) उसमें (समन्ततः) सब ओर से (कष्टम् एव) कष्ट ही (भावि) होने वाले (तथा हि) जैसे कि (क्षुधादि) भूख-प्यास आदि परीषह (अङ्गोपतापकं) अंगों को संतप्त करने वाली (अङ्ग-नाग्न्यम्) शरीर की नग्नता (च) और (विधुतोद्दाम-मनोमल्ल-विजृम्भितम्) उत्कट मनरूपी मल्ल की चेष्टा को करना (धर्त्तव्यं) धारण करना रोकना ।

मनसापि न यः शक्यः पुंसां चिन्तयितुं स च ।
महाव्रतमहाभारो धर्त्तव्यो जीवितावधि ॥३७॥

अन्वयार्थ—(च) और (यः) जो (पुंसां) पुरुषों के (मनसा अपि) मन से भी (चिन्तयितुं)

सुंदर है उत्तम जाति का फूल बर्फ की वर्षा को कभी भी सहन नहीं करता ॥३२॥

बालू का ग्रास बनाकर खाना, अग्नि की ज्वाला को पीना, हवा को गांठ में बांधना, समुद्र को हाथों से तैरकर पार करना, मेरुपर्वत को तौलना, तलवार की नोक पर चलना और आकाश के पार पहुँचना अर्थात् जिस प्रकार बालू खाना आदि कार्य कठिन है, उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारण कर निर्वाह करना भी कठिन ही नहीं असंभव सरीखा है बल्कि यहाँ तक कहिए कि उपर्युक्त बालू खाना आदि तो किसी प्रकार किए भी जा सकते हैं परन्तु जिनदीक्षा का पालन करना नहीं हो सकता क्योंकि उसमें सब तरह से शरीर को असह्य कष्ट भोगने पड़ते हैं । जैन तप धारण करने से भूख-प्यास की बाधा सहनी होगी, जन्म भर सब समय सर्वथा वस्त्र रहित नग्न रहना पड़ेगा, मनरूपी मल्ल का उत्कट वेग रोकना होगा ॥३३,३४,३५,३६॥ और जो पुरुषों के मन से भी चिंतन करने के

१. अङ्गनग्नता ।

चिंतन करने के लिए (न शक्यः) समर्थ नहीं है (सः) वह (महाव्रतमहाभारः) महाव्रतों का महाभार (जीवितावधिः) जीवन पर्यंत (धर्त्तव्यः) धारण करना पड़ता है ।

स्वच्छन्दं स्पन्दनं नैव शृङ्खलाभिरिवाभितः ।
यकाभिस्ताश्च संसेव्या सदा समितयो ध्रुवम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(च) और (अभितः) सब ओर से (शृङ्खलाभिः इव) सांकलों से बंधे हुए के समान (यकाभिः) जिन समितियों द्वारा (स्वच्छन्दं) स्वच्छंदतापूर्वक (स्पन्दनं) प्रवृत्ति (नैव) नहीं होती (ध्रुवम्) नियम से (ताः) वे (समितयः) पाँचों समितियाँ (सदा) हमेशा (संसेव्याः) अच्छी तरह से सेवन करने योग्य/की जाती हैं ।

एकैकशोऽपि यैर्विश्व-माक्रान्तं करणानि च ।
जेयानि तानि सर्वाणि मनसा सह सर्वदा ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यैः) जिन (एकैकशः अपि) एक-एक इन्द्रिय के द्वारा भी (विश्वं) विश्व (आक्रान्तं) व्याप्त है (मनसा सह) मन के साथ (तानि) वे (सर्वाणि) सभी (करणानि) छहों इन्द्रियाँ (जेयानि) जीतने योग्य हैं ।

यथाकालं च कर्त्तव्यं षडावश्यक-मञ्जसा ।
प्रमादेन विना भद्र ! श्रद्धा-संशुद्ध-चेतसा ॥४०॥

अन्वयार्थ—(भद्र !) हे भद्र ! (श्रद्धा-संशुद्ध-चेतसा) श्रद्धा के द्वारा विशुद्ध मन से (प्रमादेन विना) आलस्य के बिना (अञ्जसा) वास्तविक रूप से (यथाकालं) यथासमय (षडावश्यकं) छह आवश्यक (कर्त्तव्यं) पालन करना होगा ।

नितान्तं सुकुमारस्य महामाल्योचितस्य च ।
कार्यं केशकलापस्य लुञ्चनं सुधिया तथा ॥४१॥

अन्वयार्थ—(च) तथा (नितान्तं) अत्यन्त (सुकुमारस्य) सुकुमार (तथा) और (महा-माल्योचितस्य) महामालाओं से व्याप्त (केश-कलापस्य) बालों के समूह का (सुधिया) बुद्धिमान मुनि के द्वारा (लुञ्चनं) लौंच अवश्य (कार्यं) करना होता है ।

लिए समर्थ नहीं है, वह महाव्रतों का महाभार जीवन पर्यंत धारण करना पड़ता है ॥३७॥ जिस प्रकार चारों तरफ सांकलों से बंधा हुआ मनुष्य, अपने हाथ पैर किसी तरफ किसी तरह नहीं हिला डुला सकता, उसी प्रकार समितियों के वशीभूत हुआ जैनमुनि स्वच्छंद मन, वचन, काय की प्रवृत्ति नहीं कर सकता ॥३८॥ जिन एक-एक इन्द्रियों ने भी अपनी प्रबलता से, संसार के लोगों को वशकर पराधीन बना दिया है, उन मन सहित छहों इन्द्रियों को अपने वश में करना होगा ॥३९॥ हे भद्र ! जैनदीक्षा से दीक्षित होकर अनियम से चलना नहीं होता । शास्त्रोक्त षडावश्यक अपने-अपने समय पर करने पड़ते हैं, प्रमाद को तिलाञ्जलि दे देनी होती है । श्रद्धा से मन सर्वथा शुद्ध रखना होता है ॥४०॥ फूलों की माला के समान सुकोमल केशों को, हाथ की मुष्ठियों द्वारा उखाड़ना पड़ता है । जिसका सहना अत्यन्त क्लेशकारी कार्य है ॥४१॥

१. याभिः "स्वार्थे कः प्रत्ययः" समितिभिरित्यर्थः

रोम-वल्कल-पत्राद्या-वरणान्यपि यत्र नो।
(आ)अचेलक्यं[1] तदत्यन्त-क्लेशकारि सहेत कः ॥४२॥

अन्वयार्थ–(यत्र) जहाँ पर (रोम-वल्कल-पत्राद्यावरणानि अपि) भेड़ आदि के बाल, वृक्षों के बकले, पत्ते आदि के आवरण भी (नो) नहीं होते (तद्) वह (अत्यन्त-क्लेशकारि) अत्यंत क्लेश को करने वाला (अचेलक्यं) अचेलकपना/वस्त्र रहितपना (कः) कौन (सहेत) सहन करेगा।

आजन्म मल-जल्लादि-लिप्तदेहतया स्थितिः।
सशर्करा धरा शय्या मुख-वासादि -वर्जनम् ॥४३॥

अन्वयार्थ–(आजन्म) जीवन पर्यन्त (मलजल्लादिलिप्तदेहतया) मल जल्लादि से लिप्त देहरूप से (स्थितिः) स्थिति रखना (सशर्करा) कंकड़-पत्थर से सहित (धरा) भूमि (शय्या) शयन शय्या होती है (मुखवासादिवर्जनम्) मुख को सुवासित करने आदि का त्याग करना अर्थात् दन्तधावन का त्याग करना।

वल्लनं पाणिपात्रेण काले कार्यं यथाविधि।
स्थितेन सर्वदा सकृत् कायस्य स्थितिहेतवे ॥४४॥

अन्वयार्थ–(कायस्य) शरीर की (स्थिति-हेतवे) स्थिरता के लिए (सर्वदा) सदा (सकृत्) एक बार (स्थितेन) खड़े होकर (यथाविधि) शास्त्रोक्त विधि अनुसार नवधाभक्तिपूर्वक (काले) योग्य समय दिन में (पाणिपात्रेण) करपात्र से (वल्लनं) आहार (कार्यं) करना होता है।

इति मूलगुणा यत्र समासेन प्रदर्शिताः।
त्रिकालयोगसेवाद्या नियमाश्चोत्तरे पराः ॥४५॥

अन्वयार्थ–(यत्र) यहाँ पर (इति) इस प्रकार (समासेन) संक्षेप से (मूलगुणाः) मूलगुण (प्रदर्शिताः) दर्शाए/वर्णन किए हैं (च) और (पराः) दूसरे (त्रिकालयोगसेवाद्याः) त्रिकाल योग सेवा आदि अनेक (नियमाः उत्तरे) नियम उत्तर गुण हैं।

दुःसहाः सर्वतः सन्ति प्रसृताश्च परीषहाः।
ध्यानाध्ययनकर्माणि कर्त्तव्यानि निरन्तरम् ॥४६॥

अन्वयार्थ–(सर्वतः) सब तरफ से (प्रसूताः) उत्पन्न हुए (परीषहाः) परीषह (दुःसहाः) दुःसह

उस अवस्था में कपड़े की तो क्या बात? रोम, बल्कल और पत्तों तक का आवरण निषिद्ध है, जिसका कि सहना अत्यन्त क्लेशकारी है ॥४२॥ दीक्षा लेने के बाद जन्म भर स्नान नहीं होता, जिससे कि धूलि आदि मलों से मलिन देह सर्वदा रखनी पड़ती है, दंतधावन भी नहीं करना होता और कंकड़-पत्थरमयी भूमि पर, एक करवट से सोना पड़ता है ॥४३॥ शरीर की स्थिरता के लिए, सदा दिन में एक बार खड़े होकर, शास्त्रोक्त विधि अनुसार नवधाभक्तिपूर्वक सूर्योदय व अस्त के ३ मुहूर्त्त बाद व पहले, योग्य समय में करपात्र से आहार ग्रहण करना होता है ॥४४॥ इस प्रकार जिन बातों का उल्लेख किया गया है वे तो मूलगुण हैं, इनके सिवा त्रिकाल योग धारण, बारह तप, बाईस परीषह आदि उत्तर गुण बहुत से हैं ॥४५॥ जैसे कि भूख-प्यास की बाधा आदि बाईस परीषह सहने पड़ते हैं,

१. वस्त्रादिरहितत्वं।

(सन्ति) होते हैं (च) और (ध्यानाध्ययनकर्माणि) ध्यान-अध्ययन आदि कार्यों को (निरन्तरम्) बिना अन्तर के सतत (कर्तव्यानि) करना चाहिए ।

तत्रात्मानं कथं क्षेप्तुं सर्वदा सुखलालितम् ।
शक्नुवन्ति महाबुद्धे ! कोमलाङ्गा भवादृशाः ॥४७॥

अन्वयार्थ–(महाबुद्धे !) हे महाबुद्धिमन् ! (सर्वदा सुखलालितम्) हमेशा सुखपूर्वक पालित (आत्मानं) अपने आपको (भवादृशाः) तुम्हारे जैसे (कोमलाङ्गाः) कोमल शरीर वाले (तत्र) उस तप में (क्षेप्तुं) डालने के लिए (कथं) कैसे (शक्नुवन्ति) समर्थ हो सकते हैं ?

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां दानं सर्वाङ्गि-तर्पकम् ।
विवेकश्चेदृशो भद्र ! तपोऽन्यत्ते किमुच्यते ॥४८॥

अन्वयार्थ–(भद्र !) हे भद्र ! (श्रीमज्जिनेन्द्राणां) श्रीमान् जिनेन्द्र भगवान की (पूजा) पूजा/उपासना (च) और (सर्वाङ्गि-तर्पकम्) सभी प्राणियों को तृप्त/संतुष्ट करने वाला (दानम्) दान (ईदृशः विवेकः) इस तरह का विवेक है और (ते) तुम्हारे लिए (अन्यत्) अन्य/दान पूजा से भिन्न (तपः) तप (किं) क्या (उच्यते) कहा जाये ?

स्वर्गापवर्गसौख्यस्य पारम्पर्येण कारणम् ।
गार्हस्थ्यमेव यद्युक्तं पालितुं प्रियदर्शनम् ॥४९॥

अन्वयार्थ–(प्रियदर्शनं) सम्यग्दर्शनपूर्वक (यत्) जो पूजा दानरूप (गार्हस्थ्यं एव) गृहस्थ धर्म है वह ही (स्वर्गापवर्ग-सौख्यस्य) स्वर्ग और मोक्ष के सुख का (पारम्पर्येण) परम्परा से (कारणम्) कारण है वह (पालितुं) पालन करने के लिए (उक्तं) कहा गया है ।

अतो गृहस्थ-भावस्थो ज्ञात-तत्त्वो भवानिह ।
दान-पूजा-रतः शील-सम्पन्नस्तनुताद्धितम् ॥५०॥

अन्वयार्थ–(अतः) इसलिए (भवान्) आप (इह) यहाँ पर (गृहस्थभावस्थः) गृहस्थ धर्म में

ध्यान-अध्ययन का अभ्यास करना होता है और शास्त्र का पठन-पाठन आदि अनेक नियम साधने होते हैं ॥४६॥ हे प्रबुद्धवर ! हमेशा सुख-सुविधाओं में पले हुए, तुम्हारे जैसे कोमल शरीरधारी, अपने आपको उस तप में तपाने के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ॥४७॥ तुम्हारे सरीखों के लिए तो श्री वीतराग जिनदेव की पूजा, सम्पूर्ण प्राणियों को तृप्त करने वाला दान आदि शुभ कर्म करते हुए गृहस्थ धर्म पालना ही यथेष्ट है, वह ही तप तुम्हारे लिए पर्याप्त है और क्या बताया जाये ? ॥४८॥ गृहस्थ धर्म भी परम्परा से स्वर्ग व मोक्ष का कारण है, इसलिए तुम गृहस्थ धर्म को, सम्यग्दर्शन की प्रीतिपूर्वक पालन करो ॥४९॥ इसलिए तुम तत्वों के भले प्रकार ज्ञाता होकर दान-पूजा में रत होते हुए श्रावकों के व्रत निरतिचार पालते रहो और उसी से अपना यथाशक्ति हित करो । (यहाँ सर्वप्रथम गृहस्थधर्म को पालने का उपदेश दिया, फिर इसमें परिपक्वता होने पर, मुनिधर्म का पालन करना चाहिए । अमृतचन्द्र स्वामी ने जो पहले मुनिधर्म के उपदेश की बात कही है और जो आचार्य गृहस्थ धर्म का प्रथम उपदेश देता है वह दुर्गति, निग्रह प्रायश्चित का भागी है, यह उनकी

स्थित (ज्ञाततत्वः) तत्त्व को जानने वाले (दानपूजारतः) दान-पूजा में लीन (शीलसम्पन्नः) शील से सहित अपने (हितम्) हित को (तनुतात्) विस्तृत करो।

विरते प्रतिपद्येति यतीशे स जगाविति।
स्मित्वोचितं न नो नाथ! गुरूणां दातुमुत्तरम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार (प्रतिपद्य) प्रतिपादनकर/समझाकर (यतीशे) मुनिराज के (विरते) रुक जाने पर (सः) वह जिनदत्त (स्मित्वा) हँसकर (जगौ) बोला (नाथ!) हे स्वामिन्! (नः) हमारा (गुरूणां) गुरुओं के लिए (उत्तरं दातुं) उत्तर देना (उचितं न) ठीक नहीं है।

जानन्ति च य एवात्र युक्तायुक्तं यथाभवत्।
प्रसादो जल्पयत्येष तेषामेव तथापि माम् ॥५२॥

अन्वयार्थ–(च) तथा (यत्र) यहाँ (यः) जो (युक्तायुक्तं) उचित अनुचित (यथाभवत्) जैसे होता है (तथा एव) वैसा ही (जानंति) जानते हैं (माम् अपि) मुझे भी (तेषाम्) उनका (प्रसादः एव) प्रसाद ही (जल्पयति) बुलवा रहा है/कहलवा रहा है।

तपसो दुष्करत्वं यत् पूर्वमुक्तं महामुने।
तत्तथैव समस्तं हि को न वेत्तीति बुद्धिमान् ॥५३॥

अन्वयार्थ–(महामुने) हे महामुने! (यत्) जो (पूर्वं) पहले आपने (तपसः) तप की (दुष्करत्वं) कठिनाई को (उक्तं) कहा है (तत्) वह (समस्तं) सभी (तथा एव) वैसी ही है (इति) इस प्रकार (कः) कौन (बुद्धिमान्) चतुर (न) नहीं (वेत्ति) जानता है।

परं विचार्यते चारु-चारित्रेयं भवस्थितिः।
यथा यथा कृतं कष्टं प्रतिभाति तथा तथा ॥५४॥

अन्वयार्थ–(परं) किन्तु (इयं) यह (भवस्थितिः) संसार की स्थिति (यथा यथा) जैसे-जैसे (विचार्यते) विचारी जाती है (तथा तथा) वैसे-वैसे (कष्टं कृतं) कष्टकारी (प्रतिभाति) प्रतिभाषित होती है।

ही धारणा है, आगम परम्परा में तीर्थङ्कर भगवान भी समवशरण में सर्वप्रथम श्रावकधर्म का ही उपदेश देते हैं। पद्मपुराण में द्युति नाम के आचार्य देव ने भरत, राम आदि को गृहस्थधर्म का उपदेश दिया। पुराणों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। उन्होंने स्वयं, श्रावकधर्म का उपदेश पहले, फिर मुनिधर्म का उपदेश बाद में दिया है) ॥५०॥ सम्यक् प्रकार से मुनिधर्म का ज्ञान कराया और उसकी कठिनाइयों का उपदेश दिया। इस प्रकार समझाकर जब यतिराज ने विराम लिया, तब जिनदत्त मुस्कुराता हुआ बोला हे नाथ! गुरुजनों को उत्तर देना उचित नहीं है ॥५१॥ तथा यहाँ जो उचित-अनुचित जैसे होता है वैसा ही आप जानते हैं, मुझे भी उनका यह प्रसाद ही बुलवा रहा है ॥५२॥ हे महामुने! आपने उपर्युक्त प्रकार तप को अति दुष्कर वर्णित किया है, वह उसी प्रकार कठिन है। समस्त बुद्धिमानों में कौन इसे नहीं जानता? ॥५३॥ जिसको संसार, सुखदायी समझता है वह भवस्थिति ज्यों-ज्यों विचारी जाती है, त्यों-त्यों मुझे, कष्टदायी प्रतीत होती है ॥५४॥

निशात-शस्त्र-संघात - घातखण्डितविग्रहाः ।
परस्पर-परीवाद - शरणाहित-निग्रहाः ॥५५॥
महावात-महाशीत - महातप-कदर्थिताः ।
स्वकाय-कर्त्तनग्रास - फलवद्भोजनार्थिनः ॥५६॥
दन्तौष्ठकण्ठहृत्पार्श्व - मुखतालुककुक्षिणः ।
वैतरण्याहता तर्षा-वसा-पूयास्त्र-वारिणः ॥५७॥
धौतासि-पत्रसंकाश - पत्रकृत्वे वनान्तरे ।
श्व-काक-कङ्क-गृध्राहि-श्वापदानां नगान्तरे ॥५८॥
क्वचिद्यन्त्रैः क्वचित्कुम्भी-पाकैरायसकण्टकैः ।
क्वचित् कूट-शाल्मल्या - रोहावतरणैरपि ॥५९॥
शारीरं मानसं वाचं सहन्ते शरणोज्झिताः ।
यावदायुर्न किं दुःखं नरके नारका भृशम् ॥६०॥कुलकं॥

अन्वयार्थ—(निशात-शस्त्र-संधात-घात-खण्डित-विग्रहाः) अतितीक्ष्ण शस्त्र-समूह के घात से खण्ड-खण्ड शरीर वाले और (परस्पर-परीवाद-शरणाहित-निग्रहाः) परस्पर कलह से रक्षा को प्राप्त निग्रह/दण्ड वाले (दन्तोष्ठ-कण्ठ-हृत्पार्श्व-मुख-तालुक-कुक्षिणः) दाँत, ओंठ, कण्ठ, हृदय, बगलें, मुख, तालु पेट वाले (महावात-महाशीत-महातप-कदर्थिताः) महावायु, महाशीत, महान् गर्मी से ताड़ित/पीड़ित (स्वकाय-कर्त्तन-ग्रास-फलवद्भोजनार्थिनः) अपने शरीर के कटने से ग्रासरूप फल के समान, दूसरों के शरीर का भोजन चाहने वाले (तर्षा-वसा-पूयास्त्र-वारिणः) प्यास से संतप्त, चर्बी, पीप, खूनरूपी जल से (वैतरण्याहताः) वैतरणी नदी के द्वारा पीड़ित (वनान्तरे) वन के बीच (नगान्तरे) पहाड़ों पर (श्व-काक-कङ्क-गृध्राहि-श्वापदानां) कुत्ता, कौआ, बगुले, गिद्ध, सांप, सियारों के और (कूट-शाल्मल्यारोहावतरणैः) ऊँचे सेमल वृक्ष के ऊपर चढ़ाने और उतारने के द्वारा (धौतासिपत्र-संकाश-

---

देखिए ! जिनेन्द्र भगवान ने जो कुल गतियाँ बतलाई हैं वे नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देव के भेद से चार प्रकार की हैं । नरक में जो जीव रहते हैं, उनके कष्टों का क्या पूछना ? वहाँ तीखे-तीखे शस्त्र-अस्त्रों से उनके शरीर निर्दयतापूर्वक काटे जाते हैं, एक दूसरे से सदा झगड़ा ठाना करते हैं और अपना-अपना बैर निकालते हैं । परस्पर के कलह से शरण रहित होते हैं । यहाँ जिस तरह की दुर्गंध पवन बहती है, जैसा शीत पड़ता है और जैसी उष्णता सताती है, उससे सबका दिल दहल सकता है, उस जगह के लोग सदा भूखे ही रहते हैं, एक-दूसरे के शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर निगल जाने की इच्छा करने वाले उनके दाँत, ओंठ, कंठ, छाती, बगलें, मुँह, तालु और काँखे आदि समस्त अवयव वैतरणी के क्षारमय दुर्गंध घिनावने जल से व्याप्त हो जाते हैं, जिससे कि वे गल-गल कर गिरने लगते हैं । तलवार की धार के समान पैने वृक्ष के पत्ते उनके शरीर पर पड़ते हैं, कुत्ते, कौए, गीदढ़, सियार, साँप आदि हिंसक जहरीले जंतुओं के आकार में परिणत नारकी परस्पर एक-दूसरे अपने-अपने बैरी को निगल जाने की चेष्टा करते हैं और शक्ति भर दुख पहुँचाते हैं । वहाँ कोई नारकी तो

पत्रकृत्वे) पैनी तलवार के समान पत्तों के द्वारा काटने पर (क्वचिद्यन्त्रैः) कही पर यंत्रों के द्वारा (क्वचित्कुम्भीपाकैः) कहीं पर कुम्भी पाकों के द्वारा (आयसकण्टकैः) लोहे के काँटों के द्वारा (च) और (क्वचित्) कहीं पर (शरणोज्झिताः) शरण से रहित (शारीरं) शारीरिक (मानसं) मानसिक (वाचं) वाचनिक (दुःखं) दुख को (यावत्) जब तक (आयुः) जीवन है (तावत्) तब तक (नारकाः) नारकी जीव (नरके) नरक में (किं न सहन्ते) क्या नहीं सहन करते अर्थात् सब सहन करते ही हैं।

सर्वदैव परायत्त - वृत्तयः प्रतिकारतः।
विनारण्यभुवो लोक-मध्यजास्तु समन्ततः ॥६१॥
हेयादेयविकल्पेन विकलाः सर्वदा त्रिधा।
सहन्ते दुःखसम्भारं तिर्यञ्चोऽपि दिवानिशम् ॥६२॥युग्मं॥

अन्वयार्थ–(तु) और (लोकमध्यजाः) लोक के मध्य में उत्पन्न (अरण्यभुवः) जंगल की भूमि के (समन्ततः) सब ओर से (सर्वदा एव) सदा ही (प्रतिकारतः) प्रतिकार से (बिना) रहित (परायत्त-वृत्तयः) परतन्त्र वृत्ति वाले होने से (हेयादेयविकल्पेन) हेय-उपादेय के विकल्प से (विकला) रहित (तिर्यञ्चः अपि) तिर्यञ्च भी (दिवानिशम्) रात-दिन (सर्वदा एव) सदा ही (त्रिधा) तीन प्रकार के [मानसिक, कायिक व वाचनिक] (दुःख-सम्भारं) दुख के बहुत भारी भार को (सहन्ते) सहन करते हैं।

प्राप्यते पुण्ययोगेन मानुषत्वं कथञ्चन।
भ्राम्यता भूरिदुःखासु चिरकालं कुयोनिषु ॥६३॥

अन्वयार्थ–(भूरिदुःखासु) बहुत भारी दुख वाली (कुयोनिषु) खोटी योनियों में (चिरकालं) चिरकाल तक (भ्राम्यता) भ्रमण करते हुए (पुण्ययोगेन) पुण्यकर्म के योग से (कथञ्चन) किसी तरह (मानुषत्वं) मनुष्यपना (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है।

नृत्वेऽप्यनार्यखण्डेषु जन्म यत्र जिनोदितः।
स्वप्नेऽपि दुर्लभो धर्मो देहिनामघमोहिनाम् ॥६४॥

अन्वयार्थ–(अघमोहिनाम्) पाप से मोहित (देहिनाम्) प्राणियों के (नृत्वे अपि) मनुष्यपना होने

कोल्हू में डालकर पीसे जाते हैं, कोई कुंभीपाक में पकाये जाते हैं, कोई लोहे के भालों से छेदे जाते हैं और कोई कूट शाल्मली वृक्ष पर चढ़ाए-उतारे जाते हैं। इस प्रकार नाना तरह से वहाँ के जीवों को असह्य शारीरिक, मानसिक और वाचनिक दुःख उठाने पड़ते हैं परन्तु जब तक उनकी आयु रहती है, तब तक उन्हें बलात्कार सहने ही पड़ते हैं ॥६०॥ पशु पर्याय की क्या कथा ? सदैव पराधीन वृत्ति रहती है। दुःख के प्रतिकार करने की योग्यता ही नहीं है। इस मध्यलोक में उत्पन्न होकर भी चारों ओर से वन में असहाय हो दुःख ही सहते। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचारहीन होकर मानसिक, दैहिक और भौतिक तापों के भयंकर दुःख समूह को सहन किया करते हैं। रात-दिन विपत्तियों का ही शिकार बने रहते ॥६१,६२॥ तीसरी मनुष्य गति है, पहले तो उसका मिलना ही इस जीव को महा कठिन है, यदि नाना कुयोनियों में बहुत समय तक भ्रमण कर इस जीव को किसी प्रकार उसकी प्राप्ति भी हो जाती है ॥६३॥तो फिर प्रायः अनार्यखंडों में जन्म हो जाता है, जहाँ पर कि

पर भी (अनार्यखण्डेषु) अनार्य खण्डों में (जन्म) जन्म होता है (यत्र) जहाँ पर (जिनोदितः) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित (धर्मः) धर्म (स्वप्ने अपि) स्वप्न में भी (दुर्लभः) दुर्लभ है ।

आर्यखण्डेऽपि सम्प्राप्ते दैवादेतन्न लभ्यते ।
सुजातिः सुकुलं सर्व-शरीरपरिपूर्णता ॥६५॥

अन्वयार्थ–(दैवात्) भाग्य से (आर्यखण्डे संप्राप्ते अपि) आर्यखण्ड के प्राप्त होने पर भी (एतत्) यह (सुकुलं) अच्छा कुल (सुजातिः) श्रेष्ठजाति (सर्वशरीरपरिपूर्णता) शरीर की सभी पूर्णता (न लभ्यते) प्राप्त नहीं होती ।

कुलजात्यादिसम्पत्तौ गर्भादेव विपत्तयः ।
शतशः सन्ति योगीन्द्र ! लंघितास्ताः कथञ्चन ॥६६॥

अन्वयार्थ–(योगीन्द्र !) हे योगिराज ! (कुलजात्यादिसम्पत्तौ) सुकुल सुजाति आदि की प्राप्ति होने पर भी (गर्भात् एव) गर्भ से ही (शतशः) सैकड़ों (विपत्तयः) विपत्तियाँ (सन्ति) होती हैं (ताः) उनको (कथञ्चन) किसी तरह (लंघिताः) लांघा/पार किया जाता है ।

तत्रापि मुग्ध-बुद्धीनां बाल्यं यौवन-मङ्गिनाम् ।
कामग्रह-गृहीतानां वार्द्धक्यं विकलात्मनाम् ॥६७॥

अन्वयार्थ–(तत्र अपि) उसमें भी (मुग्धबुद्धीनां) मूर्ख बुद्धि वाले (अङ्गिनाम्) प्राणियों की (बाल्यं) बाल-पना/अवस्था (कामग्रहगृहीतानां) कामरूपी पिशाच से गृहीतों की (यौवनं) यौवन अवस्था और (विकलात्मनाम्) शरीर से विकल/असमर्थकों की (वार्द्धक्यं) वृद्ध अवस्था विपत्तिमय होती है ।

अनिष्टाभीष्टसंयोग-वियोगौ धनहीनता ।
आजन्म रोगभूयस्त्वं परकिङ्करता सदा ॥६८॥

अन्वयार्थ–(अनिष्टाभीष्ट-संयोग-वियोगौ) अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग (धनहीनता) निर्धनता (आजन्म-रोग-भूयस्त्वं) जीवन पर्यंत रोगीपना और (सदा) हमेशा (पर-किङ्करता) दूसरे की नौकरी/सेवा करना ।

जिनेन्द्र भगवान के उपदिष्ट धर्म के सुनने का सौभाग्य स्वप्न में भी दुर्लभ है ॥६४॥ यदि आर्यखंड में भी जन्म हो जाये, तो वहाँ भी सुजाति, सुकुल में जन्म होना और सम्पूर्ण शरीर का निरोगपना व सम्पूर्ण होना कठिन है ॥६५॥ हे योगीन्द्र ! किसी प्रकार सुकुल, सुजाति आदि की प्राप्ति होने पर भी गर्भवास से ही सैकड़ों विपत्तियाँ आ जाती हैं, किसी तरह उन्हें पार कर जन्म हुआ ॥६६॥ उसमें तो लड़कपन तो मूर्खता, खेल-कूद, बेवकूफी में ही निकल जाता है, युवावस्था कामरूपी पिशाच के फंदे में पड़कर समाप्त हो जाती है और बुढ़ापे में कुछ सुध-बुध नहीं रहती । समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से धर्म-कर्म भी कुछ सध नहीं सकता । इसी का पं. दौलतराम जी ने छहढाला में इस प्रकार वर्णन किया है "बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो । अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥६७॥" इसके सिवा अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, दरिद्रता, रोगीपना आदि आपत्तियों से पद-पद पर दुःख ही उठाना पड़ता है । इस तरह मनुष्यों को सर्वदा दुःख ही दुःख बना रहता है ॥६८॥

इत्येवं दुःखखिन्नानां नराणां सुखसंकथा।
मस्तकोपान्तविश्रान्त-यमाहीनां सुदुर्लभा ॥६९॥विशेषकं॥

अन्वयार्थ—(इत्येवं) इत्यादि प्रकार से (दुःखखिन्नानां) दुखों से खिन्न (मस्तकोपान्त-विश्रान्त-यमाहीनां) पैर से मस्तक पर्यंत थके हुए मृत्युरूपी सर्प वाले (नराणां) मनुष्यों की (सुख-संकथा) सुख की सुकथा करना (सुदुर्लभा) अत्यंत दुर्लभ है।

देवानामपि दुःखानि मानसानि पदे पदे।
पश्यतामन्यदेवानां विभूतिर्भुवनोत्तमाः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अन्य-देवानां) अन्य देवों की (भुवनोत्तमा) लोक में उत्तम (विभूतिः) संपदा (पश्यताम्) देखने वाले (देवानां अपि) देवों के भी (पदे पदे) पद-पद पर (मानसानि) मानसिक (दुःखानि) दुख होते हैं।

पातने यानि दुःखानि क्रन्दतां शरणोज्झितम्।
तैश्च नारकदेशीयाः द्युसदोऽपि भवन्ति ते ॥७१॥युग्मं॥

अन्वयार्थ—(च) और (पातने) स्वर्ग से च्युत होने में (शरणोज्झितम्) शरण से रहित (क्रन्दतां) आक्रंदन करने वाले देवों के (यानि दुःखानि) जो दुःख होते हैं (तैः) उन दुःखों से (ते द्युसदः अपि) वे स्वर्ग के देव भी (नारक-देशीयाः) नरकों के समान दुखी (भवन्ति) होते हैं।

अतोऽनादौ न कालेऽभूद् भ्राम्यतां भवकानने।
सावस्था जायते यस्यां सुखं निर्दुःखमङ्गिनाम् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(अतः) इसलिए (अनादौ काले भवकानने) अनादिकाल से संसाररूपी वन में (भ्राम्यतां) भ्रमण करते हुए (अङ्गिनाम्) प्राणियों के (सावस्था) वह अवस्था (न) (अभूद्) नहीं हुई (यस्यां) जिसमें (निर्दुःखं) दुख रहित (सुखं) सुख (जायते) होता हो।

न चास्ति किञ्चनाप्यत्र यन्न सोढुं सहस्रशः।
दुःखमेतेन जीवेन तन्नाथाजानता हितम् ॥७३॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन्! (किञ्चन हितम् अजानता) कुछ भी हित को नहीं जानते हुए

इत्यादि प्रकार से दुखों से खिन्न, पैर से मस्तक पर्यंत थके हुए, मृत्युरूपी सांप से सताये गए, मनुष्यों के विषय में सुख की कथा/कल्पना करना अत्यन्त दुर्लभ है ॥६९॥ सर्वजन प्रसिद्ध देवगति में भी, देवों के अन्य देवों की विभूति देखने से पद-पद पर मानसिक दुःख होते हैं ॥७०॥ चौथी देवगति है, वहाँ यद्यपि शारीरिक दुःख नहीं हैं तो भी जो मानसिक दुःख हैं वह अवर्णनीय हैं। स्वर्ग में देव अपने से अधिक सम्पदा वाले अन्य देवों को देखकर जला करते हैं। जिस समय उनकी आयु छह महीने की शेष रह जाती है, उस समय उन्हें अवधिज्ञान से मालूम हो जाने से नरक के समान मानसिक दुःख भोगना पड़ता है ॥७१॥ इसलिए इस संसार में न तो ऐसी कोई अवस्था है और न कोई समय है, जहाँ पर कि प्राणियों को दुख रहित सुख-सुख होता हो ॥७२॥ इसलोक में कोई न तो ऐसी जगह है, जहाँ पर यह जीव अनंतों बार न पैदा हुआ हो और न कोई ऐसा दुःख है, जो हजारों बार न भोगा

(अत्र) यहाँ पर (तत् दुःखं) वह दुख (न) नहीं (अस्ति) है (यत्) जो (एतेन) इस (जीवेन) जीव के द्वारा (सहस्रशः) हजारों बार (न सोढुं) सहन नहीं किया गया हो।

इदानीञ्च प्रसादेन भवतां भुवनार्चित!।
प्राप्ते विवेकमाणिक्य-दीपके किं प्रमाद्यते ॥७४॥

अन्वयार्थ–(च) और (भुवनार्चित) हे लोकपूज्य गुरुदेव! (इदानीं) इस समय (भवता प्रसादेन) आपकी कृपा से (विवेक-माणिक्य-दीपके) विवेकरूपी रत्न दीपक के (प्राप्ते) प्राप्त होने पर (किं) क्या (प्रमाद्यते) प्रमाद किया जाये?

कल्याणकारिणी स्वामिन् चेदियं गृहमेधिता।
जायते जगतीवन्द्य वृथैवार्य श्रमस्तव ॥७५॥

अन्वयार्थ–(स्वामिन्) हे स्वामिन्! (चेत्) यदि (इयम्) यह (गृहमेधिता) गृहस्थावस्था (कल्याण-कारिणी) कल्याण करने वाली है तो (आर्य!) हे आर्यवर! (तव) आपका (जगतीवन्द्यः श्रमः) पृथ्वी पर वन्द्यनीय मुनिधर्म पालन करने का परिश्रम (वृथा एव) व्यर्थ ही (जायते) होगा।

ततोऽस्तु निर्विकल्पं मे दीक्षणं क्षणभङ्गुरे।
एतदेव यतः सारं संसारे साधुसत्तम ॥७६॥

अन्वयार्थ–(ततः) इसलिए (साधुसत्तम!) हे साधुओं में उत्तम! (क्षणभङ्गुरे संसारे) क्षणभङ्गुर संसार में (एतत् एव) इतना ही (सारं) सार है (यतः) कि (मे) मेरी (निर्विकल्पं) निर्विकल्प (दीक्षणं) दीक्षा (अस्तु) हो।

संविग्नस्य निशम्येति वचस्तस्य महामुनिः।
यथाभीष्टं महाबुद्धे! क्रियतामिति सोऽब्रवीत् ॥७७॥

अन्वयार्थ–(संविग्नस्य) संसार के दुःखों से भयभीत संवेगी-विरागी (तस्य वचः) उस जिनदत्त के वचन को (निशम्य) सुनकर (महामुनिः) महामुनि (इति) इस प्रकार (अब्रवीत्) बोले (महाबुद्धे!) हे महामते! (यथाभीष्टं) जैसा आपको अभीष्ट हो (सः) वह (क्रियताम्) किया जाये।

अत्रान्तरे ब्रवीत्येष स्वमित्रं मतिकुण्डलम्।
पुत्रेभ्यो दीयतां भद्र! यथायोग्यं पदं लघु ॥७८॥

अन्वयार्थ–(अत्रान्तरे) इसी बीच में (एषः) इस जिनदत्त ने (मतिकुण्डलम्) मतिकुण्डल

गया हो ॥७३॥ इसलिए हे जगतपूज्य! अब मेरे ऊपर कृपाकर प्रसन्न होइए क्योंकि विवेकरूपी मणिमय दीपक के प्राप्त हो जाने पर प्रमाद करना ठीक नहीं है ॥७४॥ नाथ! आपने जो गृहस्थों के धर्म को ही मेरे लिए उपादेय और पालनीय बतलाया है एवं उसी से अभीष्ट सिद्धि हो जाने का जो धैर्य दिया है, सो यदि सच है, तो आपका यह जो तप है वह व्यर्थ ही समझा जायेगा ॥७५॥ इसलिए हे साधु श्रेष्ठ! क्षणभंगुररूप संसार में सारभूत जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट जैनतप की दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए ॥७६॥ मुनिराज ने सचमुच ही अतरंग से विरक्त हुए, जिनदत्त से जब ये वाक्य सुने तो कहा-हे भव्य! तुम्हारा कहना ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा है। उसी के अनुसार कार्य करो ॥७७॥

नामक (स्वमित्रं) अपने मित्र को (ब्रवीति) कहा (भद्र !) हे भद्र ! (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिए (लघु) शीघ्र ही (यथायोग्यं) योग्यता अनुसार (पदं) पद को (दीयतां) दिया जाये ।

तेनाहूता समस्तास्ते प्रणम्योपाविशन्पुरः ।
योगिनं पितरं सर्वे ज्येष्ठमूचे पिता ततः ॥७९॥

अन्वयार्थ–(तेन) उस मतिकुंडल के द्वारा (ते समस्ताः) वे सभी पुत्र (आहूता) बुलाये गए वे (योगिनं) मुनिराज को (पितरं) और पिता को (प्रणम्य) प्रणाम करके (सर्वे) सभी (पुरः) सामने (उपाविशत्) बैठ गए (ततः) उसके बाद (पिता) पिता ने (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ पुत्र को (ऊचे) कहा ।

जानात्येव भवान् वत्स पूर्वक्रममुदारधीः ।
तपस्यति यथा तातो न्यस्य स्वं सर्वमात्मजे ॥८०॥

अन्वयार्थ–(उदारधीः) उदार बुद्धि वाले (वत्स) हे पुत्र ! (भवान्) तुम (पूर्वक्रमं) पूर्वक्रम को (जानाति एव) जानते ही हो (यथा) जैसा कि (तातः) पिता (सर्व स्वं) सभी धन को (आत्मजे) पुत्र के ऊपर (न्यस्य) रखकर (तपस्यति) तप करता है ।

अतोऽहं त्वयि विन्यस्याधिपत्यमिदमादृतम् ।
विदधामि तपः पुत्र ! विधेया स्वगृहस्थता ॥८१॥

अन्वयार्थ–(पुत्र !) हे पुत्र ! (अतः) इसलिए (अहं) मैं (इदं) इस (आधिपत्यम्) आधिपत्य को (त्वयि) तुम्हारे ऊपर (विन्यस्य) रखकर (आदृतम्) आदरणीय महनीय (तपः) तप को (विदधामि) धारण करता हूँ, तुम्हें (स्वगृहस्थता) अपना गृहस्थधर्म (विधेया) स्वीकार करना चाहिए ।

आत्मवत्पालयेरेतान् सर्वदैवानुजन्मनः ।
प्रकृतींश्च समस्तांस्त्वं विरक्ता जातु मा कृथाः ॥८२॥

अन्वयार्थ–(सर्वदा एव) सदा ही (एतान्) इन सभी (अनुजन्मनः) अपने छोटे भाइयों को (आत्मवत्) अपने समान (पालयेः) पालन करना (च) और (समस्तान्) सभी (प्रकृतीन्) प्रजा को (त्वम्) तुम (जातु) कभी भी (विरक्ता) विरक्त (मा कृथाः) मत करना ।

मुनिराज की आज्ञा पाकर जिनदत्त ने अपने मित्र मतिकुण्डल से यथायोग्य अपने पुत्रों को पद देने को कहा ॥७८॥ तदनुसार मति कुण्डलमित्र द्वारा समस्त पुत्र बुलाये गए और वे योगीराज व पिता को प्रणाम कर, पिता जिनदत्त के पास बैठ गए, ज्येष्ठपुत्र को लक्ष्यकर उन्होंने कहा ॥७९॥

प्रिय पुत्र ! तुम्हारी बुद्धि उदार है, तुमको यह मालूम भी है कि पुत्र के समर्थ हो जाने पर पिता, कुटुम्ब के पालन-पोषण का अपना समस्त भार, उस पर रखकर, वन में जाकर तप तपता है ॥८०॥

यह पूर्व से चला आया क्रम है, कि पिता के दायित्व को पुत्र वहन करता है, इसलिए तुम अब सब तरह से समर्थ हो गए हो, तुम्हें अपना सब भार सुपुर्द कर, मैं तप तपना चाहता हूँ, आशा है तुम इसे स्वीकार करोगे और अपनी गृहस्थी का कामकाज सब तरह ठीक-ठीक चलाओगे ॥८१॥

ये जो तुम्हारे छोटे भाई हैं, उन्हें अपने ही समान मानकर आराम से रखना । जो समस्त नौकर-चाकर और कुटुम्बीजन हैं, उन्हे राजी-खुशी रखना उन्हें अपने से विरक्त न होने देना ॥८२॥

परित्यज्य समस्तानि कार्याणि च विशेषतः ।
कर्म धर्म्यं स्वयं भद्र कुर्याः स्वार्थहितः सदा ॥८३॥

अन्वयार्थ–(भद्र !) हे भद्र ! (च) और (समस्तानि) समस्त (कार्याणि) कार्यों को (परित्यज्य) छोड़कर (विशेषतः) विशेषरूप से (सदा) निरंतर (स्वार्थहितः) आत्मकल्याण की भावना में तत्पर होते हुए (स्वयं) अपने आप (धर्म्यं कर्म) धार्मिक कार्य को (कुर्याः) करते रहना ।

ततस्तातमुवाचाऽसौ वक्तुमेवं न युज्यते ।
यतो भुक्ता त्वया सम्पन्-मातेव मम सर्वथा ॥८४॥

अन्वयार्थ–(ततः) उसके बाद (असौ) उस सुदत्त ने (तातं उवाच) पिता को कहा (एवं) इस प्रकार (वक्तुं) कहना (न युज्यते) योग्य नहीं है (यतः) क्योंकि (त्वया) तुम्हारे द्वारा (भुक्ता) भोगी गई (सम्पत्) संपत्ति (सर्वथा) सब प्रकार से (मम) मुझे (माता इव) माता के समान है ।

शास्ति तातः सुतं श्रेयः श्रुतिरेषा कृतान्यथा ।
त्वया मोहतमश्छन्नं मार्गं दर्शयता मम ॥८५॥

अन्वयार्थ–तथा (तातः) पिता (सुतं) पुत्र को (श्रेयः) कल्याणमय (शास्ति) शासन का उपदेश देता है किन्तु (मम) मेरे लिए (मोह-तमश्छन्नं) मोहरूपी तिमिर से आच्छादित (मार्गं) मार्ग को (दर्शयता) दिखाने वाले (त्वया) आपने (एषा) यह श्रेयस्कारी (श्रुतिः) सुना गया उपदेश (अन्यथा) अन्य प्रकार से (कृता) किया गया है ।

सन्ति पुत्रास्तवाऽन्येऽपि कस्मैचिद्दीयतां ततः ।
अहं च साधयिष्यामि त्वत्समीपे निजं हितम् ॥८६॥

अन्वयार्थ–(तव) तुम्हारे (अन्ये अपि) अन्य भी (पुत्राः) पुत्र (सन्ति) हैं (ततः) इसलिए (कस्मैचित्) किसी के लिए भी गृहस्थी का भार (दीयतां) दिया जाये (च) और (अहं) मैं (त्वत्समीपे) आपके समीप में ही (निजं हितम्) अपने हित को (साधयिष्यामि) सिद्ध करूँगा ।

इत्यादिकं वदन्शेष-मित्र-तातादिभिर्बहु ।
बोधितः प्रतिजग्राह जनकस्य पदं तदा ॥८७॥

अन्वयार्थ–(इत्यादिकं) इस प्रकार से (वदन्) कहने वाले उस कुमार को (शेष-मित्र-

---

संसार के चाहे और काम रह जायें, पर धार्मिक-कार्यों में कभी भी आलस न करना, उनको नियत समय से शास्त्रानुसार करते ही रहना ॥८३॥ पिता की यह आज्ञा सुन, पुत्र ने निवेदन किया कि, हे पूज्य आपने जो कुछ मुझे आज्ञा दी है वह उचित नहीं है क्योंकि जो सम्पत्ति तुमने भोगी है, वह मुझे माता के समान अग्राह्य है ॥८४॥ पिता-पुत्र को अच्छी हितकर सीख देता है ऐसी किंवदंती है पर आज मुझे वह आपने मोहरूपी अंधकार से वेष्टित मार्ग बतलाकर विपरीत कर डाली ॥८५॥ आपके अन्य भी बहुत से पुत्र हैं, कृपाकर उनमें से किसी को यह पद दीजिए और मैं आपके समीप रहकर अपना हित सिद्ध करूँगा ॥८६॥ ज्येष्ठपुत्र का यह निवेदन सुन, अन्य बंधु-बांधवों ने उसे बहुत

तातादिभिः) शेष मित्र एवं पिता आदि के द्वारा (बहु) बहुत (बोधितः) समझाया (तदा) तब उस कुमार ने (जनकस्य पदं) पिता के पद को (प्रतिजग्राह) ग्रहण किया ।

देशकोशादिकं तस्मै राज्यालंकृतिभिः समम् ।
अभिषेकं विधायाशु ददौ तत्र महोत्सवे ॥८८॥

अन्वयार्थ—(तत्र) वहाँ पर (महोत्सवे) महोत्सव में (तस्मै) उस कुमार के लिए (राज्यालंकृतिभिः) राज्य अलंकारादि के (समं) साथ (अभिषेकं विधाय) अभिषेक करके (देशकोशादिकं) अनेक देश व कोश आदि को (आशु) शीघ्र (ददौ) प्रदान किया ।

अन्येषां च तनूजानां यथायोग्यं प्रदाय सः ।
सर्वाः सम्भावयामास प्रकृतीः कृत्यकोविदः ॥८९॥

अन्वयार्थ—(कृत्यकोविदः) करने योग्य कार्य में चतुर पंडित (सः) उस जिनदत्त ने (अन्येषां) अन्य (तनूजानां) पुत्रों को (यथायोग्यं) यथायोग्य पद आदि (प्रदाय) देकर (च) और (सर्वाः प्रकृतीः) सम्पूर्ण प्रजा को (संभावयामास) संतुष्ट किया ।

वसन्ततिलका छन्दः

कान्तास्ततो विगतरागविशुद्धबुद्धिः प्रोवाच चारुचरिताहितचित्तवृत्तिः ।
रागेण रोषवशतो रतिकैतवेन मानेन मुग्धमनसा मदनेन यच्च ॥९०॥
प्रोक्ताश्चिरं तदखिलं क्षमये त्रिधाहं श्रुत्वेति ताश्चरणमूलगताः समूचुः ।
क्षान्तं समस्तमपि नाथ ! सदास्मकाभिः[१] क्षम्यं त्वयाऽपि सकलं च दुरीहितं नः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(ततः) उसके बाद (विगतरागविशुद्धबुद्धिः) राग रहित होने से विशुद्धबुद्धि वाला (चारुचरिताहितचित्तवृत्तिः) सुंदर चरित्र में लगी हुई चित्तवृत्ति वाला जिनदत्त (प्रोवाच) बोला (कान्ताः) हे पत्नियों (रागेण) राग से (रोषवशतः) रोष के वश से (रति-कैतवेन) प्रेम के छल से (मानेन) मान से (मुग्ध-मनसा) विमोहित मन से (च) और (यत्) जो (मदनेन) कामवासना से (अहं) मैंने (प्रोक्तः) कहा हो (तत्) वह (चिरं) चिरकालीन (अखिलं) संपूर्ण अपराध (त्रिधा) त्रियोग से (क्षमये) क्षमा करें (इति श्रुत्वा) इस प्रकार सुनकर (चरणमूलगताः) चरणों के मूल को प्राप्त (ताः) वे स्त्रियाँ (समूचुः) बोलीं (नाथ) हे नाथ ! (अस्मकाभिः) हमारे द्वारा (समस्तं क्षान्तं) सभी

समझाया और तब कहीं पिता का पद उसने लेना स्वीकार किया ॥८७॥ इसके बाद उसका अभिषेक किया गया है और देश, कोष/खजाना, राज्य, अलंकार आदि समस्त संपत्ति विधि के अनुसार प्रदान की गई ॥८८॥ उस जिनदत्त ने अन्य पुत्रों को यथायोग्य पद देकर और करने योग्य कार्य में चतुर पंडित उसने सम्पूर्ण प्रजा को संतुष्ट किया ॥८९॥ जिनदत्त ने अपनी स्त्रियों को भी उस समय कुछ कहना उचित समझा और वैराग्य युक्त चित्त वाले उसने राग-द्वेष की भावना से रहित होकर कहा-पत्नियों ! जब से विवाह हुआ है, तब से लेकर आज तक जो मैंने तुम्हारे साथ राग से, द्वेष से, क्रोध से, मान से, मुग्ध मन से और अन्य किसी कारण से कुछ कहा हो या दुष्ट व्यवहार किया हो उसे क्षमा करो । मैंने तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा कर दिये हैं। अपने पति जिनदत्त के उपर्युक्त वचन सुनकर

---

१. अस्माभिरित्यर्थः "स्वार्थे कः" ।

अपराध क्षमा किए गए (च) और (नः) हमारी (त्वया) तुम्हारे द्वारा (सकल-दुरीहितं) सभी कुचेष्टाएँ (क्षम्यं) क्षमा करने योग्य हैं।

वसन्ततिलका छन्दः

संपृच्छ्य सर्वमिति लोकमलोलचित्तो यत्रैव चन्दनतरुस्तत एव सर्पः।
शिश्राय साधुपदवीं सुहृदा समेतः संवेगशुद्धहृदयैरपरैश्च भद्रैः ।।९२।।

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (अलोलचित्तः) स्थिर चित्त वाले जिनदत्त ने (सर्वं लोकं) सभी लोगों को (संपृच्छ्य) पूंछकर (संवेग-शुद्ध-हृदयैः) संवेग से शुद्ध हृदय वाले (भद्रैः) भद्र परिणामी (अपरैः) अन्य मनुष्यों (च) और (सुहृदा) मित्रों के (समेतः) साथ (साधुपदवीं) साधु की मुद्रा का (शिश्राय) आश्रय लिया (ततः यत्र) क्योंकि जहाँ (चन्दन-तरुः) चंदन का वृक्ष होता है (तत्र एव) वहाँ ही (सर्पः) सर्प रहता है।

शमदमयमसक्ता, गेहवासे विरक्ताः सितसिचयपदेन[1]प्रावृता वा स्वपुण्यैः।
जिनपतिपदमूले, ता बभूवुर्विरक्ता[2]स्तदनु विशदचित्तास्तस्य कान्ताः समस्ताः ।।९३।।

अन्वयार्थ—(तदनु) उस जिनदत्त के पीछे (तस्य) उसकी (शम-दम-यम-सक्ताः) कषाय-शांति, इन्द्रिय दमन, जीवनपर्यन्त व्रतों को धारण करने में आसक्त (गेहवासे विरक्ताः) गृहवास में विरक्त (विशद-चित्ताः) निर्मल चित्त वाली (समस्ताः कान्ताः) सभी पत्नियाँ (स्वपुण्यैः) अपने पुण्य से (प्रावृता वा) ढकी हुईं के समान (सितसिचयपदेन) सफेद वस्त्र वाले पद/आर्यिकारूप से (जिनपतिपदमूले) जिनेन्द्र भगवान के चरण सान्निध्य में (विरक्ताः वभूवुः) विरक्त/दीक्षित हो गईं।

श्रुतं समस्तं विधिनाङ्गपूर्व-प्रकीर्णकाख्यं समधीत्य सम्यक्।
गुरोः समीपे तपसां निवासः, स धर्मदानेन ननन्द पृथ्वीम् ।।९४।।

अन्वयार्थ—तथा (अंगपूर्व-प्रकीर्णकाख्यं) अङ्गपूर्व प्रकीर्णक नामक (समस्तं श्रुतं) संपूर्ण श्रुत को (गुरोः समीपे) गुरु के पास में (विधिना) विधिपूर्वक (सम्यक्) अच्छी तरह (समधीत्य) पढ़कर (तपसां निवासः) तप के निवास (सः) उन जिनदत्त मुनि ने (धर्मदानेन) धर्मोपदेश के द्वारा (पृथ्वीं) पृथ्वी को (ननन्द) आनंदित किया।

उसकी स्त्रियों ने भी पैरों में पढ़ हाथ जोड़कर कहा नाथ! हम लोगों ने वह सब क्षमा कर दिया, आप भी हमारा सब अपराध क्षमा कर देने की कृपा करें ।।९०,९१।। दृढ़चित्त कुमार ने सम्पूर्ण बन्धु-बान्धवों से क्षमा कराकर आज्ञा ली। सच ही है जहाँ चंदन का वृक्ष होता है, विषधर सर्प भी वहीं रहता है। अतएव उसने अन्य सभी संवेगधारी भव्यजनों के साथ शुद्धभाव से जिनदीक्षा धारण की ।।९२।। पति जिनदत्त को दीक्षित देख उसकी स्त्रियाँ भी गृहवास से विरक्त हो गईं, उनका चित्त विषय-वासना से शांत होकर इन्द्रियों के निग्रह करने में आसक्त हो गया और तदनुसार जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुरक्त हो, वैराग्ययुक्त आर्यिका हो गईं ।।९३।। मुनि जिनदत्त निरतिचार तप तपने लगे, उन्होंने गुरु के समीप अङ्गपूर्व प्रकीर्णक शास्त्र अच्छी तरह पढ़े और फिर पृथ्वी पर भ्रमण कर धर्मोपदेशरूपी मेघवर्षा से संसार के तप्त प्राणियों को तृप्त करने लगे ।।९४।।

---

१. पटेन। २.....र्विमुक्ता।

शार्दूलविक्रीडित वृत्तं

कुर्वाणो भववारिराशितरणं तीव्रं तपः कारणं।
सम्यक् सिद्धिसुखस्य संयमनिधि-र्धात्रीं विहृत्यागमत्।
सम्मेदं मुदिताशयो मुनिजनैः सार्द्धं विबुध्यात्मनः।
प्राप्तं प्रान्तमशेषदोषशमनीं कृत्वा च सल्लेखनाम्॥९५॥
तत्राराध्य चतुर्विधां स विधिना सारां तदाराधनां।
त्यक्त्वा तीव्रतमैस्तपोभिरधिकं नीत्वा तनुत्वं तनुम्।
कल्पेऽनल्पसुखालये समभवत् सम्यक्त्वरत्नाश्रितो।
देवो दिव्यविलासिनीजनमनो - माणिक्यचौरोऽष्टमो॥९६॥युगलं॥

अन्वयार्थ–(भववारिराशितरणं) संसाररूपी समुद्र को पार करने वाले (सिद्धिसुखस्य) मोक्षसुख के (सम्यक्) समीचीन (कारणम्) कारण (संयमनिधिः) संयम की खान स्वरूप (मुदिताशयः) प्रसन्न हृदय वाले जिनदत्त मुनिराज (मुनिजनैः) मुनिराजों के (सार्द्धं) साथ में (धात्रीं) पृथ्वी पर (विहृत्य) विहार कर (सम्मेदं) सम्मेदशिखर को (अगमत्) प्राप्त हुए (च) और (आत्मनः विबुध्य) ज्ञानी आत्मा ने आत्मा को जानकर (प्रान्तं प्राप्तं) अंतिम समय में प्राप्त होने वाली (अशेषदोषशमनीं) सम्पूर्ण दोषों का शमन करने वाली (सल्लेखनाम्) सल्लेखना को (कृत्वा) करके (तत्र) वहाँ पर (सः) उन जिनदत्त मुनिराज ने (विधिना) विधिपूर्वक (सारां) सारभूत (चतुर्विधां) चार प्रकार की (तदाराधनां) उन आराधनाओं को (आराध्य) आराध कर (तीव्रतमैः तपोभिः) अतितीव्र तपों के द्वारा (अधिकं) अधिक (तनुत्वं) कृशता को (नीत्वा) प्राप्त कर (तनुम्) शरीर को (त्यक्त्वा) छोड़कर (अनल्प-सुखालये) अत्यधिक सुख के स्थान (अष्टमे कल्पे) आठवें स्वर्ग में (सम्यक्त्व-रत्नाश्रितः) सम्यग्दर्शन- रूपरत्न से सुशोभित (दिव्यविलासिनीजनमनोमाणिक्यचौरः) मनोहर देवाङ्गनाओं के मनरूपी मणि को चुराने वाला (देवः) देव (समभवत्) हुआ।

वसन्ततिलका वृतः

अन्ये विशुद्धमतयो यतयः समस्ताः स्वर्गे गताः परिणते-रुचिते निजायाः।
प्रान्ते समाधिमधिगम्य मुदाप्सरोभिः सङ्कल्पिताखिलसुखावहकान्तचेष्टाः॥९७॥

अन्वयार्थ–(विशुद्धमतयः) विशुद्ध बुद्धि वाले (अन्ये) जिनदत्त के अन्य साथी (समस्ताः

संसाररूपी समुद्र से पार कर देने में प्रधान कारण तीव्र तप को निरतिचार पालते हुए, मुनि जिनदत्त बहुत से मुनियों के साथ सम्मेदाचल पर पधारे और वहाँ अपना अंतिम समय समझकर समस्त दोषों को नष्ट करने वाली सल्लेखना धारण की। उस समय उन्होंने सारभूत चार आराधनाओं की आराधना की और कठिन-कठिन तपों से कृश हुए शरीर को छोड़कर, सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से सुशोभित वह जिनदत्त का जीव बड़े भारी सुख के खजानेरूप आठवें स्वर्ग में देवाङ्गनाओं के मनरूपी मणि को चुराने वाला देव हुआ॥९५,९६॥ विशुद्ध बुद्धि वाले जिनदत्त के अन्य साथी समस्त मुनि अपने योग्य परिणामों के अनुसार अंतिम समय में समाधि को प्राप्त कर स्वर्ग में गए। वहाँ

यतयः) समस्त मुनि (निजायाः) अपने (परिणतेः) परिणामों की योग्यता से (प्रान्ते) अंतिम समय में (समाधिं अधिगम्य) समाधि को प्राप्तकर (उचिते स्वर्गे) योग्य स्वर्ग में (मुदा अप्सरोभिः) हर्षपूर्वक प्रसन्न अप्सराओं के साथ (सङ्कल्पिताखिलसुखावहकान्तचेष्टाः) संकल्प मात्र से पूर्ण सुख को प्राप्त सुंदर चेष्टाओं वाले (गताः) हुए।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तं

कृत्वा सारतरं तपो बहुविधं शान्ताश्चिरं चार्यिकाः।
कल्पं तास्तमवापुरेत्य सकला दत्तो जिनादिर्गतः।
यत्रासौ सुखसागरान्तरगतो विज्ञाय सर्वेऽपि तेऽ।
न्योन्यं तत्र जिनादिवन्दनपराः प्रीताः स्थितिं तन्वते ॥९८॥

अन्वयार्थ–(च) और (चिरं) चिरकाल तक (सारतरं) सारभूत (बहुविधं) बहुत प्रकार के (तपः) तप को (कृत्वा) करके (ताः) वे (सकलाः) सभी (आर्यिकाः) आर्यिकाएँ (एत्य) आकर (यत्र) जहाँ पर (असौ) यह (जिनादिः दत्तः) जिनदत्त (गतः) गया था (तम् कल्पं) उस स्वर्ग को (अवापुः) प्राप्त हुईं और (ते) वे (सर्वे अपि) सभी (अन्योन्यं विज्ञाय) परस्पर में एक-दूसरे के संबंध को जानकर (जिनादिवन्दनपराः) जिनेन्द्र भगवान की वंदना आदि में तत्पर (सुखसागरान्तर-गताः) सुखसागर के मध्य को प्राप्त होते हुए (स्थितिं) आयु/जीवन को (प्रीताः) प्रीतिपूर्वक (तन्वते) बिताने लगे।

आनंदपूर्वक प्रसन्न अप्सराओं के साथ संकल्प मात्र से पूर्ण सुख को प्राप्त सुंदर चेष्टाओं वाले हुए ॥९७॥ जिनदत्त की स्त्रियाँ जिन्होंने आर्यिका के देशव्रत/अणुव्रत–ग्यारह प्रतिमारूप समग्र आचरण को धारण किए थे, वे सारभूत नाना प्रकार के तप का आचरण कर, उसी आठवें स्वर्ग में देव हो गईं, जहाँ पर कि जिनदत्त का जीव पहले से उत्पन्न हो चुका था, वे वहाँ अवधिज्ञान के बल से एक-दूसरे के अपने पहले भव का संबंध जानकर बहुत ही आनंदित हुए और वे सभी जिनधर्म का यह सब प्रभाव देखकर उसी के आचरण में चित्त लगाने लगे, ये वहाँ अन्य तपों का अभाव होने से केवल जिनपूजा आदि को भक्ति से पूर्ण मन हो प्रतिदिन करने लगे ॥९८॥

इति श्रीभगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते जिनदत्तचरित्रे नवमः सर्गः ॥९॥

इस तरह श्रीयुत् भगवान् गुणभद्र आचार्य प्रणीत जिनदत्त चरित्र में नवमाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

कारंजा ग्रंथालय से प्राप्त प्रति में ९९वाँ श्लोक अधिक है जो प्रतिलेखक की तरफ से लिखा हुआ जान पड़ता है–

अत्र प्रमाणं प्रक्षितं समस्त-ग्रन्थस्य पिण्डीकृत वृत्त-राशेः।
ज्ञेयं सहस्त्रं सहितं नवत्या निस्संशयं विद्वद्भिरमुष्यसारं ॥९९॥

अर्थात्–एकत्रित अनुष्टुप् छन्द समूह की अपेक्षा इस समस्त शास्त्र का प्रमाण विद्वानों के द्वारा एक हजार नब्बे प्रसिद्ध/संशय रहित जानना चाहिए।

दिन गुरुवार को वी. नि. संवत् २५३५ में चन्द्रोदय धाम तेजगढ़ दमोह में जिनदत्त चरित्र का अन्वयार्थ मुनि श्री मार्दवसागर व ब्र. डॉ. राजेन्द्र जैन दर्शनाचार्य द्वारा पूर्ण हुआ। समाप्त २५-६-२००९